प्रसादोत्तर कालीन नाटकों में संघर्ष की स्थितियाँ

(प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि के लिए प्रस्तुत)

●

शोध - प्रबन्ध

●

निर्देशक

डा० रघुवंश

रीडर

हिन्दी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

●

प्रस्तुतकर्त्री

कु० भूपेन्द्र कलसी

एम० ए०

●

हिन्दी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

मार्च, १९७१ ई०

अनुक्रम

अपनी बात

नाट्य-कला की एक रचनात्मक अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में जब भी सोचा है, तो कहीं पढ़ी हुई एक कविता-पंक्ति की ये पंक्तियां याद आई हैं -- "Time, the endless idiot, runs screaming 'round the world" (अर्थात् शाब्दिक अर्थ में अन्तहीन समय, जगत में अपने प्रचण्ड घोष के साथ निरन्तर बीतता जाता है।) और लगा है कि किन्हीं विशिष्ट नाटकों में समय का ऐसा ही निरन्तर, प्रचण्ड और उद्वेलनमय प्रवाह रहता है, जो कि मानवीय जीवन के एक पूर्ण अनुभव की गहराई और सूक्ष्मता से अभिव्यक्त करने के लिए कलाकार को बाध्य करता आया है। अनुभव की गहराई जो प्रवाहित अन्तहीन समय से उपजी है और अभिव्यक्ति जो उस अनुभूति की रचनात्मक प्रस्तुति है, आन्तरिक लयात्मक स्वर संगति में समस्त कलाओं से श्रेष्ठ बन जाती है। लयात्मक स्वर-संगति का संचरण और श्रेष्ठ संयोजन प्रत्यावर्तन में बन्दी समय का ऐसा प्रस्तुतीकरण बन जाता है जो कि चिन्तन को उद्बुद्ध कर एक सूक्ष्म संवेदना को उभारता है, जिसमें मानवीय अनुभूतियाँ उदात्त या उद्वेलित हो जाती हैं। समय का प्रवाह अपनी आन्तरिक उद्वेलनमयी जटिलता के कारण नाट्य साहित्य में बन्दी बनता है, भावक को इतिहास और भविष्य का गतिमान और सजीव चित्र देता है, जो जीवन तो है, पर केवल जीवन नहीं, जीवन का कलात्मक स्वरूप, गतिमान, जीवन्त, परिवर्तनशील और इसी कारण संघर्षपूर्ण। संघर्ष के माध्यम से अपने और कृतित्व के अन्दर की एक नई क्षमता पहचान में आती है, एक रचनात्मक शक्ति का अनुभव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाट्य गति और क्रियाशीलता में अपनी रचनात्मक सार्थकता को प्राप्त करता है, और गति नाटक के मूल में परिव्याप्त रहकर नाटक में संघर्ष की परिकल्पना को जन्म देता है। नाटक संघर्ष की परिकल्पना के कारण 'कलाओं' में श्रेष्ठ मान लिया जाता है और तब नाट्य में संघर्ष की स्थितियों पर अध्ययन की आवश्यकता अनुभव होती है, जो हिन्दी नाट्यालोचन का

परम्परा से अलग होने का दुराग्रह नहीं पर आज समसामयिक संदर्भ में उसकी आवश्यकता का आग्रह है ।

नाटक में संघर्ष की परिकल्पना पश्चिम की देन रही है । अरस्तु ने कार्य को नाट्य का प्राणतत्व मानते हुए उसे व्यापक भाव-भूमि दी था, तो उसके सामने ग्रीक त्रासदी का उदाहरण था । ग्रीक त्रासदी में दो शक्तियों के बीच का द्वन्द्व नहीं है, पर वहाँ प्रत्येक शक्ति अपने में दो विरोधी तत्वों को लिए हुए है, ये विरोधी तत्व बाह्य दबाव, दैवीय, के सन्तुलन में उद्वेलित होते हैं । दूसरे शब्दों में त्रासदी में संघर्ष की परिकल्पना इस रूप का निर्वाह करती है कि सभी न्याय संगत या दोषमुक्त हैं पर वास्तव में कोई भी न्यायी वहाँ नहीं है । अन्तर्व्याप्त करुणा और भय के बीच उद्वेलित किया जाता भावक पूर्ण नाटक में संघर्ष के तनाव को अनुभव करता है, ओदि-पस या एण्टीगान के प्रत्यक्ष द्वन्द्व को नहीं । किन्तु जब परवर्ती आलोचकों ने अरस्तु के कार्य को जो संघर्ष, तनाव और गति के तत्वों को पोषित करता है, संघर्ष (Conflict) के रूप में व्याख्यायित किया तो यह कार्य संघर्ष (Conflict), संक्रान्ति (Crisis), द्वन्द्व (Struggle), विरोध (up against) की परिभाषाओं और व्याख्याओं में संघर्ष की उस परिकल्पना से असंख्य प्रकार के द्वन्द्वों के रूप में व्याख्यायित हुआ । त्रासदी (tragedy) को कल्पना में रखते हुए भी व्याख्या और विश्लेषण एक आदर्श नाटक के तत्वों, गति और द्वन्द्व, (शब्द किन्तु प्राय: Conflict ही रहा) में हुई । कामू[१] को उद्धृत करें तो कहना होगा कि पश्चिम में क्राइस्ट के बाद वास्तविक त्रासदी के लिए वातावरण ही नहीं रहा था, क्योंकि उसके अनुसार केवल धर्म और केवल बुद्धि में त्रासद कल्पना सम्भव नहीं होती। त्रासद कल्पना तभी सम्भव होती है, जब व्यक्ति पूर्ण आशा में भी सन्देह को लेकर चलता है । अर्थात् अपनी समस्त उपलब्धियों पर अभिमान करते हुए भी उनकी अर्थहीनता के भय को चेतन-अचेतन में कहीं अनुभव करता है । देखा जाय तो युग में ऐसा वातावरण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही प्रस्तुत होता है, जब धर्म और बुद्धि से सम्पृक्त व्यक्ति की सारी शक्तियाँ प्रत्यावर्तन में मनुष्य मात्र के लिए सन्देह और निराशा के बोध को तीखा करती हैं । इस कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का पश्चिमी नाट्य साहित्य

---

१ 'लिरिकल एण्ड क्रिटिकल' पुस्तक देखिए

रचनात्मक परिकल्पना में ग्रीक त्रासदी की ओर प्रत्यावर्तित होता है, नाटक में कार्य
की परिकल्पना भी ग्रीक त्रासदी की ओर उन्मुख होती है, जहाँ संघर्ष का तात्पर्य
रहा है, पूर्ण नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष न कि सामान्य अर्थ में दो पात्रों या
पात्र की इच्छाशक्ति की स्थितियों या घटनाओं से [illegible] । पश्चिम की इतनी लम्बी
नाटकीय परम्परा, (सौफोक्लीज से, लगभग ४४२ ई०पू०, अब तक) जो स्थूलत: कार्य
के संघर्ष-प्रति-संघर्ष के प्रारूप में रखी जा सकती है, के आधार पर हिन्दी नाट्य
साहित्य की सौ वर्षों की ऊबड़-खाबड़ रूप से चली आ रही परम्परा को उस नाटकीय
तत्त्व के माध्यम से आँकना जो भारतीय नाट्य शास्त्र की देन न रही हो, सम्भवत:
दुराग्रह ही प्रतीत हो, पर नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष तत्त्व एक अनिवार्य तत्त्व है,
क्योंकि रचनात्मक स्तर पर संघर्ष अन्तर्भुक्त तत्त्व है । नाट्य कहने से एक रचनात्मक
कला की अनुभूति होती है, यह अनुभूति जो भावक को सूक्ष्म रूप से प्रभावित कर उद्वेलित
करती है और प्रत्यावर्तन में भावक की प्रतिक्रिया में अपनी अन्तिम सार्थकता पाती है ।
गति उसका प्राण है, केवल बाह्य मार-पीट के अर्थ में नहीं, पर नाटक की संरचना-
त्मकता में अन्तर्निहित गति जिसे पढ़ते हुए या देखते हुए केवल पढ़ा और देखा ही नहीं
जाये पर प्रत्येक मस्तिष्क के कैनवेस पर उसे निर्मित होते अनुभव किया जा सके । इधर
'नटरंग' के माध्यम से भी प्राय: ऐसे लेख पढ़ने को मिले हैं, जिनमें नाट्य को रचनात्मक
पक्ष पर आँकने का आग्रह किया गया है । प्रबुद्ध-प्रबुद्ध नाट्य-धर्मियों की यह माँग
नि:सन्देह इस बात का आग्रह है कि आलोचना के स्तर पर अब नाटकों को रंगमंचीय
परिप्रेक्ष्य में उनकी रचनात्मक सार्थकता को देखना ही रंगमंच के लिए स्वस्थ दृष्टिकोण
देगा । फिर प्रसादोत्तर काल के नाटकों में भारतीय भाव-भूमि तो नहीं छूटी किन्तु
परम्परित नाट्य-विधान अवश्य छूट गया । 'अंधा युग' या 'आषाढ़ का एक दिन'
में सम्भवत: दुराग्रहपूर्वक 'रस' दिखाया भी जा सके, किन्तु भुवनेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा
विपिन अग्रवाल के नाटकों में ऐसा बिलकुल सम्भव नहीं है । हिन्दी नाट्य-साहित्य
प्रसाद के बाद जिस भी थोड़े-बहुत रूप में सामने आया है, उसके अवलोकन पर कृतित्व
पक्ष की बदलती मान्यताएं बाध्य करती हैं कि उन्हें साहित्यिक-भाव-भूमि की अपेक्षा
रंगमंच की कलात्मक वैज्ञानिक भाव-भूमि पर आँका जाये । पश्चिम के नाटकों की समृद्ध
परम्परा के समानान्तर हिन्दी नाट्य-परम्परा को रखना दुराग्रह होगा, इसलिए

चाहते हुए भी इस शोध-प्रबन्ध में ऐसा नहीं किया गया है । पर यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि पश्चिम ने नाटकों को गति और रचनात्मकता अर्थात् संघर्ष के कारण जो विशिष्टता दी है, वह विशिष्टता आज नये अन्दाज़ में विकसित होते हिन्दी नाट्य में है या नहीं । इसका कारण संघर्ष तत्व की परिकल्पना सीमित संकुचित दायरे में बंधी नहीं है, अपितु अपनी व्यापकता में पूर्ण नाटक की रचनात्मकता को लेकर चली है । इस प्रकार शोध प्रबन्ध का ताना-बाना, 'नाट्य रचनात्मक क्रिया व्यापार है,' के इर्द-गिर्द बुना गया है और उसकी सार्थकता अन्तर्निष्ठ क्रियाशीलता में मानी गई है, जो अन्ततः संघर्ष है, विरोध और तनाव है, प्रत्येक नाटकीय उपकरण में है और मूलतः नाटकीय परिकल्पना में है ।

इस आधार पर प्रारम्भिक स्तर पर जीवन और कला के उद्गम तथा विकास में संघर्ष की प्रवृत्ति को अन्तर्निहित दिखाकर जीवन और कला के संघर्ष को कलाकार के सर्जनात्मक संघर्ष से सम्बद्ध किया गया है । द्वितीय स्तर पर संघर्ष के सिद्धान्त पक्ष को उठाया गया है और जिन सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है, उन्हीं के आधार पर नाटकों के क्रमशः विश्लेषण का प्रयास हुआ है ।

विश्लेषण के प्रथम सोपान 'युग संवेदना, नाटककार एवं नाटक' के परिप्रेक्ष्य में महत्त्व युग और नाटककार के मनोमन्थन को दिया गया है और यह देखने का प्रयास किया गया है कि युग संवेदना कहाँ तक या किस स्तर पर रचनात्मक कृति के मूल में अन्तर्निहित रहती है । यहाँ भारतेन्दु से प्रारम्भ करने का उद्देश्य केवल यह देखना है कि क्यों हमारी नाट्य-परम्परा का विकास एक परिपक्व विकास का रूप नहीं ले सका और कैसे धीरे-धीरे हिन्दी नाट्य का रूप बदलता गया है । यहाँ स्थूल और संक्षिप्त रूप में कुछ ऐसे नाटकों का विश्लेषण कर दिया गया है, जो संघर्ष की दृष्टि से कुछ उपलब्ध नहीं करा पाते हैं ।

'वस्तु-निर्माण' के सन्दर्भ में नाटक की कथा की अपेक्षा उस कथा को निर्मित करने वाली स्थितियों या घटनाओं के संयोजन तथा उनके संयोजन से संघर्ष की सम्भावनाओं पर प्राथमिक दृष्टि से विचार किया गया है । इसी प्रकार 'पात्र निर्माण' के अन्तर्गत पात्रों के चारित्रिक विकास की अपेक्षा, व्यक्तिगत तथा पूर्ण नाटकीय व्यापार के परिप्रेक्ष्य में, उनके कार्य पर विचार हुआ है तथा 'नाटकीय संवेदना का निर्माण और

प्रभाव' के परिप्रेक्ष्य में नाटकीय संवेदना के संयोजन और उसके रचनात्मक प्रभाव पर मनन करने का प्रयास है। इसी सन्दर्भ में भुवनेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा, विपिन अग्रवाल आदि के नाटकों को उनकी आन्तरिक संवेदनीय कलात्मकता के कारण लिया गया है। 'नई परम्परा के नाटक' कहकर उन्हें किसी नाम से विभूषित करने का उद्देश्य नहीं रहा है, केवल विश्लेषण की सुविधा के लिए ऐसा किया गया है।

इन तीनों प्रमुख सोपानों में क्रमश: एक नाटक का संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में रचनात्मकता को उसके कलागत भाव-सम्प्रेषण को महत्त्व दिया गया है। इसी आधार पर 'वस्तु-निर्माण' में जो नाटक अत्यन्त शिथिलता की अनुभूति देते हैं, उन्हें 'पात्र निर्माण' के सन्दर्भ में छोड़ दिया गया है तथा 'नाटकीय संवेदना' के सन्दर्भ में केवल उन कुछ नाटकों की चर्चा की गई है, जिनमें नाटकीय संवेदना का संश्लिष्ट रूप में कलागत रचनात्मकता की अनुभूति देती है।

'रंगभाषण' के सन्दर्भ में नाटक की भाषा को केवल माध्यम की अपेक्षा सर्जनात्मक भाषा के रूप में स्वीकार कर नाटकीय सन्दर्भ में उसके महत्त्व को देखा गया है। इसके अलावा देखा जाय तो नाटक की रचनात्मकता अभिनेता, दृश्यांकन, प्रकाश, संगीत, वेशभूषा तथा प्रेक्षक द्वारा भी पोषित होती ह, किन्तु यहां अपनी सीमाओं के कारण उनको केवल स्पर्श ही किया गया है। वस्तुत: रंगमंच के इन शेष उपकरणों को समग्रता से देखने के लिए स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध की आवश्यकता होगी।

इस सम्पूर्ण विचार-विवेचन में कठोर गुरु किन्तु स्नेहिल अभिभावक, मेरे श्रद्धेय गुरु डा० रघुवंश, रीडर, हिन्दी विभाग, का पग-पग पर मिला निर्देश ही मेरी शक्ति रहा है। उनके अमूल्य विचार-विमर्श ने निराश होते मन को उत्साहित किया है, विशृंखलित होते विचारों को सही दिशा का अनुसरण कराया है, और मेरे मानस-चक्षुओं को खुलने का अवसर दिया है। कार्य समापन के इस क्षण में 'धन्यवाद' शब्द मुझे बहुत साधारण प्रतीत होता है और शब्दों का अभाव यह बोध देने लगता है कि धन्यवाद की इस औपचारिकता में मन का वास्तविक कुछ कभी व्यक्त नहीं हो पायेगा।

कुछ ऐसी ही असमर्थता तब भी अनुभव होती है जब मैं श्रद्धेय प्रो० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, की अनुकम्पाओं के प्रति अपनी कृतज्ञता को आभार प्रदर्शन को

भाषा में बांधना चाहती हूं । इस विश्वविद्यालय की शोध-विद्यार्थी होने का सौभाग्य मुझे उन्हीं की अनुकम्पा से मिला । इन तीन वर्षों के अनन्तर उन्होंने मुझे आर्थिक और अनेक प्रकार की दूसरी सुविधाएं प्रदान कर हार्दिक रूप से मेरे कार्य की प्रगति की कामना कर, सदा मुझे प्रोत्साहित किया है ।

डा० कामिल बुल्के मेरे पूजनीय हैं और उन्होंने ही रांची से विदा वेला को एक संध्या को अपने 'मायके' के सब्ज़ बाग दिखाकर शोध करने की प्रेरणा मुझे दी थी और फिर बीच-बीच में अपने 'मायके' आकर मेरी अच्छी खोज-खबर भी ली है । वस्तुत: मेरा यह कार्य इसी पूजनीय, कर्मठ धर्मपिता को समर्पित है । आदरणीय डा० हरदेव बाहरी और डा० सिद्धनाथ कुमार की मैं विशेष आभारी हूं, जिन्होंने मुझे विषय-चुनाव में विशेष सहायता दी थी और बाहरी जी का वह अविस्मरणीय 'बेटी' सम्बोधन इलाहाबाद विश्वविद्यालय से शोध-कार्य करने की इच्छा को दृढ़ता दे गया था । मैं पं० रामहित जी त्रिपाठी की हृदय से आभारी हूं, जिन्होंने अल्पावधि में उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से इस शोधप्रबन्ध का टंकण कार्य सम्पन्न किया है ।

राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता, ब्रिटिश काउन्सिल, रांची , पूजनीय बुल्के जी के व्यक्तिगत पुस्तकालय, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की मैं विशेष अनुगृहीत हूं, जहां से आवश्यक पुस्तकें मुझे उपलब्ध होती रही हैं और राष्ट्रीय पुस्तकालय में मिले उन विद्वानों के प्रति भ मैं आभारी हूं, जिनके साथ यदा-कदा चर्चा करते हुए अनेक महत्वपूर्ण बातों या पुस्तक का ज्ञान मुझे हुआ है ।

और इन सब के साथ मैं अपने सभी बन्धु-बान्धवों को कदाचित् नहीं भूल सकती, जिनक अगाध स्नेह और सहयोग मुझे मिला है । इन अपनों के प्रति आभार प्रदर्शन करूं तो ये नाराज़ होतेहैं और कुछ भी न कहूं, ऐसा भी नहीं हो पाता, अत: क्षमायाचना सहित मन की बात कहने का साहस कर लिया है ।

मार्च १५, १९७१ई०

(कु० भूपेन्द्र कलसी)

प्रथम परिच्छेद : संघर्ष का स्वरूप

सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि में संघर्ष

व्यक्ति एवं प्रकृति

व्यक्ति एवं समाज

संस्कृति में संघर्ष

मूल्यों में संघर्ष

व्यक्ति का संघर्ष

कला में संघर्ष

कलाकार एवं सर्जनशीलता

रचनात्मक प्रक्रिया में संघर्ष

कलाओं के उद्भव एवं विकास में संघर्ष : नृत्य

नाट्य : उद्भव में संघर्ष

नाट्य : विकास में संघर्ष

उपसंहार

"वस्तुओं में यह तत्व रूप से अन्तर्निहित है कि सफलता की किसी भी सिद्धि से, चाहे वह जिस भी स्तर की हो, अधिकाधिक संघर्ष की आवश्यकता नि:सृत होती है।"

-- वाल्ट व्हिटमैन

प्रथम परिच्छेद

-0-

संघर्ष का स्वरूप

सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि में संघर्ष

अनुभूति के द्वन्द्व से प्राणी के जीवन का आरम्भ होता है । जिस प्रकार कलाकार की कला उसके मन के द्वन्द्व की प्रतीक है, उसी प्रकार विश्व के श्रेष्ठ कलाकार ईश्वर की यह सृष्टि-रचना उसके मन का संघर्ष ही तो है । सारा ब्रह्माण्ड और उसकी प्रकृति, समाज और संस्कृति, व्यक्ति और उसका जीवन संघर्ष के कूलों से टकराता अग्रसरित होता चलता है । जीव और जगत् का उन्नति, गति और प्रगति संघर्ष में ही है । संघर्ष वह शाश्वत नियम है, जो सारे ब्रह्माण्ड को उसके अस्तित्व को बनाये रखता है । व्यक्ति जब तक संघर्ष करता है, तब तक जीवित कहलाता है, और उसकी निष्क्रियता की स्थिति मृत्यु हो जाती है । प्रकृति जब तक संघर्ष के वृत्याचक्र में प्रत्यावर्तन करती है, तभी तक वह उपयोगी है, अन्यथा उपेक्षणीय बन जाती है । अपने-अपने स्वरूप में दोनों पूर्ण हैं । यह पूर्णता अनेक आकारों, जो अपनी गतिशीलता के कारण नये स्वरूप निर्मित करते हैं की नियमबद्ध प्रगति से आबद्ध रहती है । व्यक्ति कितना भी अन्तर्मुखी क्यों न हो, उसकी चेतना उसे बहिर्मुखी होने को प्रेरित करती है, उसका एकांगी जीवन परिवर्तन-वृत्त की गतिशीलता की कामना करता है, परिवेश और परिस्थिति के नव रूप की अभ्यर्थना करता है, और प्रकृति, अपने गौरवमय, सौन्दर्यमय एवं भव्य रूप में भयंकर विनाशकारी रूप भी धारण करती है । प्रकृति यदि रंगमंच देती है तो उसपर व्यक्ति अभिनय करता है । एक पीढ़ी- युवा पीढ़ी जब अभिनय कर रही होती है तो

दुसरी पीढ़ी-बीती या वृद्ध-उस अभिनय को देखता है और उसकी आलोचना करता है । रंगमंच के पीछे तीसरी पीढ़ी,जो युवा पीढ़ी का स्थान लेने के लिए अपने विकास-काल में होती है-- उस अभिनय एवं आलोचना को देखती तथा सुनती है । युवा पीढ़ी द्वारा स्थापित मुल्यों में से वह अपने अभिनय के लिए कुछ मुल्यों का चुनाव कर लेती है । जब यह तीसरी पीढ़ी प्रकृति-प्रदत्त रंगमंच पर उतरती है,तब पहली पीढ़ी प्रेक्षक एवं आलोचक बनती है तथा अपने द्वारा स्थापित मुल्यों की नवीन व्याख्या का विरोध करती है । यह क्रम चलता रहता है । यही जीवन है । जीवन का सत्य, उद्देश्य कार्य और परिणाम इसी संघर्ष में है । गीता का कर्म और जीवन का संघर्ष एक-दुसरे से बहुत दुर नहीं, रुपाकार में भले ही भिन्न हों । एक जीवन को निष्काम कर्म की शिक्षा देता है और दुसरा उद्देश्य सामने रखकर व्यक्ति को संघर्ष की प्रेरणा देता है । एक व्यक्ति को जीवन का महत्त्व समझा-कर कर्म की महत्ता की व्याख्या करता है और दुसरा जीवन की जटिलताओं का निराकरण कर संघर्ष की अनिवार्यता सिद्ध करता है । सारी रचनात्मक क्रिया-प्रक्रिया के मुल में ब्रह्माण्ड और व्यक्ति का व्यक्तिगत तथा पारस्परिक संघर्ष निहित है, वे एक-दुसरे पर आघात तो करते हैं,प्रभावित भी करते हैं ।

व्यक्ति एवं प्रकृति का संघर्ष // प्रकृति और व्यक्ति एक-दुसरे के पूरक हैं । इनके पारस्परिक सम्बन्ध पर आज तक पर्याप्त चर्चा हुई है । हिब्रू साल्मिस्ट ने सदियों पूर्व लिखा था कि --" हे ईश्वर, तुमने व्यक्ति को अपने से थोड़ा नीचा बनाया और उसे प्रसिद्धि एवं सत्कार का ताज पहनाकर, अपने हाथों से रचित ब्रह्माण्ड पर शासन करने के लिए उसे छोड़ दिया और सभी वस्तुयें उसके पैरों पर न्यौछावर कर दी ।"[1] यह एक विचार था । दुसरा विचार 'एक्लीज़िएट्स' के सुचीपत्र लेखक ने प्रकट किया था --" जो भी व्यक्ति पर घटित होता है, वही जानवर पर भी । व्यक्ति पशु से कहीं भी श्रेष्ठ नहीं है ... सभी मिट्टी हैं और सभी मिट्टी में वापिस जायेंगे ।"[2] यह व्यक्ति के

---

१ बेसिक एस०ई० फ्रास्ट जू० :"बेसिक टीचिंग्स् आफ़ द ग्रेट फ़िलासफ़र्स" पृ०५३
२ ,, ,, ,, पृ०५८

प्रति नितान्त निराशावादी सिद्धान्त रहा है । व्यक्ति कुछ नहीं, शक्ति विहीन, प्राक् प्रतिष्ठा विहीन दु:खभरा 'कीड़ा' है । उसका जीवन 'व्यथा का रूप है', 'आंसुओं और यातनाओं से अवगुंठित है ।' वह सहता है, संघर्ष करता है और ब्रह्माण्ड की शक्ति द्वारा नष्ट कर दिया जाता है । कुछ ने आशावादी सिद्धांत रख व्यक्ति को सर्वेसर्वा माना । कहीं व्यक्ति से ब्रह्माण्ड की यात्रा हुई और कहीं ब्रह्माण्ड से व्यक्ति तक की, किन्तु प्रत्येक अवस्था में ब्रह्माण्ड व्यक्ति के संबंध में आया हो । ब्रह्माण्ड और जीव की, किसी भी वस्तु या स्थिति के प्रति, प्रतिक्रिया या परिवर्तन नियम एक ही समान हैं । जैसा व्यक्ति-मस्तिष्क तर्क करता है, वैसा ही ब्रह्माण्ड भी । व्यक्ति की इच्छा और प्रकृति की इच्छा दोनों रचनात्मक प्रक्रिया के मुल हैं । सारा ब्रह्माण्ड अपने संक्षिप्त रूप में व्यक्ति में निहित है । व्यक्ति एक प्रारूप है, ब्रह्माण्ड उसका कार्यान्वियन । अन्तर इतना ही है कि प्रकृति की निर्माण-प्रक्रिया अचेतन रूप में स्वाभाविकता से होती रहती है, किन्तु व्यक्ति उसपरिवर्तन को अनुभव करता है, उसकी चेतनता बनी रहती है । हीगेल ने व्यक्ति में किसी भी वस्तु के प्रति तर्क-संगत प्रक्रिया को स्वीकार किया[1] । उसका विश्वास है कि व्यक्ति कोई सिद्धान्त (थीसिस) रखता है, जैसे युद्ध एक बुराई है । फिर उसका संश्लेषण (एन्टी थीसिस) प्रस्तुत करता है कि युद्ध एक अच्छाई है । फिर उसका संश्लेषण (सि: थीसिस) कि युद्ध से उत्पन्न बुराइयों के अलावा उससे कुछ नये मुल्य भी स्थापित होते हैं । परिवर्तन जीव और जगत् का सार्वभौम नियम है। जल बदल कर बर्फ बन जाता है, हवा आंधी में बदल जाती है, कली फूल और फल में, यह गति प्रत्येक वस्तु में रहती है; यहां तक कि अत्यन्त ठोस दिखायी देने वाली वस्तु भी संघर्षमय आयामों से गुजरती है । वैज्ञानिक सत्य है कि एक विशाल भूमिखण्ड के क्रमश: परिवर्तन से द्विपों का निर्माण हुआ[2] । यह सारा ब्रह्माण्ड एक

---

१ एस०ई० फ्रास्ट जु० :'बेसिक टीचइन्गस् आफ् ग्रेट फ़िलासफ़:सं', पृ०७१

२ पैटरिक एम०हरले द्वारा लिखित लेख : 'साइंटिफ़िक अमेरिकन(अप्रेल६८), पृ०५३

ऐसे नियम में बंधा हुआ है कि जैसे ही कोई भी रचना होती है, वैसे ही उसके विनाश की प्रक्रिया भी आरम्भ हो जाती है । बर्गसां[1] के अनुसार यह प्रकृति गतिमान, विकसनशील एवं जीवित वस्तु है । पदार्थ को व्यवस्थित करने की इच्छा रचनात्मक शक्ति को बांधती है । वह ब्रह्माण्ड को 'रचनात्मक क्रान्ति' मानता है । जिससे नया सर्जन होता है । क्योंकि मैं यह रचनात्मक प्रक्रिया स्वयं को पदार्थ से स्वतन्त्र कर अलग रूप लेती है । इस मण्डल पर व्यक्ति के जीवन का पूर्ण विकास--अनेक अवरोधों द्वारा -- आवश्यक सर्जनात्मक शक्ति तक पहुंचने का प्रयास है ।

प्रकृति सदैव रचनात्मक कार्य किया करती है । वह आवश्यकता से कहीं अधिक उत्पादन करती है । इस अतिशय उत्पादन में से वह श्रेष्ठ, योग्य और गुणात्मक को चुनकर उसका पोषण करती है, तथा शेष को नष्ट हो जाने के लिए छोड़ देती है[2] । प्रकृति का यह चुनाव सदैव श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर, योग्य से योग्यतर की ओर अग्रसर होता है । डार्विन[3] विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए बताता है कि प्राकृतिक चुनाव ने मनुष्य के शारीरिक, बौद्धिक, भौतिक तथा सामाजिक विकास में योगदान दिया है । वह आगे कहता है कि अन्य जानवरों की भांति व्यक्ति भी संख्या में, जीवन निर्वाह के साधनों की सीमा की अपेक्षा बढ़ना चाहता है और यहीं उसका जीवन के अस्तित्व के लिये संघर्ष प्रारम्भ होता है[4] । जैविक विज्ञान इस सत्य को स्थापित करता है[5] कि प्रकृति केवल वातावरण ही नहीं देती है, अपितु वह व्यक्ति के आन्तरिक परिवर्तन में भी सहायक होती है । जार्ज सन्तायन[6] के अनुसार वास्तविक ब्रह्माण्ड व्यक्ति के

----

१ एस०ई० फ्रास्ट, जूनियर : 'बेसिक टीचिंग्स आफ ग्रेट फिलासफर्स', पृ०५१

२ ए०एम० विनचेस्टर : 'बाइऑलॉजि एंड इट्स रिलेशन टू मैनकाइण्ड' पृ०१४-१६

३ *एडवर्ड पेबल : 'दे स्टडिड मैन--*ए० डारविन', पृ० ३०

४ ,, ,, ,, पृ० २६

५ ए०एम०विनचेस्टर : 'बाइऑलॉजि एंड इट्स रिलेशन टू मैनकाइन्ड', पृ०१३

६ 'एस०ई० फ्रास्ट, जू० : 'बेसिक टीचिंग्स आफ ग्रेट फिलासफर्स', पृ० ५२

अनुभवों की भव्यता तथा सम्पूर्णता के सहयोग का ब्रह्माण्ड है । इसमें हम विज्ञान के नियम पाते हैं तथा सत्य, शिव और सुन्दर की कामना करते हैं । आधुनिक विज्ञान हमें इस तथ्य को अस्वीकार नहीं करने देता कि वास्तविक संसार वही है जो वैज्ञानिक पाता है । किन्तु यह भी सत्य है कि मात्र वैज्ञानिक द्वारा अन्वेषित ब्रह्माण्ड ही सत्य नहीं है, इस ब्रह्माण्ड में व्यक्ति मस्तिष्क, उसकी इच्छायें, आशायें, भय, प्रेम और घृणा, स्वप्न तथा पराजय भी है । उसके लिए यह ब्रह्माण्ड संघर्ष का रंगस्थल है, स्वप्न और यथार्थ का, इच्छा तथा सर्जन का । अतः ब्रह्माण्ड अपने अन्तः एवं वाह्य रूप में चिरन्तन है । अन्तः एवं व वाह्य रूप में सामन्जस्य स्थापित करने में व्यक्ति को निरन्तर होना पड़ता है । इस प्रक्रिया में कहीं वह अपनी इच्छाओं और भावों के अधीन है और कहीं प्रकृति-शक्ति के । कोई भी चेतन संगठन अपने वाह्य जगत् से तभी सम्बन्ध स्थापित कर पाता है, जब जीव (सैल्स्) एवं अणु (पार्टीकल्स्) के बीच अन्तर्सम्बन्ध हो[१] । यदि व्यक्ति की आन्तरिक योग्यता वाह्य स्थितियों द्वारा प्रताड़ित होती है तो वह विद्रोह करता है ।

व्यक्ति एवं समाज का संघर्ष / व्यक्ति अपने परिवेश से इस रूप में संघर्ष करता चलता है कि वह उससे अधिक-से-अधिक सुयोग्यता को प्राप्त कर सके । व्यक्ति के ये परिवेश एवं गौरव की लालसा उसे सामाजिक जीव बनाते हैं । जब पहली बार, मिल के अनुसार[२], एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति के प्रति पारस्परिक सम्बन्ध एवं शान्ति की कामना की होगी, उसी दिन समाज की नींव पड़ी होगी । यह समाज विभिन्न समुदायों एवं समूहों का समन्वय एवं संगठन है । प्रत्येक समूह के अपने रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार और नियम होते हैं । व्यक्ति जिस समुदाय से सम्बन्धित रहता है, उस समुदाय की विचारधारायें उसमें गहरे स्थान बनाये रहती हैं । समुदाय-विशेष

----

१ जी० मरफी : 'एन इनट्रॅडक्शन टू साइकॉलॉजि' , पृ० १३

२ वुडब्रिज रैले : 'मैन एण्ड मारल्स्' , पृ० ३६०

का व्यक्ति कितना भी अपने समूह की रूढ़ियों, रीति-रिवाजों से बचना चाहे, पर वे अचेतन में अवश्य ही अपना अस्तित्व बनाये रखता है । क्योंकि जब वाह्य जगत् के सम्पर्क में आता है तो उसके अपने ये संस्कार वाह्य सत्यों को स्वीकार नहीं कर पाते । वाह्य सत्य के रूप में व्यक्ति चेतना में आने वाले सामाजिक तथ्य आन्तरिक होने का प्रयत्न करते हैं और मनुष्य यदि इन वाह्य सत्यों को स्वीकार कर लेता है तो भी वह उन्हीं तथ्यों को अपने समुदाय में प्रकट करता है जो उसकी (समुदाय की) विचार-धारा के अनुकूल होते हैं, या समुदाय की रीतियों में अपना स्थान बना सकने योग्य होते हैं ।

व्यक्ति-विशेष अपने में एक समाज लेकर चलता है । उसका यह आभ्यंतर समाज ही वाह्य समाज से टक्कर लेता है । इस टकराहट से उत्पन्न आयाम व्यक्ति को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं । मनुष्य परिवर्तनों को उतना सहजता से स्वीकार नहीं करता, जितना उसके प्रति प्रतिक्रिया करता है । किसी भी परिस्थिति के अनुरूप स्वयं को ढालने में वह बाधायें उपस्थित किया करता है[१] । वह उन्हीं परिवर्तनों में सहायक होता है, जिनसे उसे स्वयं कुछ श्रेष्ठ प्राप्त हो रहा हो । हक्सले तथा हाब्स[२] के अनुसार आदिम पुरुष का जीवन निरन्तर युद्ध का था । प्रत्येक व्यक्ति सभी प्राकृतिक तथा कृत्रिम बाधाओं से अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत था । अस्तित्व के संघर्ष ने व्यक्ति को नितान्त भ्रमण और आखेट के जीवन से पशुपालन एवं खेती बाड़ी का जीवन दिया था, और एक स्थान पर बसने की आवश्यकता ने समाज को । समाज के अस्तित्व में आने से व्यक्ति का व्यक्ति के विरुद्ध युद्ध[३] नियंत्रित हो गया, जिससे एक की स्वतन्त्रता दूसरे की स्वतन्त्रता का हनन् ना करे ।'

---

१ जी० मरफी : 'एन इन्ट्रॉडक्शन टू साइकॉलॉजि', पृ० ५४६

२ वुडब्रिज रैले : 'मैन एंड मारल्स', पृ० ३६०

३ ,, ,, पृ० ३६०

सामाजिक विकास के सिद्धांत में ही कुछ ऐसे मूल तत्व होते हैं,जो समाज के वर्गीकरण का कारण बनते हैं । प्रमुख कारण आर्थिक,राजनैतिक,धार्मिक हो सकते हैं ।भारतीय सभ्यता के विकास में ऋग्वैदिक कालीन समाज में भी कुछ ऐसी परिस्थितियां आयीं, जिनसे पृथक्-पृथक् वर्गों का जन्म प्रारम्भ हो गया था । डॉ॰ गैटवेल के अनुसार एकता और सम्बन्धों की दृढ़ता के लिये जिस धर्म का आह्वान् उन्होंने किया था,उसके अनुष्ठान बड़े ही विस्तृत एवं दुरूह थे[१] । इन क्रिया-कलाप को पूरा करने के लिए पुरोहित वर्ग बना । देश की अन्त: एवं[२] वाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के लिए शक्तिशाली पुरुषों का वर्ग क्षत्रिय कहलाया[३] । समाज का आर्थिक व्यवस्था सम्हालने वाले वैश्य[४] तथा सेवा करने वाले कालान्तर में दास[५] मान लिये गये । वस्तुत: यह वर्गीकरण जातिगत न होकर व्यवसायगत था । यदि कहा जाये कि कार्यवितरण मात्र था तो अत्युक्ति न होगी,किन्तु आगे चलकर यही वर्ग-व्यवस्था वर्ण व्यवस्था के रूप में बदल गयी, जिसने व्यक्ति और समाज के चिरन्तर संघर्ष को जन्म दिया । एक वर्ग स्वयं को दूसरे वर्ग से अधिक सम्पन्न तथा ऊँचा समझने लगा । आर्थिक स्थितियों से यह विषमता और भी आती गयी । आर्थिक मूल्यों ने इन चार वर्णों को भी सम्पन्नता की दृष्टि से अमीर-गरीब तथा मध्यवर्ग में विभाजित कर दिया । यद्यपि कुछ विद्वान् इसे व्यक्ति की अव्यवहारिक एवं अपरिपक्व बुद्धि का उपज मानते हैं[६] । सभ्यता के प्रथम सोपान तक पहुंचते-पहुंचते मनुष्य में अर्थ-संचय और अर्थ-प्रदर्शन की भावना जागृत हो चुकी थी । समाज में आदर पाने का मानदण्ड वैभव मान लिया गया था । मानव-जाति विज्ञान के महान् पथ-प्रदर्शक फ्रैंज बॉस ने केनकर आयर्लैंड के इंडियन के वर्णन में बताया कि किस तरह ये लोग एक-दूसरे पर अपना प्रभुत्व

----

१ डा० बेनीप्रसाद :`हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता`,पृ०४२-४३

२ `ऋग्वेद` [illegible]

३,४,५ रामधारी सिंह`दिनकर` :`संस्कृति के चार अध्याय`,पृ०५३.

६ जॉन दिवे : `ह्यूमन नेचर एण्ड कॉनडक्ट` ,पृ० ३

स्थापित करने के लिए धन को जलाया करते थे[१]। आर्थिक स्वतन्त्रता--जो पाशविक रूप से गलत एवं नाश वाले रास्ते पर चला गया था, तथा सेनाशक्ति--जो अस्त्र-शस्त्रों से लैस थी,[२] प्रत्येक व्यक्ति को कबीलों में बांध सका था। कुछ यह मानकर चलते हैं कि धर्म, राजनीति, साहित्य, विज्ञान आदि किसी न किसी रूप में आर्थिक मूल्यों से प्रभावित होते ही हैं[३]। बारूद और जटिल कूटनीतियों के आविष्कार तथा यातायात के जल, थल साधनों की प्रगति के साथ ही आर्थिक आत्मनिर्भरता समाप्त हो गयी, और 'बाजार', जिसमें चीजों का लेन-देन मोल-भाव है-- अस्तित्व में आया। प्राचीन व्यवस्था के टूटने से अन्य देशों में ही नहीं अन्तर्राष्ट्र में भी व्यापार बढ़ा, जिसने एक प्रकार की वाणिज्य क्रान्ति ला दी। इस क्रान्ति ने समाज को 'तीक्ष्णता, मितव्ययिता, सावधान परियोजनाएं, सुदूरभविष्य के तत्वों पर चिन्तन[४] जैसे मूल्य दिये तथा सामाजिक आचार-विचार को प्रभावित किया[५]।

व्यक्ति टूटते संयुक्त परिवारों के कारण और भी एकांगी हो रहे थे। सारे जीवन में व होड़-सी लग गयी। आगे बढ़ने, ऊंचे उठने, आत्मरक्षा करने की ही प्रतियोगिता ने जीवन को हार और जीत के मापदंडों में बदल दिया। ऐसे बहुत कम विवेकशील व्यक्ति रह गये, जो अपनी एवं सामाजिक स्थिति को विवेकपूर्ण रूप में ग्रहण कर चलते। शौर्य एवं वाणिज्य के इस संघर्ष ने तर्कवाद, व्यवहारिकता, आत्मसंयमता को प्रमुखता दी। व्यक्ति तर्क को महत्व देने लगा और सभी प्रश्नों का उत्तर वह तर्क से पाने की चेष्टा में विश्वास करने लगा। तर्कशील प्रणाली की प्रवीणता के साथ गणित एवं ज्योतिषशास्त्र सामने आया, जिसने व्यक्तिगत देवता का सामना

---

१ वुडब्रिज रैले : 'मैन एंड मौरल', पृ० ५२०

२ जी० मरफी : 'एन इनट्रॅडॅक्शन टु साइकॉलॉजि', पृ० ५४०

३ ,, ,, ,, पृ० ५२१

४ ,, ,, ,, पृ० ५०१

५ 'धन, व्यापार तथा वाणिज्य आधुनिक चिन्तन को बदलने के व्यापक (आयाम) रहे हैं'

--जॉन हरमन रानडल : 'मेकइन्ग आफ़ दी माडर्न माइन्ड', पृ०११३

करने के लिए सप्रयोजन विश्व के बदले क्रमश: स्थ्यांत्रिक विश्व दिया ।[१]
वाणिज्य क्रान्ति का अनुसरण औद्योगिक क्रान्ति ने किया । विद्युत शक्ति से चलायी जाने वाली बड़ी-बड़ी मशीनों के उत्पादन एवं प्रयोग से अच्छा, सस्ता और अधिक मात्रा में समान मिलने लगा । औद्योगिक क्रान्ति ने अव्यक्तिगत शक्तियों जैसे आधुनिक सहयोग, को प्रोत्साहित किया जिस हेतु स्वार्थ रहित, सर्वसाधारण के लिए उत्पादन बढ़ा तथा धन का प्रबन्ध सुरक्षित हाथों में आया । किन्तु औद्योगिक उन्नति ने व्यक्ति जीवन का भी यंत्रीकरण कर दिया । मनुष्य की बुद्धि मशीनों के बटन दबाने और कलपुर्जों की गति देखने में ही लग गया । इस क्रान्ति ने व्यक्तिवाद, व्यवहारिकता, विज्ञान, बुद्धिवाद आदि को प्रभावित किया । देखा जाये तो जब कभी भी आर्थिक प्रणाली में कोई प्रमुख अन्तर आता है--धन का उत्पादन तथा वितरण एक विभिन्न प्रकार के ढंग से किया जाता है-- तो निश्चित रूप से परिवार, धर्म, कला एवं विज्ञान उससे प्रभावित होते हैं । आर्थिक स्तर पर कोई भी अन्यतम नया प्रारूप राजनीतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों में नये मुल्य देता है । फिर भी यह सोचना अधिक सार्थक लगता है कि परिवर्तन चाहे कितने भी क्षीण या प्रकट क्यों न हों, सभी कारणों को छूते चलते हैं । ये सभी कारण एक-दूसरे से गहरायी से सम्बद्ध होते हैं । सभी सामाजिक पहलू इतने अन्तर्निहित हैं कि कोई एक स्थिति किसी परिवर्तन का कारण नहीं हो सकती, किसी क्रान्ति की मुख्य प्रेरणा भले ही हो ।

प्रयोगाश्रित साध्य के प्रति आधुनिक आदरपूर्ण व्यवहार के विकास के लिए पुनर्जागरण काल में सर्वप्रथम कदम उनके उठाये गये । विकसनशील प्रणाली का

----

१ "... आधुनिक विज्ञान भौतिकी है, जब कि मध्ययुग का विज्ञान एक ही साथ कम किन्तु महत्वपूर्ण नैतिक विज्ञान था। मात्र नैतिकता के साथ, व्यक्ति अच्छाई को प्यार कर सकता है, पर उसे पा नहीं सकता, और मात्र भौतिक विज्ञान के साथ व्यक्ति पूरा संसार पा सकता है, किन्तु अपनी आत्मा खो देता है ।"

-- जॉन हरमन रानडल [illegible] : 'मैकिंग आफ दी माडर्न माइन्ड' पृ० १००

यह महान् युग मध्य युग एवं आधुनिक युग के बीच का संक्रान्ति काल है । नये आविष्कार, वाणिज्य, यातायात में सुविधा, विज्ञान का विस्तार, प्राचीन ग्रन्थों की खोज आदि से सामान्य प्रभाव 'हियर आफ्टर' से 'हियर-एंड-नाउ' में बदलने की प्रक्रिया में जा रहा था । गणित, ज्योतिष, भौतिकी जैसे विज्ञान ब्रह्माण्ड का कहीं अधिक यथार्थवादी चित्र प्रस्तुत कर रहे थे । अन्त:क्षोभ की प्रक्रिया में नये विचारों का क्षेत्र तो बहुत व्यापक हो रहा था, किन्तु व्यवस्थित कुछ भी न था । विज्ञान के इस विकास ने इन हमारे मस्तिष्क का पुनर्व्यवस्थापन किया, जिससे प्राचीनकाल में अतिरिक्त विशेष समझे जाने वाले चिन्तन के आयाम अब शिक्षित समाज में फैल रहे थे[1] । सामाजिक जीवन केवल शारीरिक सम्पोषण को ही नहीं, मानसिक क्षुधा को भी पोषित करता है । नये आविष्कृत समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, अर्थशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञान, मानव विज्ञान आदि व्यक्ति की मानसिक प्यास बुझाने तथा उसे वैज्ञानिक दृष्टि देने लगे[2] । फलत: व्यक्ति ने अतीत, वर्तमान तथा भविष्य के अन्त: और बाह्य का संश्लेषण प्रस्तुत कर नवीन रूपों की स्थापना प्रारम्भ की । इसी समय मुद्रण के आविष्कार ने चिन्तन क्षेत्र में क्रान्ति का उद्घाटन किया । मौखिक रूप से विचारों का आदान-प्रदान जितना कठिन और मन्द गति वाला था उतना ही अब द्रुतगामी एवं सहज सुलभ हो गया । इस सारे संघर्षमय वातावरण ने कुछ विशेष उल्लेखनीय विशेषताएं, धर्मयुद्ध, राष्ट्रीय राज्यों का उद्भव, विभिन्न धर्मसमूहों की स्थापना, देशों की खोज, बारूद यंत्र शस्त्र आदि का आविष्कार आदि हमारे सामने रखी ।

संस्कृति में संघर्ष प्रत्येक युग की सांस्कृतिक दृष्टि अपने में कुछ नया लेकर चला करती है । रामायण काल का आदर्श महाभारत काल में व्यर्थ सिद्ध हुआ । एक युग की सीता और दूसरे युग की द्रौपदी एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं । वैदिक काल और उत्तरवैदिककाल की ही सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियां

---

१ ए०एन०वाइट हैड : 'साइन्स एंड माडर्न वर्ल्ड', पृ० ३

२ ,, ' माडर्न युरोप', पृ० १०१

एक युग के मूल्य को नकारते चलते है । एक युग जीवन के आनन्द, ऐश्वर्य, भोग किन्तु नैतिक तथा आदर्शपूर्ण स्थितियों को प्रस्तुत करता है, तो उसके बाद का ही दूसरा युग जीवन से विरक्ति, उसकी दु:खपूर्णता की चर्चा बारम्बार कर निराशावाद, तप, असमय वैराग्य, सन्यास जिज्ञासु अध्येता जैसे मूल्यों को स्थापित करता है । ज्ञानलिप्सा के जागते ही व्यग्रता के अनेकानेक मार्ग खुलते हैं तथा बौद्धिक चेतना अनेक धर्मों एवं दर्शनों को जन्म देती है[1] । व्यक्ति का बौद्धिक चिन्तन जब नये आयामों को देता है, तो तत्कालीन रीति-रिवाज, आचार-प्रचार उनसे प्रभावित होते हैं तथा धीरे-धीरे उन्हें ग्रहण भी करते चलते हैं । एक निश्चित विकास के बाद चिन्तन का प्रभाव समाज में स्पष्ट दिखाई देने लगता है और संस्कृति में वह प्रभाव महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है ।

समाज द्वारा अधिकृत परिस्थितिजन्य क्षेत्र में किसी भी प्रकार का परिवर्तन संस्कृति के सन्तुलन को अस्त-व्यस्त कर देता है । किसी भी राष्ट्र का सांस्कृतिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब दो नितान्त भिन्न सभ्यताएं एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो सारी सामाजिक व्यवस्था में एक प्रकार की अव्यवस्था दिखाई देती है, क्योंकि एक-दूसरे के आचार-विचारों को ग्रहण करने और स्वीकार करने की स्थिति में से ही, अपने लचीलेपन के कारण बहुत कुछ स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर लिया जाता है । इसमें सन्देह नहीं कि ग्रहणात्मक प्रवृत्ति कहीं अधिक सुविधा तथा सुरक्षा के सिद्धांतों के प्रति होती है । सामाजिक परिस्थितियां इस द्वन्द्व में बहुत महत्त्व रखती हैं, क्योंकि उन्हीं के आधार पर व्यक्ति की आवश्यकताएं घटती-बढ़ती हैं तथा उन्हीं की वजह से अच्छाइयों तथा बुराइयों का अनुपात घटता-बढ़ता रहता है । समाज की निरन्तर युद्धकालीन परिस्थितियों ने स्त्रियों की सुरक्षा के लिए बाल-विवाह तथा सती प्रथा को जन्म दिया था और मुगलों के प्रभाव ने पर्दा-प्रथा को । इसी तरह ---------------------------------------

---

१ रामधारी सिंह 'दिनकर' : 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० १०७, १०८, ११६ ।

अंग्रेजों के निकट सम्पर्क ने नारी को पुनः प्रकाशमान किया । कोई भी संस्कृति अपने लचीलेपन में अधिक विकसित होती है[१]। धर्म को देखें तो पता चलेगा कि आर्यों का वैदिक धर्म इसीलिए विकसित नहीं हो पाया था, क्योंकि उसके अनुष्ठान अधिक जटिल थे । ईसाई धर्म अपने अत्यधिक लचीलेपन के कारण जिस भी देश में गया वहीं का होकर रह गया । भारतीय ईसाई आज हिन्दुधर्म के रीति-रिवाजों या विधि से क्राइस्ट का पूजन करते हैं, और आर्य समाज, रामाकृष्ण मिशन आदि आज प्रचलित हिन्दू धर्म की शाखायें भी ईसाई धर्म से प्रभावित हैं । कभी-कभी नितान्त प्रतिक्रिया की स्थिति में भी कोई नया धर्म या नयी सभ्यता या जाति जन्म लेती है ।चुनाव की योग्यता, मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन, अतीत को भविष्य की प्रगति के सन्दर्भ में देखना ही संस्कृति के पुनर्जागरण या संक्रान्ति के कारण होते हैं[२]।

इस सारी प्रक्रिया को विस्तृत पैमाने पर देखने से यह तथ्य सामने आता है कि एक जाति निश्चय ही संकीर्ण एवं बंधी राह पर चलने की अपेक्षा प्रकृतिप्रदत्त उपयोगिताओं को ग्रहण कर नये आयाम खोजने को तत्पर रहती है । महान् विचारक कांट कहता है[३] कि व्यक्ति केवल रीतिरिवाजों का अनुसरण करने अथवा समय के बहाव में नष्ट हो जाने के लिए नहीं है, किन्तु पिछले समस्त नियमों से कहीं उदात्त और महान् नियमों के लिए संघर्ष करने के लिए है । वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक सचेतन रचना करता है । सचेतन से तात्पर्य वह अपने प्रति वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा अपनी जाति के अन्य प्राणियों के प्रति और अन्य प्राणियों से वैसे ही पेश आता है, जैसे अपने प्रति । 'वह सार्वजनिक एवं सर्वोपयोगी रचना

---

१ मेक्सवेल का कहना है कि 'जितनी ही महान् और जटिल कोई पद्धति होती है, उतनी ही उसमें से शाखायें फूटती हैं, जिन्हीं एकांगी नियमों के विकसित होने की सम्भाव्यता जाने हुए तथ्यों की नींव पर ही मूर्त रूप लेती है । उसके अनुसार इसी कारण गौतम, जीजस तथा मोहम्मद, अकेले व्यक्तित्व अपनी धार्मिक संस्थाओं के आधार पर अपनी दृष्टि को स्थापित कर सकें ।
— लुईस मम फोर्ड : 'द ट्रान्सफार्मेशन आफ़ मैन' , पृ० १४०

२ ,, ,, पृ० १४३

३ वहक्रिज रिले : 'मैन एंड मारल्स' , पृ० १२

करता है, और अपनी रचना का स्वतन्त्रता से उपयोग करता है।[१]"

मुल्यों में संघर्ष / किसी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों, जाति या समूहों का अनुभव अनेक आकार-प्रकार के टुकड़ों की पहेली के खेल जैसा माना जा सकता है। ये टुकड़े इधर-उधर सभी जगह एवं सभी समय बिखरे रहते हैं। कुछ बचपन की सीमाओं का स्पर्श करते हैं, तो दूसरे जन्म लेने की प्रक्रिया में गुजर रहे होते हैं। कुछ सुदूर और निकट की घटनाओं के फल होते हैं और कुछ व्यक्ति के अन्तर्जगत के निर्णय होते हैं। फल और निर्णय के ये अंश अपने विभिन्न आकारों में हमारे सामने आते हैं तथा हममें से प्रत्येक अपनी अनुभूति के आधार पर उनको क्रम से लगाने का प्रयास करता है, जिससे आत्मतुष्टि योग्य कोई चित्र बन सके। कभी-कभी व्यक्ति-विशेष की इच्छा के प्रतिरूप ये टुकड़े अपने से भिन्न आकार में, इस प्रकार जोड़े जाने को बाध्य करते हैं कि उनके बीच कम-से-कम जगह बच सके। इस प्रक्रिया में ये आकार विकृत भी हो सकते हैं। बहुत सम्भव है कि एक व्यक्ति, (या एक युग) के अनुभव उतने परिपक्व न हों जो बीच में रह गये रिक्त स्थानों को देख सकें। किन्तु इनसे कहीं अधिक अनुभवी एवं विवेकशील व्यक्ति को अवश्य ही ये रिक्तताएं भद्दी एवं स्पष्ट दिखाई देती हैं। हमारे बनाये ये आकार अपनी समस्त कुरूपता के साथ यद्यपि हमारी व्यावहारिक स्थितियों, ऐसी स्थितियाँ जिन्हें हम जी रहे हैं के लिए उपयुक्त होते हैं, किन्तु संक्रान्ति के समय ये रूप विपरीत हो सकते हैं। इस क्रान्ति के फलस्वरूप हमें नये अनुभव या फल मिलते हैं तथा पुराने और नये के समन्वय से पुनः एक आकार जन्म लेता है, जो दोनों का उपयोगी अंश होता है, शेष नष्ट होने के लिए छोड़ दिया जाता है। ये अनुभव, परिणाम या निर्णय ही वस्तुतः मूल्य हैं, ऐसे मूल्य जो हमारे जीवन तथा जीवन जीने के ढंग के आधार बनते हैं।

अपनी स्थिति एवं वातावरण के कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने रूपाकार, स्वभाव एवं व्यक्तित्व में भिन्न होता है। व्यक्ति एक ऐसी विलक्षण रचना है, जिसके गुण हु-ब-हू पुनरावृत्ति नहीं करते।[२] बाह्य एवं आन्तरिक विभिन्नता मनुष्य को व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर कई विभिन्न दिशाओं की ओर ले जाती है। कहीं किसी

---

१ वुडब्रिज रिले : 'मैन एण्ड मारल्स', पृ०१२

२ जी० मरफी : 'एन इनट्रॉडक्शन टू साइकॉलॉजि', पृ०१०

बिन्दु पर ये दिशायें या सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक मुल्य टकराते हैं, तो नयी दिशायें और नये मुल्य स्थापित होते हैं । उनकी स्थापना के लिए प्रत्येक नयी पीढ़ी ही आगे बढ़ती है, क्योंकि जैविक नियमों के अनुसार युवा पीढ़ी में ही प्रजनन शक्ति होती है और यही पीढ़ी जनन कौशिका (germs cells) में नये गुण लेकर तथा नये आयाम देने की क्षमता रखकर आती है[1] । समय-समय पर जनन कौशिका में नये गुण बनते रहते हैं, इस तरह दोनों में--जो निर्माणाधान हैं और इस निर्माणाधान का भी कोश है, यह परिवर्तन आता है । यह परिवर्तन जैविक विज्ञान के अनुसार पीढ़ी-दर-पीढ़ी नये गुणों को देता चलता है । व्यक्ति बदलती मान्यताओं से दो प्रमुख कारणों से द्वन्द्व करता है --अपने व्यक्तिगत संस्कार तथा तत्कालीन स्थिति से किसी विशेष सम्भावना या आवश्यकता के कारण।

व्यक्ति का आभ्यन्तर समाज वाह्य समाज से अलग ढंग से चिन्तन करता है । वाह्य परिस्थितियों से वह स्वयं को विभिन्न रूपों में जोड़ता है । कुछ उसे अभिमान की अनुभूति देते हैं और दूसरे उसके आत्ममुल्यांकन को ठेस पहुंचाते हैं । प्रत्येक प्रतिमान अलग उद्देश्य, दिशायें एवं मुल्य देते हैं । महानता, गरिमा, प्रतिष्ठा, अधिकार, दृढ़ होने की चेष्टा, परिष्कृत विचार जैसे परिवर्तनशील मुल्य केवल किसी व्यक्ति के निर्णय की देन नहीं, पर ब्रह्माण्ड के भी निहित तत्व हैं । व्यक्ति का संघर्ष इन श्रेष्ठ एवं प्रतिष्ठित मुल्यों की प्राप्ति का संघर्ष है । जीवन में कलह, बैर, झूठी मर्यादा, लुट-खसोट, भय शंका, क्रोध, रूढ़ियों से स्वतन्त्र होने की इच्छा, शान्ति के मार्ग की बाधायें, शक्ति एवं वैभव के प्रति आकर्षण एवं प्रेम, अत्याचार से घृणा, श्रेष्ठ के प्रदर्शन के लिए सुयोग्यता प्राप्ति की चाह, साहस, ईमानदारी, यश प्राप्ति की इच्छा, धन की लालसा, पुर्वजों एवं पैतृक ईश्वरों के प्रति दया[2] यह सब और इससे भी अधिक इच्छायें व्यक्ति

---

१ जी० मरफ़ी : 'ऐन इन्ट्रॅडॅक्शॅन टू साइकॉलाजि', पृ० १०

२ जान दिवे : 'ह्यूमॅन नेचॅर एण्ड कान्डक्ट', पृ० ११३

में एकत्रित होकर वाह्य जगत से [illegible] करता है । वे सामाजिक परिस्थितियाँ जो उसके जीवन जीने के ढर्रे या शारीरिक आवश्यकताओं या व्यक्ति की ज्ञानलिप्सा और चिन्तन प्रणाली को सन्तुष्ट करने में असमर्थ होती हैं, उनके विरुद्ध युद्ध करने का संकल्प ऐसे ही व्यक्ति कर पाते हैं, जो स्वयं को स्थापित कर अपने में ऐसा करने की शक्ति और साहस जुटा पाते हैं । क्रियाशीलता एवं उत्साह से भरे व्यक्ति ही निश्चित दिशा को जाते सामाजिक प्रवाह को रोक सकने में समर्थ होते हैं ।

समाज अपने सदस्यों पर कुछ प्रभाव छोड़ता है । कुछ लोग जीवन को उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं, जिस रूप में वह उनके सामने आता है । जब कि दूसरे लोग 'बड़े' या 'प्रतिष्ठित' होने की इच्छा रखते हैं[१] । यह इच्छा उन्हें उत्तेजित कर जीवन की हर उन्नत दिशा में अपना स्थान बनाने के लिए [illegible] करने को प्रेरित करता है । व्यक्तिगत पराजय या नैराश्य वह प्रारम्भिक स्थल है, जहाँ से नये मुल्य रूप लेते हैं । मूल्यों में संघर्ष का एक कारण यह भी है कि समाज के अधिकांश व्यक्ति धन की और अधिक आवश्यकता महसूस करते हैं, और अधिक ज्ञान की कामना करते हैं, कहीं अधिक स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं की कल्पना करते हैं, और इनमें से कुछ अपने विवेक और अन्तर्दृष्टि के वरदान से इन समस्याओं को सुलझा पाते हैं । अंग्रेजों की सौ वर्षों की गुलामी और उसके जकड़े बन्धनों में सिसकती भारतीय मानवता जिस क्रान्ति को पाल रही थी उसे गांधी जैसे व्यक्ति ने मूर्त रूप दिया। वस्तुत: जीवन और ब्रह्माण्ड में यह परिवर्तन, नये मूल्य अकस्मात् ही उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु क्रमश: समग्र सामग्री जुड़ती रहती है और धीरे-धीरे एकत्रित होता यह सामग्री इतनी शक्तिवान् हो उठती है कि नये मूल्यों को स्थापित करने को बाध्य करती है । ये परिवर्तन स्थापित मुल्य, चाहे वे कल्पना जगत् के हों या यथार्थ के, मात्र किसी थकावट, ऊब या विद्रोह के कारण नहीं आते, वरना तब

----

१ जान डिवे : 'ह्यूमैन नेचर एण्ड कानडक्ट', पृ० ५५२

जाते हैं, जब कोई कल्पना या तकनीक नये ज्ञान को अर्जित करने अथवा व्यक्ति की ज्ञान-लिप्सा को शान्त करने में असमर्थ हो जाती है, अथवा जब नये लोकाचार बीतती पीढ़ी के लोकाचारों को व्यर्थ करार कर देते हैं । "आज का विद्रोह कल की वास्तविकता बन जाता है और तब नये विद्रोह की आवश्यकता पड़ती है"[१]।

व्यक्ति का संघर्ष / व्यक्ति का बाह्य जगत से संघर्ष जितना मुख्य और स्पष्ट होता है, उससे कहीं अधिक मुख्य उसका आन्तरिक संघर्ष है । हममें से प्रत्येक नित्य-प्रति अपने भीतर एक द्वन्द्व को, दुविधा की स्थिति को अनुभव किया करता है । व्यक्ति में प्रतिक्षण दो विरोधी इच्छाओं, संवेगों, भावों में, दो समान रूप से महत्वपूर्ण अथवा उपयोगी वस्तुओं में से किसी एक को स्वीकार या अस्वीकार करने का द्वन्द्व निरन्तर चला करता है । यह व्यक्तित्व की विशेषता है कि एक ही समय में वह एक ही वस्तु को स्वीकार भी करता है और अस्वीकार भी । एक ही व्यक्ति को वह चाहता भी है और उससे घृणा भी करता है । एक ही वस्तु या व्यक्ति के एक तत्व या रूप से वह जितना सन्तुष्ट होता है, उतना ही दूसरे से निराश भी । कभी-कभी संवेग और दो इच्छायें एक-साथ संघर्ष में उलझी रहती हैं । गार्डनर मरफ़ी[२] आन्तरिक संघर्ष को इस तरह दो प्रकार का मानता है, दो विरोधी विचारधारायें आपस में टकराती हैं; दो विभिन्न स्थितियों में व्यक्ति-वैभिन्य स्थापित नहीं कर पाता; एक तीसरी स्थिति तब आती है एक व्यक्ति जब परिचित राह से लक्ष्य की प्राप्ति में उन्नति करता चलता है, तब एक दूसरी अधिक अच्छी प्रवृत्ति उसे आकर्षित करती है । कहा जा सकता है कि परस्पर दो विरोधी भावों, संवेगों एवं इच्छाओं में ग्राह्य-ग्राह्य, ग्राह्य-त्याज्य और त्याज्य-त्याज का द्वन्द्व चला करता है । प्राय: संघर्ष केवल

----

१ नन्ददुलारे बाजपेयी : 'नया साहित्य नये प्रश्न', पृ० २०६

२ जी०मरफ़ी : 'एन इनट्रॅडक्शन टू साइकॉलाजि', पृ० ११८ से १२१

दो संवेगों या दो प्राणों का ही नहीं होता है, पर प्रारम्भिक रूप में व्यक्ति के अपने दो चित्रों में होता है, जब कि वह स्वयं को इन दोनों रूपों का अनुसरण करता हुआ पाता है । ये विभिन्न स्थितियां जब अनिश्चितकाल तक कोई राह नहीं पाती हैं तो व्यक्ति में निराशा उत्पन्न होती है । इस फ्रस्ट्रेशन का कई प्रकार से परिणति हो सकती है । व्यक्ति या तो विरोधी हो जायेगा, और अपने सामाजिक परिवेश पर आक्रमण करेगा, अथवा इन से मुक्त होने का प्रयास करेगा । 'फ्रस्ट्रेशन-अग्रेशन-हाइपॉथीसिस' नियम के अनुसार फ्रस्ट्रेशन साधारणतया आक्रमणकारी व्यवहार की ओर ले जाता है[1] । व्यक्ति के भीतर के सभी अंगोपांग मिलकर एक तनाव की स्थिति प्राणों में बनाए रखते हैं । जो वस्तु मनुष्य के लिए समस्या बनती है, वह है, अपने भीतर अनुभव में आने वाला अन्तर्विग्रह और कलह । व्यक्ति द्वारा जो स्थायी सृष्टि का काम होता है, वह इसी तीव्र आत्म व्यथा और आत्मयुद्ध के गहन सन्तुलित क्षणों में होता है । उन क्षणों में विवेक मानों द्वन्द्वा-वस्था से पार आकर प्राणवेग में व्याप्त और लुप्त हो जाता है ।

निश्चय ही अन्तर्संघर्ष व्यक्ति के वाह्य संघर्ष को तथा वाह्य संघर्ष अन्तर्संघर्ष को कई तरह से प्रभावित करता है । 'आत्मपरता एवं परात्मपरता में द्वन्द्व' की स्थिति क्रान्ति को जन्म देती है[2] । आत्मपरता के आयाम भी परिवर्तनशील हैं । आदिम युग में एक व्यक्ति के लिए अधिकांश अपने कुल का त्याग करते थे, किन्तु आज ऐसा नहीं है । आदिम जीवन, जीवन की जटिलताओं से अनभिज्ञ था उसके जीवन का सारा संघर्ष आत्मरक्षा एवं पालन-पोषण का था, किन्तु नवजागरण काल के विस्तृत और प्रसारित क्षेत्र में निरन्तर स्थापित एवं अन्वेषित मूल्यों ने

----

१ जी० मरफी : 'ऐन इनट्रॅडक्शन टू साइकॉलोजि' पृ० १२२.

२ अमेरीकन क्रान्ति के बारे में लिखते हुए बेन्थम ने इसी प्रवृत्ति को उसका मूल माना ।

व्यक्ति को दुविधा में डाल दिया । जीवन की गति तीव्र और जटिल होती जा रही है । जब से व्यक्ति को संसार में अधिक महत्व दिया जाने लगा है[1] तब से उसे अपने प्रति उत्तरदायी होना पड़ा है । परिणामत: नरक भोगने के भय से कहीं अधिक भय मनुष्य को अपनी असफलताओं का होने लगा है । स्वाभिमान की रक्षा भूखे मरने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण बनती जा रहा है[2] । आज व्यक्ति संसार को नियंत्रित करने की अपनी क्षमता को निरन्तर परखते हुए ब्रह्माण्ड के गुप्त रहस्यों को जाननेतथा उन्हें सुविधानुसार रूपाकार देने में व्यस्त होता जा रहा है । 'सुयोग्य का पोषण' नियम सामाजिक सन्दर्भ में वरदान और अभिशाप बनकर आया, जिसके आधार पर सफलता के मापदण्ड सामाजिक एवं शारीरिकहीन ग्रन्थि माने गये और व्यक्ति स्वाभिमान की रक्षा तथा समाज में श्रेष्ठ स्थान पाने के लिए भी तत्पर हुआ ।

विलियम जेम्स[3] के अनुसार व्यक्ति दोहरा जीवन जीता है । अपने में दो प्रवृत्तियां, दो व्यक्तित्व साथ-साथ लिए रहता चलता है । आत्मरक्षा एवं स्वाभिमान ऐसी दो प्रवृत्तियां हैं, जिनके प्रति चैतन्य होते ही व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए लालायित हो उठता है । स्वतन्त्रता की कामना में वह समाज तथा राष्ट्र तक से संघर्ष करने को तत्पर होता है । शाफ़्टसबरी[4], मिल[5], हाब्स[6] जैसे विद्वानों ने व्यक्ति को समाज और शासन से कहीं अधिक महत्व दिया । प्राचीनकालका यह संघर्ष सीमित संसार का था, क्योंकि तब स्वतन्त्रता से तात्पर्य था राजनीतिक शासकों की तानाशाही से सुरक्षा । किन्तु अब व्यक्ति का संघर्ष आन्तरिक चेतन

---

१ जॉन हरमन रॉनल्ड : 'मैकिन्ग आफ़ दी माडर्न माइन्ड', पृ०११२
२ ए० कारडीनर, एडवर्ड प्रैबल : 'दे स्टडिड मैन', पृ० २६४
३ वुडब्रिज रिले : 'मैन एण्ड मारल', पृ० १६
४ ,, ,, पृ० ३५३
५,६ ,, ,, पृ० ३५७

यौन्त्र और चेतनता की स्वतन्त्रता का संघर्ष है । गेटे,फ़िक्टे,श्लैगेल,कालरिज,
एमर्सन आदि के अनुसार उसका संघर्ष सभी विषयों,सभी सम्बन्धों से स्वतन्त्रता
का है[1] । विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता से है, चाहे वह व्यावहारिक या
अव्यवहारिक हो,वैज्ञानिक अथवा अवैज्ञानिक हो, नैतिक या अनैतिक,ईश्वरपरक
या अनीश्वरपरक हो । उन्नीसवीं,बीसवीं शताब्दी की पूरी प्रवृत्ति ने व्यक्ति
को अप्रत्याशित सीमा तक स्वयं के प्रति उत्तरदायी बनाया है । सामंत श्रेष्ठ
की सहायता को खोने के भय का स्थान व्यक्ति के सांस्कृतिक मानदण्डों पर
आधारित 'सुपर ईगो' की मांगों के भय ने ले लिया । असफलता ऐसी चिन्ता का
कारण हो गई जो ईश्वरीय इच्छा मानकर नहीं टाली जा सकती । जनसाधारण
का संघर्ष इन्हीं प्रवृत्तियों का संघर्ष है ।

कला में संघर्ष

प्राचीन युग का संघर्ष जीवन की आवश्यकताओं को पाने का संघर्ष
था और आज का संघर्ष अन्तर्मन को समझने तथा स्थापित करने का है । व्यक्ति
की जैविक आवश्यकताओं के साथ उसकी मानसिक आवश्यकताएं भी बढ़ी हैं । मानव
मन के विश्लेषण की प्रवृत्ति तथा अनेक शास्त्रों के प्रणयन ने व्यक्ति को जिज्ञासुक
दृष्टि दी है । एक ओर व्यक्ति की आत्मचेतना, उसकी सर्वोपरिता,अहंभावना,
स्वाभिमान, आत्मरक्षा, स्वयं को प्रतिष्ठित करने की कामना और दूसरी ओर
वाणिज्य,औद्योगिक क्रान्तियां,भौतिक द्वन्द्व, ढहती मान्यताएं, खण्डित रूढ़ियां,
ज्ञानलिप्सा,अनेकानेक धर्मों के आविर्भाव से भटकती आत्मा, आदि अनेक नवीनताओं

----

१ जॉन हरमन रानडल : 'मेकइन्ग आफ़ दी मा:डन माइण्ड',पृ० ४१५

ने व्यक्ति को मथा है, उसे उलझनों भरा द्वन्द्वात्मक विस्तृत क्षेत्र दिया है । अपने संघर्ष में परिपक्वता प्राप्त करने से पूर्व ही असफलता का भय तथा अपने व्यक्तित्व एवं अहं को दूसरे पर आरोपित करने का संघर्ष उसे विभिन्न माध्यमों को अपनाने को बाध्य कर देता है । मनोवैज्ञानिक मरफी[1] का कहना है कि जीवन अहं को विकसित करने एवं सुयोग्यताओं को प्रदर्शित करने की लालसा है । तात्पर्य कि व्यक्ति स्वयं को स्थापित और प्रतिष्ठित करना चाहता है और अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार वह साधारण या श्रेष्ठ माध्यम अपनाता है अथवा उसका निर्माण कर लेता है । साधारण रूप से शारीरिक उपयुक्तता, सम्पत्ति और स्वामित्व, शक्ति एवं प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति अपनी क्षमता का प्रयोग करता है । प्रतिष्ठा और अस्तित्व की रक्षा का बोध सम्भव है, उसे अपनी निर्बलता में सबल व्यक्ति के साथ की खोज में संघर्षरत करे, अथवा विजय की सम्भावित स्थिति या जीत-हार की दोनों स्थितियों में स्वयं को डालकर किसी आन्तरिक कमजोरी को वह दूर कर स्वयं को सार्थक बना ले या इसी तरह अतीत की प्रशंसात्मक घटनाओं का वर्णन कर, गुणगान करवा कर, लोगों से घिरे बैठे रहकर अस्तित्व की रक्षा का निदान खोज ले[2] । किसी-न-किसी स्तर पर उसके ये व्यवहार संघर्ष और स्व-प्रतिष्ठा के द्योतक है ।

इनकी अपेक्षा कुछ ऐसे भी साधन हैं, जिनके द्वारा कहीं अधिक उत्तम रीति से वह अपने अहं की पुष्टि करता है । व्यक्ति तभी सर्वाधिक सुख प्राप्त करता है, जब वह कहीं अधिक प्रत्यक्ष या मूर्त रूप में जीवन के यथार्थ को अथवा आवश्यकताओं को प्रकट कर दूसरों पर हावी होता है या आत्मतुष्ट होता है । सदा से व्यक्ति की प्रवृत्ति निर्माण की रही है । यह निर्माण चाहे उसकी आवश्यकतापूर्ति का साधन रहा हो

---

१ जी०मरफी : 'ऐन इनट्रॅाडॅक्शन टु साइकलॉजि', पृ० ५२०

२ ,, ,, पृ० ४११-४१६ द्रष्टव्य

अथवा मनोरंजन का या आत्माभिव्यंजना का । अपनी आन्तरिक अनुभूतियों के सहारे वह कोई माध्यम या मार्ग चुनने का प्रयत्न करता है, जिससे अपने अन्त: का सारी शक्ति को वह किसी रचनात्मक कार्य में लगा सके ।

कलाकार एवं सर्जनशीलता / कला के क्षेत्र में उसको यह शक्ति बौद्धिक, भावनात्मक, सामाजिक तथा संवेगात्मक द्वन्द्वों का प्रतिफलन होती है । जिस प्रकार जल प्रवाह को रोककर उससे विद्युत का उत्पादन किया जाता है, फिर उस उत्पाद्य शक्ति को जन जन-जन हेतु प्रसारित कर दिया जाता है, कुछ ऐसे ही कलाकार की सर्जनशीलता अनेक रूप लेती हुई संगीत, नृत्य, चित्रकला, साहित्य आदि के माध्यम से अभिव्यक्त होती है । कलाकार विशेष संवेदनशील प्राणी होता है और इसी कारण वह समाज और जीवन की अनेकानेक यथार्थ समस्याओं तथा विसंगतियों, सौन्दर्य एवं आनन्दमयी अनुभूतियों को ग्रहण करता चलता है । उसकी संवेदनशीलता स्वानुभूत तथ्यों को रूपाकार देने को व्याकुल हो उठती है । यह व्याकुलता भोगे गये आन्तरिक द्वन्द्व के साथ बाहर सम्प्रेषित होने के द्वन्द्व के कारण भी होती है । सर्जन अथर्ववेद[1] के अनुसार व्यक्ति का धर्म है । सर्जन के बिना व्यक्ति सृष्टि में उपेक्षणीय है । उसकी सार्थकता कृतित्व में है, क्योंकि सर्जन से वह न केवल स्वयं आनन्द अनुभव करता है, अपितु उसकी प्रतीति दर्शक या श्रोता को भी करवाता है । लैवेटर कहता है कि, सौन्दर्य की अनुभूति से कलाकार के मन में जो आनन्दानुभूति तरंगित हो उठती है, उसे कलात्मक रूप देने को वह आतुर हो उठता है । इसके विपरीत सुसैन के०लैंज[2] यह स्वीकार करता है कि भौतिक विभीषिका के संत्रास से व्यक्ति मुक्ति के लिए जो संघर्ष करता है, वही कलात्मक रचना है । 'क्या होना चाहिए' के स्थान पर 'कैसा होता तो अच्छा होता' कलाकार के इस द्वन्द्व की अभिव्यक्ति कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार सर्जनशीलता का हेतु है । पूर्णचन्द्र बाहरी[3] के अनुसार

---

१ यथैकवृषोऽसि सृजारसोऽसि। यदि द्विवृषोऽसि... त्रिवृषोऽसि... चतुर्वृषोऽसि ....पंचवृषोऽसि... षड्वृषोऽसि... सप्तवृषोऽसि... अष्टवृषोऽसि... नववृषोऽसि... सृजारसोऽसि । यथैकादशोऽसि सोपोदकोऽसि ।।--अथर्व० ५. १६. २,१-११.

२ सुसैन के०लैंज : 'प्राब्लम्स् आफ़ आर्ट', पृ० ४८

३

अन्त: या बाह्य जगत् के प्रत्येक यथार्थ को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न सर्जन का मूल है । आई०ए० रिचर्ड्स[1] अर्थात्मक अनुभूति को व्यक्ति प्रतिभा की देन मानता है । अर्थात् कलाकार एक चीज के सम्बन्ध से दूसरी को नहीं बल्कि उसके माध्यम से सभी को जोड़ना चाहता है, इस सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया का नाम ही अर्थ है। इन अर्थों द्वारा साहित्य न केवल पृथ्वी और आकाश को एक करने में संलग्न है, बल्कि समय की सभी खिन्नताओं को भी अपनी मार्मिकता और अर्थों से भर देने का प्रयत्न है । व्यक्तिवाद को साहित्य में कोई स्थान न देने वाले टी०ह्यूम का मत है कि रूप और शिल्प के माध्यम से कलाकार कभी-कभी अन्तर्दृष्टि पा जाता है, जिससे उसे नया बोध होता है । टी०एस०इलियट[2] बीच का दृष्टिकोण रखता है । उसके अनुसार कलाकार के मन में तरह-तरह के भाव, विचार, प्रभाव और संस्कार संगृहीत रहते हैं, फिर एक रसायनिक कला प्रक्रिया द्वारा इन संगृहित तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, जिसके फलस्वरूप साहित्यकार को नए अर्थों की उपलब्धि होती है । मनोवैज्ञानिक मरफ़ी[3] बच्चे के बनते व्यक्तित्व में अनेक दृश्यों, आवाजों, खुशबू, लय आदि के प्रति अप्रत्याशित रूप से संवेदनशीलता को मुख्य तत्त्व मानता है, क्योंकि उसके अनुसार, वातावरण, परिस्थितियों के प्रति अनुभूतिपरक दृष्टि तथा संवेदनशीलता आदि मस्तिष्क में समा जाते हैं, जिससे रचनात्मक प्रक्रिया फूटती है । फ्रायड[4] ने सर्जन प्रक्रिया के मूल में ईडिपस मनोग्रन्थि को सहज प्रवृत्ति 'अपनी सन्तुष्टी' के संघर्ष को माना । 'लिबिडो' जीवन की सहज वृत्ति प्रधान शक्ति है तथा अपनी

---

१ द्रष्टव्य 'माईस एण्ड पोयट्री'

~~२ ~~

३ जी० मरफ़ी : 'एन इन्ट्रोडक्शन टू साइकलॉजी', पृ० १२०

२ तथा ४ डा० रणवीर रांग्रा : 'साहित्य: साधना और संदर्भ'।

सन्तुष्टि का मार्ग ढूंढ़ा करता है । कभी-कभी इसे असामाजिक मानकर दबा दिया जाता है । दमित अवस्था में यह छद्म वेष धारण करके अभिव्यक्त होना चाहता है । कलाकार अपनी अद्भुत क्षमता और उदात्तीकरण के माध्यम से अपनी इन भावनाओं को सर्जनात्मक दिशा प्रदान करने में सफल होता है । इस प्रक्रिया से वह सारी भावनाएं जो स्वप्न आदि माध्यमों से पूरी होती हैं, अब कल्पना द्वारा पूर्ण होती है । हरबर्ट रीड ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा कि कलाकृति मन के के सभी स्तरों से कुछ-न-कुछ प्राप्त करती है । पर्ल होग्रेफ़[1] ने माना कि कलाकार अपने अनुभवों के भण्डार में से स्वर्ण रूपी सत्य के समूह को चुन लेता है और तब उस निर्वाचित स्वर्ण सत्य को दर्शक एवं पाठकवर्ग को, दृष्टि में रखकर कलात्मक रूप प्रदान करता है, और मारीटेन[2] कलात्मक दृष्टि की उद्भावना उस स्थिति में मानता है, जब विचार-शक्ति, कल्पना तथा अन्तर की सारी शक्तियां ज्ञानवृत मनोवेगों द्वारा किसी अस्तित्वमय तथ्य के प्रस्तुतीकरण से अपनी एकता में पीड़ित होती हैं ।

इन कुछ विचारों से जो बात सामने आती है, वह यह कि कला के व्यापार की भिन्नता चाहे जितने भी रूप में सामने आये, पर सब के मूल में आत्माभिव्यंजना रहती है । कलाकार अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से अपनी आन्तरिक इच्छाओं को मूर्त रूप देता है । अभिव्यंजना चाहे किसी आनन्द की या सामाजिक यथार्थ की अथवा मनोभावों या संवेगों की हो, अपने साकार रूप में वह कलाकार के आन्तरिक अन्तर्मन्थन और बौद्धिक प्रसव वेदना का ही प्रतिमान है । कलाकार जीवन के भोगे जाते सत्य को, उस यथार्थ को जिसको समाज भोग हो रहा होता है, अपनी अन्तर्दृष्टि की शक्ति से ग्रहण कर लेता है तथा अन्तर्द्वन्द्व मय चिन्तन के आधार पर अपनी

---

१ पी० होग्रेफ़ : 'प्रोसेस आफ़ क्रिएटिव राइटिंग', पृ० ४

२ जे० मारीटेन : 'क्रिएटिव इन्ट्युइशन इन आर्ट : एण्ड पोइट्री', पृ० १३६

वैयक्तिकता का निर्माण करता है । समाज में अपनी इस वैयक्तिक विशिष्टता के साथ रहते हुए वह सामाजिक घात-प्रति-घातों से प्रभावित होता है । जिस बिन्दु पर कलाकार-विशेष का व्यक्तित्व जगत के अंशविशेष से टकराकर उद्बुद्ध हो उठता है और उसकी प्रतिमा उसे बांधकर समुचित स्वरूप प्रदान करने के लिए उद्यत हो जाती है, वहीं से सर्जन का श्रीगणेश होता है । वह आत्मघटित और आत्मानुभूत के बीच के ... और दूसरे के घटित में अपनी अनुभूति के सहारे प्रवेश कर उन सारी स्थितियों को पुन: रचित करता है । कलाकार मानों एक क़ैद में जाता है और इन्द्रियों के गवाक्षों से वह शेष विश्व को पहचानता है और अपने में उसे संगृहीत करता है । इस गवाक्ष के संधिस्थल से वह अपने को शेष विश्व में भेज सकता है, कलाकार जीवित संवेगों[1] को आत्मसात् कर उनका पुनर्निर्माण करता है[2] ।

रचनात्मक प्रक्रिया में संघर्ष तत्त्व / रचनात्मक प्रक्रिया एक प्रकार का सम्प्रेषण है[3], जिसका अर्थ साधारण शब्दों या साधारण वस्तु का आदान-प्रदान नहीं, और न ही साधारण दिखाने के लिए जटिलता का निरूपण है । सर्जनप्रक्रिया फोटोग्राफी नहीं है । किन्हीं तथ्यों को अन्त: एवं बाह्य गतियों का खोज है । अनेक विस्तारों में से कुछ प्रभावोत्पादक विस्तारों का चुनाव है । अनुभवों को क्रमानुसार स्थापित करना है । सर्जक के मन में दर्शक तथा पाठक का होना अनिवार्य होता है, क्योंकि उसकी कला का मूल्य दूसरों के लिए भी है । इसी कारण उसका द्वन्द्व दोहरा होता है । एक तो यह

----

१ हौग्रैफ़ के अनुसार जीवित संवेग से तात्पर्य बुद्धि(माइण्ड) भाव(इमोशन) तथा शरीर(बॉडी) से है, जिसे वह 'प्रौसेस आफ़ क्रिएटिव राइटिङ्ग' में पृ०८ पर स्पष्ट करता है ।

२ लैंग का बताता है कि 'एक दार्शनिक कहता है कि कलाकार जो अभिव्यक्त करता है वह उसकी वास्तविक अनुभूतियां नहीं, किन्तु वह है जो कि वह मानवीय अनुभूतियों के बारे जानता है ।' --'प्राब्लम्स आफ़ आर्ट', पृ० २६ ।

३ 'प्रासेस आफ़ क्रिएटिव राइटिङ्ग', पृ० २ -- पी०हौग्रैफ़
'कलासम्प्रेषण है' यह कहते हुए जानदिवे विशिष्टता पर बल देता है ।
आर्ट ऐस एक्सपिरियेन्स', पृ०४ ।

कि वह अपने पाठक को उसकी इन्द्रियों द्वारा अनुभव कराये तथा दूसरा कि वह उस तक अपने विचार सम्प्रेषित करे । रचनात्मक कृति दूसरों की आत्मा को जो वस्तु देना चाहती है, वही अन्तर्दृष्टि है जो कलाकार में थी । किन्तु दी जाने वाली अन्तर्दृष्टि हू-ब-हू रचनात्मक न रहकर कलाकार की आत्मपरता तथा ब्रह्मांड की प्रतिध्वनि देती हुई, यथार्थ दर्शनों के समन्वय से ज्ञानात्मक हो जाता है । कलाकार की आत्मा सर्वप्रथम सात्विक चमत्कार को ग्रहण करती है और जब यही दूसरों के सम्पर्क में आती है तो एक और अन्तर्दृष्टि को जन्म देती है । इस तरह एक अवतरण रचनात्मक अन्तर्दृष्टि से ग्रहणात्मक अन्तर्दृष्टि बन जाता है ।

कलाकार अपने लिए कुछ तथा दूसरों के लिए कुछ और होता है । जगत हमें एक रूप में जानता है और हम उसे दूसरे रूप में । वह एक ओर अपने मानसिक स्वप्नों की दुनियां में निवास करता है और दूसरी ओर सृष्टि के अन्य क्रिया-कलाप भी उसे आकृष्ट करते हैं । रचनात्मक प्रक्रिया में व्यक्ति के बाह्य और अन्त: अनुभव अथवा बाह्य अनुभव जो अन्त: अनुभवों के माध्यम से विश्लेषित होते हैं, सबसे अधिक महत्व रखते हैं । ऐसे अनुभव उसके चित्र प्रतिबिम्ब को विघटित या पुनर्रचित करते हैं । वह जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों तथा बाह्य संघर्षों से एक रूप होकर कला में जीवन का चित्रण करता है । इन विरोधी स्थितियों के द्वन्द्वपूर्ण चिन्तन के फलस्वरूप ही मानवीय अनुभूतियों की गवेषणा सम्भव होती है । अंतर की सारी शक्ति जब क्लाइमैक्स पर पहुंचती है तो वह मूर्त रूप में प्रकट होने को बाहर की ओर आती है । इसी अवस्था में कलाकार किसी उपयुक्त माध्यम में उसका गठन कर देता है । दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि अभिव्यक्ति के पूर्व विचारों और अनुभूतियों में सह सम्बन्ध की स्थिति उत्पन्न होती है । इस स्तर पर विचार अनुभूतिमय हो जाते हैं और अनुभूति विचारमय । ऐसी अवस्था में अभिव्यक्ति के पूर्व ही कभी-कभी कलाकृति का एक सामान्य स्वरूप कलाकार के मस्तिष्क में विद्यमान रहता है । मानसिक क्रियाशीलता में दो प्रकार हैं-- एक जो अतीत की पुनर्रचना करता है और

दूसरा जो नये को प्रोत्साहित करता है । किन्तु ये दोनों क्रियाशीलताएं एक-दूसरे में अन्तर्निहित हैं । नूतन तथा कुछ पुरातन का समन्वय ही किसी रचनात्मक प्रक्रिया के मूल में रहता है । मौलिकता, ईमानदारी, व्याख्या, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा अपने विचारों को प्रेषित करने की तीव्र उत्कण्ठा भी हमारे रचनात्मक आवेगों को उद्बुद्ध करने में सहायक बनते हैं । मन में उत्पन्न कोई काव्यात्मक अनुभूति तब तक मन में रखी जा सकती है, जब तक वह जाग्रत होकर सर्जन के लिए बाध्य नहीं कर देती । मन में किसी सर्जनात्मक अन्तर्दृष्टि के जाग्रत होने पर वह एक प्रकार की संगीतमय, गीतहीन, शब्दहीन तथा ध्वनिहीन तरंगों को जन्म देती है[1] । जो कि श्रवणेन्द्रियों तक नहीं पहुंच पाती, उन्हें मात्र आत्मा ही सुन पाती है । मारिटेन के अनुसार यही वह प्रथम स्थिति है, जिससे काव्यात्मक अनुभूति को अनुभव किया जा सकता है । अभिव्यक्ति के प्रथम स्तर पर अन्तर्दृष्ट भावों की अस्थायी अभिव्यक्ति होती है तथा दूसरे स्तर पर शब्दों के माध्यम से स्थायी अभिव्यक्ति होती है[2] । कभी-कभी तो प्रथम स्तर पर ही पूर्ण और अन्तिम अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जाती है और कभी-कभी दूसरे स्तर पर भी स्पष्ट नहीं हो पाती । सर्जन प्रक्रिया का एक दूसरा प्रकार (गद्यमयरचना) अपने प्रथम स्तर पर सर्जन की तैयारी करता है, जिसमें सारी सामग्री कलाकार के सामने रहती है तथा वह उसमें से विशिष्ट का चुनाव कर उसे क्रम देता है और दूसरी स्थिति पर कलाकार अपनी पूर्ण योग्यता तथा एकनिष्ठता से उस समस्त वैशिष्ट्य का विश्लेषण कर उसे मूर्त रूप देता है । अथवा कोई ऐसा विज्ञान जो उसके अन्त: को आलोकित कर उसकी संवेदनाओं को स्पर्श कर दे, जिसे कभी-कभी मूड का नाम

----

१ जे०मारिटेन : 'क्रिएटिवइन्टयूशन इन आर्ट, एण्ड पोइट्री', पृ०३००

२ मारिटेन ने अपनी पुस्तक 'क्रिएटिव इनट्यूशन इन आर्ट, एण्ड पोइट्री' में कलात्मक अन्तर्दृष्टि के उद्भव से उसके अभिव्यक्त होने की स्थिति में विषय-वस्तु के आधार पर भी अन्तर माना है । उसने दो रेखा-चित्रों द्वारा 'क्लासिक' तथा 'माडर्न पोइट्री' की रचनात्मक प्रक्रिया के इस वैभिन्न्य को स्पष्ट किया है ।
द्रष्टव्य पृ० ३१८-३२१

दे दिया जाता है,[१] कलाकार को लिखने पर विवश कर देता है और इस तरह धारा प्रवाह रूप में किसी कृति की नींव पड़ जाती है । इस सर्जन-प्रक्रिया में कलाकार का बहुत-कुछ जो उसके लिए महत्वपूर्ण तथा अत्यन्त प्रिय है, खो सकता है, या बहुत सम्भव है यह खोया हुआ कुछ, जो प्रिय भी है तत्क्षण ही किसी और अन्तर्दृष्टि को प्रेरित कर दे । बहुत बार एक चरित्र का विश्लेषण करते हुए उसके विरोधात्मक चरित्र का रूप मन में उभर आताहै और वह यह तो उसी में कहीं स्थान पा जाता है अन्यथा नयी प्रेरणा देता है । बहुत बार हम एक ही पात्र में, एक ही घटना में दो विरोधों को साथ-साथ चलते देखते हैं । निःसन्देह वह कलाकार के इसी द्वन्द्वमय चिन्तन को स्पष्ट करता है । कलाकार का अहं भी रचना में अमर होने के लिए नष्ट हो जाता है,क्योंकि उसे उदात्तीकृत रूप में प्रस्तुत किया जाता है । लेखक की एक अनुभूति अनेक मस्तिष्कों में अनेक रूप धारण करती है । इसी से प्रत्येक महान् कृति प्रत्येक युग में युगानुरूप ही व्याख्यायित हो पाती है । प्रत्येक युग में अपनी नयी व्याख्या के साथ वह ग्रहण कर ली जाती है । उसके मूल्य खोते हैं, पुनः खोजे और स्थापित किये जाते हैं ।

कलाओं के उद्भव एवं विकास में संघर्ष : नृत्य

सभी कलायें अपने मूर्त रूप में कलाकार की इसी द्वन्द्वमय आत्माभिव्यंजना का फल हैं । अन्तर मात्र इतना है कि प्रत्येक की अभिव्यक्ति का माध्यम तथा साधन विभिन्न है । यह आत्माभिव्यंजना कला के किस स्वरूप में व्यक्त होगी निःसन्देह यह व्यक्ति के आवेग तथा शारीरिक संगठन पर निर्भर करता है । कभी-कभी व्यक्ति किसी कला-विशेष को अपनी अभिव्यंजना का माध्यम बनाने में अपनी वंशगत

---

१ मारिटेन के अनुसार शिल्पी का रचनात्मक विचार किसी भी अर्थ में परिकल्पना नहीं हो सकता है,क्योंकि वह न तो ज्ञानात्मक है और ना ही प्रदर्शनात्मक,वह केवल उत्पाद्य है वह हमारे मस्तिष्क को वस्तु के सदृश नहीं करता, अपितु वस्तु को हमारे मस्तिष्क के अनुरूप बनाता है ।

— जे०मारिटेन : 'क्रिएटिव इनट्यूशन इन आर्ट एंड पोइट्री', पृ०१३४

परम्परा से भी प्रभावित होता है । कोई व्यक्ति अपनी आत्मानुभूति को गीत या संगीत के माध्यम से व्यक्त करने की शक्ति रखता है तो कोई रंगों एवं स्थूल उपकरणों के माध्यम से,दूसरा व्यक्ति शब्दों को आत्माभिव्यंजना का माध्यम बनाता है और तीसरा अंग-विक्षेप विर्दान से आत्मतुष्टि पाता है । इसी कारण यह आवश्यक नहीं कि जो सफल चित्रकार है,वह सफल काव्य प्रणेता भी होगा । या जो सफल नृत्तक है वह सफल नाटककार भी होगा ।

प्रत्येक कला के उद्भव एवं विकास से सम्बन्धित दो मुल प्रश्न उठ सकते हैं--'क्यों' और 'कैसे', जो रचनात्मक प्रवृत्ति के मुल में निहित संघर्ष तथा क्रीडासिद्ध तत्व की ओर संकेत करते हैं । किसी कला के पूर्ण अध्ययन के लिए मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोणों का सहारा लेना पड़ता है । प्रत्येक कला की अपनी सीमायें होती हैं,जिनका अतिक्रमण करने पर नये कला रूपों का जन्म होता है । नाट्य कला सभी कलाओं में श्रेष्ठ मानी जाती है,क्योंकि उसमें श्रव्य तथा दृष्टव्य गुणों के साथ कार्यशीलता भी रहती है । दृष्टव्यता के कारण इसका प्रभाव अधिक सजीव रहता है,क्योंकि जनसाधारण के लिए सुक्ष्म तथा अप्रत्यक्ष की अपेक्षा मुर्त और प्रत्यक्ष अधिक प्रभावोत्पादक होताहै । मनुष्य का वर्णन चाहे जितना सजीव हो, परन्तु चित्र के सामने उसे हार माननी पड़ती है । जब चित्र चलते-फिरते हाड़-मांस-चाम के भावभंगिमामय हों, तब वह जीवन को अधिक निकटता से स्पर्श करते हैं । नाट्य में कार्य प्रधान होता है, यह कार्य संघर्षमयी स्थितियों का परिणाम होता है और इसी के उतार-चढ़ाव से सारी कथा विकसित होती है । नाट्य भूत की कथा को लेकर चलता है, किन्तु उसका चित्रण इस प्रकार करता है कि वह 'हो रहे' अर्थात् वर्तमान का बोध देने लगती है । नाट्य से निकट का सम्बन्ध रहने वाली रचनात्मक कला नृत्य है । उसमें भी कर्म तथा दृष्टि तत्व प्रधान होते हैं । अपने उद्भव में नाटक तथा नृत्य एक-दूसरे के आश्रित रहे हैं,नाट्य

----

१ नाटक को महत्व देने या श्रेष्ठ माने जाने के कारण निम्नश्लोकों में देखे जा सकते हैं नाट्यशास्त्र १।१०४।,१-१०८,१०९।,१-१११।११२,१-१०५।१०८ ।

के विकास में निहित संघर्ष तत्व के अध्ययन की पृष्ठभूमि एक प्रकार से नृत्य के विकास-क्रम में देखी जा सकती है, क्योंकि नाट्य अपने मूलरूप में नृत्य ही है ।

व्यक्ति की आदिम प्रवृत्ति है कि वह दुःख और सुख के संवेगों से प्रभावित होकर विभिन्न प्रकार से अपनी अनुभूतियों को सम्प्रेषित करता है । जीवन की प्रतिदिन की घटनाएं उसे या तो हर्षोल्लास से भर जाती हैं अथवा घनीभूत पीड़ा से । कहीं वह सहयोग में 'स्व' का त्याग करता है और कहीं प्रतिशोध की ज्वाला में प्रतिक्रिया करता है। नृत्य कलाओं में प्राचीनतम कला मानी जा सकती है, क्योंकि, भाषा के अभाव में, अपनी आदिम अवस्था में, विचारों और भावों के आदान-प्रदान के दो ही माध्यम थे, पत्थर मिट्टी या पेड़ों पर आकृतियों के अंकन से स्वयं को प्रकट करना तथा हावभाव एवं मुद्राओं द्वारा अभिव्यक्ति अपने सरलतम रूप में नृत्य ताली बजाकर कूदना, अकेले या समूह में उछलते हुए गोलदायरों में घूमना आदि चेष्टाओं का समन्वय है । ये नृत्य किन्हीं विशिष्ट अवसरों पर या किन्हीं भी अवसरों पर धार्मिक अनुष्ठान के रूप में या सामाजिक पीड़ा के विरोध में किये जाते रहे हैं । जैसे जन्म, मृत्यु, शादी, सुन्नतप्रक्रिया, प्रायश्चित, फसल बोने और काटने के समय, मृतकों को गाड़ने जाते समय वीरों की याद में, नये वर्ष के आगमन में, सैनिक शिक्षा देने, युद्ध में जाने के अवसर पर विदा देने में, गुलामों द्वारा आन्तरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति में, किसी भयानक यात्रा से सकुशल लौट आने पर, शक्ति और साहस की कामना के लिए देवताओं की पूजा या उनसे प्रार्थना के अवसर पर, कामइच्छाओं की पूर्ति के लिए, भय को कम करने के लिए, जीने की कामना के लिए[१] आदि आदि अनेक अवसरों पर किस अनेक रूपों में नृत्य किये जाते थे । देखा जाये तो नृत्य किसी भी सामाजिक कार्य का नर्तन है जो चेतन रूप में

---

१ द्रष्टव्य - 'एनसाइक्लोपीडिया आफ डांस', 'एनसाइक्लोपीडिया आफ ब्रिटानिका'

प्रकृति तथा जीवन को प्रस्तुत करता है या उसका निर्माण करता है । कभी-कभी व-उन्माद को प्रेरित करने के लिए भी नृत्य किये जाते रहे ।

ऐंज,कांट आदि विद्वानों ने शारीरिक सन्तुलन को बनाये रखने के ढंग से कलाओं का उद्भव माना । शिलर ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कला अतिशय शक्ति का कलात्मक रूपान्तर है । मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य पर विश्वास करते हैं कि शक्ति का अतिरेक संचय सन्तुलन का कारण बनता है और व्यक्ति को पीड़ित कर जाता है । हमारे शरीर की बनावट इस प्रकार की है कि उसकी रक्षा के लिए आन्तरिक शक्तियों के सन्तुलन की आवश्यकता पड़ती है । किसी भी प्रकार की क्रीड़ा में हम अतिशय शक्ति का प्रयोग करते हैं । अतः इस मत के समर्थक विद्वानों ने कला को क्रीड़ा से जोड़ा[१] । उनके अनुसार अतिरेक भावों को, कुछ व्यक्ति रोकर,गाकर,उछल-कूद कर या हंसकर व्यक्त करते हैं तो ऐसी क्रियाशीलता को कुछ अन्य परिपक्व रूप में कला का रूप दे देते हैं । उदाहरणार्थ साधारणतया यह विश्वास है कि जीवन की कोई मार्मिक पीड़ा व्यक्ति को कवि बना देती है और व्यक्ति अपने मानसिक सन्तुलन को बनाये रखने में सफल हो पाता है । किन्हीं देशों में दैवी आत्मा द्वारा अनुप्रेरित होने के लिए नृत्य का सहारा लिया जाता है । भारतीय विश्वास के अनुसार नृत्य शिव की दो विरोधात्मक प्रवृत्तियों-- रचनात्मक तथा विध्वंसात्मक का विकास है । शिव को 'ब भैरव'[२] भी कहा जाता है और यह शब्द स्वयं में ही रचना,पालन तथा संहार का बोध देता है । शिव का नृत्त रूप रौद्र एवं शान्त,निर्माण एवं संहार उग्र

---

१ शिवकरण सिंह ने इस विषय में विस्तृत चर्चा अपनी पुस्तक 'कला सृजन प्रक्रिया' में की है ।

२ भै – रचना, र--पालन, व- विनाश

और अभय आदि विरोधों का प्रतीक है । नटराज के ऊपर उठे दोनों हाथों में से एक में डमरू है जो रचनात्मक ध्वनि का प्रतीक है, दूसरे में अग्नि है जो विनाशकारी है । नीचे के हाथों में एक की खुली हथेली भक्तों को 'अभय' देता है, दूसरे की मुद्रा 'आश्रय' का प्रतीक है । उठा हुआ बांया पैर 'अनुग्रह' तथा दायें पैर के नीचे विजय किया हुआ असुर है जो बुराई पर विजय पाने की अभिव्यक्ति देता है । इसकी अपेक्षा शिव ने अपनी पत्नी पार्वती के अभिमान को चूर करने तथा असुरीय वृत्तियों पर विजय पाने के लिए नृत्य का आश्रय लिया । शिव और पार्वती के ताण्डव तथा लास्य से नृत्य का विकास माना जाता है ।

इस आदिम प्रवृत्ति तथा धार्मिक विश्वास से आगे बढ़े तो नृत्य एक आवश्यकता महसूस होती है । व्यक्तिजीवन का कोई भी क्षेत्र, स्वयं व्यक्ति जीवन उस गतिशीलता तथा कार्यशीलता से विहीन नहीं होता है, जिसे हम नृत्य कहते हैं । नृत्य व्यक्ति की अपरिवर्तनीय तथा विशिष्ट प्रकार की समन्वित गतिशीलता में आत्माभिव्यंजना है । व्यक्तिगत तथा सामूहिक हर्षोल्लास का किसी एक क्षण में तनाव तथा समाधान की किसी एक स्थिति में-- जहाँ सन्तुलन सर्वोपरि रहता है, का समन्वय नृत्य है[१] । वह किन्हीं तनावपूर्ण तथा समाधान के अमूल्य क्षणों में हर्षोल्लास की असन्तुलित पीड़ा तथा महानता में, अर्थगर्भित या अर्थहीनता की द्वन्द्वपूर्ण स्थिति में एक चेतन रचनात्मक प्रक्रिया है । इस रचनात्मक कला ने अपने सामाजिक महत्त्व को बदला है । आध्यात्मिक तथा लोकप्रिय रूप से कलात्मक स्वरूप की ओर का विकास कलाकार द्वारा यह प्रदर्शित करता है कि हम क्या जान चुके हैं, क्या कर सकते हैं तथा अपनी खुशी, पीड़ा और महानता में क्या सम्प्रेषित करना चाहते हैं । नृत्य की चर्चा में प्राय: विद्वानों ने इसे कामुक चेष्टाओं का प्रतीक माना और दूसरों ने इसे नितान्त अनुकरण माना, किन्तु इनसे कहीं अधिक मुख्य-

---

१ 'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ डांस', पृ० ४३६

रूप से नृत्य की चेष्टायें या गति किसी भावात्मक स्थिति से उत्पन्न निरन्तर कार्यरत प्रक्रिया का कलात्मक प्रदर्शन है । प्रत्येक व्यक्ति में इच्छाओं का संघर्ष निहित रहता है । एक ओर वैशिष्ट्य होने की इच्छा, दूसरी ओर सामुहिक होने की ~~इच्छा~~ लालसा, इन दोनों इच्छाओं की पूर्ति नृत्य द्वारा होती है[1] । नृत्यक अपनी वैयक्तिक विशिष्टता में सामने आते हुए भी सामुहिक नृत्य में उसी प्रकार लय हो जाता है , जिस प्रकार अन्तरिक्ष में शब्द । जहां तक अभिव्यक्ति का प्रश्न है,नृत्य सर्वाधिक 'सन्तोषप्रद कार्य' है और अपनी भावनात्मकता के कारण आदिम तथा सभ्य दोनों जातियों में समान रूप से लोकप्रिय है ।

नृत्य तीन सार्वभौम संवेगों का परिणाम माना जाता है-- घनीभूत पीड़ा,क्रोध तथा बदले की भावना[2] । एक चौथा संवेग हर्षोल्लास भी माना जा सकता है। व्यक्ति नृत्य करता है,क्योंकि उसमें नृत्य के आवेग रहते हैं तथा शरीर के किसी भी अंग की वैयक्तिक भंगिमाओं द्वारा, जो किन्हीं भावों या विचारों की अभिव्यक्ति करती हैं,सम्पन्न किया जाता है । नृत्य का विकास किन्हीं विद्वानों के आधार पर तीन स्तरों पर हुआ । व्यक्ति ने सम्भवत: सर्वप्रथम मात्र शारीरिक उल्लास में नृत्य किया, फिर प्रणय निवेदन में और तीसरी बार धार्मिक अनुष्ठान के रूप में । चौथी स्थिति तब सम्भव हुई होगी,जब उसने सम्प्रेषण की आवश्यकता महसूस की होगी । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नृत्य का मूलाधार अभिनय है । किन्हीं देशों या जातियों के नृत्य में विभिन्न जानवरों या देवताओं की कल्पना का अभिनयात्मक नृत्य प्रस्तुत किया जाता है । कुछ अन्य नृत्य नाट्यों में किसी लोक-कथा, या प्रसिद्ध घटना को आधार बनाया

----

१ 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ डांस',पृ० ४३५

२ ,, ,, पृ० ३८८

जाता है । अपने व्यापक आयाम में नृत्य तीन बातों का समावेश करता है--

(क) मांसपेशियों के किसी तीव्र आवेग के प्रभाव में निरन्तर गतिशीलता जो आज जनजातियों के नृत्यों में देखा जा सकता है । जिसमें मन्थर गति से सिर तथा आंखों की चेष्टाओं से नृत्य प्रारम्भ होता है, फिर अपना तीव्र गति में सारे शरीर की कंपकंपी एवं थिरकन में बदल जाता है, जहां मानों ये सारी गतिशीलता किसी तथ्य को प्रकट करने में सारी शक्तियों को जोड़ती है और अन्तिम स्थिति में व्यक्ति की चेष्टायें उन्मादक, अति-क्षिप्र, जोशीली तथा उत्साहभरी हो जाती है, जैसे कोई आवेग सारे बंधन तोड़कर बह निकलना चाहता हो । पैर पटकना, दायें-बायें, आगे-पीछे घूमना, अर्थहीन शब्दों से आवाज करना आदि उसके आवेगों की उत्क्रान्ति अवस्था को स्पष्ट करते हैं ।

(ख) नृत्यक या प्रेक्षक की खुशी के लिए सन्तुलित ललित गतिशीलता, जो लोक-नृत्यों में देखा जा सकता है ।

(ग) नृत्यक द्वारा दूसरों के आवेगों तथा मनोभावों को प्रस्तुत करने के लिए सावधानापूर्वक शिक्षित चेष्टायें, जो निःसन्देह कलात्मक (क्लासिक) प्रवृत्ति की ओर संकेत करती हैं ।

नाट्य: उद्भव में संघर्ष // नृत्य तथा नाट्य अपने प्रारम्भिक रूप में अविभाज्य रहे । पुरानी पुस्तकों के आधार पर ज्ञात होता है कि नाट्य नृत्य का ही विकसित रूप है । इनमें हमें नाटक का नृत्य[१] करने की अभिव्यक्ति मिलती है । नृत्य भी नाटक को

---

१ ग्यारहवीं शताब्दी की कृति 'कर्पूरमंजरी' में नट कहता है -- 'आओ सट्टक का नृत्य करें ।' अभिनय का भाव 'नृत्यन्ति' से भी लिया जाता रहा है । इसके अलावा संसार के प्रायः सभी देशों में नाट्य नृत्य का ही विकसित रूप है । जैसे जापान का 'नो ड्रामा' वहां के 'ता-माई' नामक नृत्य का विकसित रूप है। यूनान में फसल काटते समय के प्रचलित विशेष नृत्य जिसे 'द सेक्रेड थ्रेशन्ग फ्लोर ऑफ टिप्टोगमूस' कहते थे, नाट्य रूप में विकसा। ऐसे ही

(अगले पृष्ठ पर देखें)

तरह कार्यप्रधान दृष्टव्य कला है । नृत्य की सामूहिक क्रियाशीलता के कारण उसमें दर्शक तथा अभिनेता जैसा विभाजन नहीं था, किन्तु कालान्तर में जब नृत्यों में धार्मिक अवसरों पर अनुकरणात्मक प्रवृत्ति बढ़ी तथा सरलता से जटिलता का विकास हुआ तो नृत्य निश्चय ही कुछ लोगों में सीमित रह गया । धीरे-धीरे इनमें जुड़े कथाओं एवं गीतों के अंशों--जो हमें कोरस और मंत्रों के माध्यम से दिखाई देते हैं, में कथोपकथन के समावेश से नाटक विकसित हुआ होगा । भारतीय आचार्यों ने नाटक और नृत्य का विकास,नृत्त,नृत्य तथा नाट्य से माना तथा भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी नृत्य और नाट्य के लिए प्राय: एक ही नियम माने गये हैं । संस्कृत नाटकों में जगह-जगह पर नाट्य मुद्राओं द्वारा अभिनय को यथार्थमय बनाने का प्रयास है । नि:सन्देह व्यक्ति की जिज्ञासुक प्रवृत्ति तथा और अधिक सत्य की खोज प्रवृत्ति से इन आदिम जन जातियों के नृत्य और गान धीरे-धीरे सभ्य जातियों के सम्पर्क में परिष्कृत होकर एक ओर संगीत, दूसरी ओर काव्य तथा तीसरी ओर नाट्य के रूप में अस्तित्व में आये । द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विद्वानों ने इसका कारण आर्थिक परिस्थितियों का विकास माना है । उन्होंने माना कि जब अव्यवस्थित आदिम समाज कृषि के अन्वेषण से व्यवस्थित जीवन बिताने लगा तो उसके जीवन में अपूर्व परिवर्तन आया और वे आदिम युगीन नृत्य,जिनमें मूलत: धर्म के बीज थे, धर्म का रूप धारण कर लेते हैं । आर्यों ने भारत में बसने के बाद एक निश्चित (धार्मिक (वैदिक) संगठन को जन्म दिया । इस वैदिक कर्मकाण्ड

(विगत पृष्ठ का अवशिष्टांश)

बर्मा के 'नाट', जापान के 'कन्यूरी,' इत्युसिनियम के 'रहस्य', मिस्त्र के औसिस जातियों में जो मृत व्यक्तियों की उपासना में नृत्य प्रचलित वे नाट्य का आधार बनें । विशेष परिचय के लिए देखिए रिजवे की पुस्तक 'द ड्रामा एण्ड ड्रैमेट्क डान्सस् आफ़ द नान युरोपीअॅनरेसस्' ।

मेंसंगीत एवं नृत्य का समुचित विनियोग होता था, इसी नृत्य एवं अभिनय से नाट्य का जन्म हुआ । प्रो० जागीरदार ने नाटक के विकास में धार्मिक क्रिया-कलापों व को ना मानकर वेद विरोधी प्रवृत्ति को माना है । मानव विज्ञान के अनुसार नाट्य अभिनय के पीछे व्यक्ति का स्वयं को प्रदर्शित करने का जन्मजात प्रवृत्ति है । जब व्यक्ति ने पहला बार अपने परिजनों या जानवरों के अनुकरण अथवा हास्यास्पद अनुकृति द्वारा मनोरंजन किया होगा और यही 'हास्य' एक धार्मिक कृत्य के रूप में नियन्त्रित होने के बाद,अभिनय में गम्भीरता को ग्रहण कर बौद्धिक-चिन्तन द्वारा प्रसारित हुआ, तभी से या उसी प्रसारण से नाट्य विकसित हुआ होगा[१] ।

एक परम्परावादी मत भी है जो नाटक की दैवी-उत्पत्ति का संकेत करता है ।इस मत का उल्लेख भरत के 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में हुआ है । इसके अनुसार त्रेतायुग में देवताओं की प्रार्थना पर पितामह ब्रह्मा ने शूद्रादि के लिए चारों वेदों से पाठ्य,अभिनय,गीत एवं रस ब लेकर, नाट्यवेद पंचमवेद की रचना इसलिए की कि उनके मोक्ष का कोई साधन न था और इसके प्रयोग का कार्य भरतमुनि को सौंप दिया । भरत ने सौ शिष्यों एव सौ अप्सराओं को नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा दी,जिसके पहले अभिनय में शिव तथा पार्वती ने भी सहयोग दिया । नाट्य-कला के दो प्रमुख तत्त्व-- संवाद तथा अभिनय में से प्रथम तत्त्व के अंश ऋग्वेद के संवाद-परक सूक्तों[२] में ढूढ़ जाते हैं तथा कल्पना को जाती है कि इन पाठों के लिए अलग ऋत्विक् रहते होंगे जो अलग-अलग ऋचा का शंसन करते होंगे । इसके अलावा सामवेद से संगीत,अथर्ववेद से नृत्य के अत्यधिक विकास की पुष्टि होती है । इसी से कुछ पाश्चात्य विद्वान्[३] इनसे भारतीय नाटक का विकास हुआ मानते हैं । इसी प्रकार

----

१ द्रष्टव्य 'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ सौशल साइंसस' ।

२ इन्द्रमरुत संवाद(१.१६५, १.१७०),विश्वमित्र-नदी संवाद(३.३३), पुरुरवस्-उर्वशी संवाद(१०.९५),यमयमी संवाद (१०.१०) आदि ।

३ प्रो० मैक्समुलर तथा प्रो० सिल्वन लेवी

पाश्चात्य नाट्य[1] का विकास डायोनिसस एवं अपोलो के पूजन समारोह से माना जाता है । इन समारोहों में कुछ विशिष्ट व्यक्ति जिनका आधा शरीर अजा चर्म से ढंका रहता था, अजा गीत (गोटसांग-बलिनृत्य) के मंत्र गाते हुए वेदी के चारों ओर नृत्य करते थे । छठीं शताब्दी ई०पू० थेस्पिस ने उसमें के रिक्त स्थानों को भरने के लिए छोटे-छोटे संवाद बढ़ा दिये, जिन्हें एक अभिनेता समवेत गायकों के नेता के साथ वार्तालाप के द्वारा व्यक्त करता था । वही अपने और विकसित रूप में नाटक बना । एक दूसरे मत के अनुसार धार्मिक उत्सवों पर लोग जिन दुर्घटनाओं का अभिनय--जो किन्हीं वीरों की जीवनियों से सम्बद्ध होता था-- करते थे, वही नाटक के मूल रूप हैं ।

नृत्य और नाट्य की क्रियाशील[illegible]-गतिशीलता से एक तथ्य जो सामने आता है, वह यह है कि व्यक्ति ने शारीरिक तनावपूर्ण स्थिति में सन्तुलन के लिए अनावश्यक शक्ति का प्रयोग इन कलाओं के रूप में किया । दूसरे स्तर पर इन कलाओं में संघर्ष तत्व सूक्ष्म रूप से अन्तर्निहित है, उनके उद्भव और विकास का संक्षिप्त परिचय विरोधों के सामन्जस्य में इसी तथ्य की ओर संकेत करता है । ये ही प्रारम्भिक गानमय या नृत्यमय कृत्य धार्मिक कृत्यों में परिवर्तित हो गये तो उनका उद्देश्य गम्भीर तथा पवित्र हो गया और वह केवल मनोरंजन की वस्तु न रहकर आवश्यकता बन गये । सभ्यता के विकास के साथ-ही-साथ नाट्य से सम्बन्धित धार्मिक भावना का लोप होता गया तथा नाटक की धारणा बदलकर जीवन की समस्याओं के चित्रण विश्लेषण के माध्यम से मनोरंजन के रूप में प्रतिष्ठित होती गयी । अतः नाटक की विकास दोहरे परिवर्तन को प्रस्तुत करता है । एक ओर बौद्धिक आग्रह से विचार संघर्ष को कहीं अधिक श्रेष्ठ नाटकीय गुण माना जाने के कारण शारीरिक चेष्टाओं द्वारा संवेगात्मक संघर्ष का प्रस्तुतीकरण नाटक का श्रेष्ठ गुण

----

१ पाश्चात्य नाट्य में सबसे प्राचीन नाट्य-साहित्य यूनान में मिलता है, अतः यहाँ उसी से तात्पर्य है ।

सीमा को ज्यों-ही स्पर्श करता है, वैसे ही अपनी परम्परा पर आघात भी करता है । लक्ष्मीनारायण मिश्र से आदर्शवादी नाटकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जो यथार्थवादी परम्परा चली थी, अपने उत्कर्ष पर वह कई अस्थायी प्रवृत्तियों (भारतीय नाट्य साहित्य के सन्दर्भ में) की ओर मुड़ गयी, तथा अन्य साहित्यिक आन्दोलनों से प्रभावित होते हुए विकसित हुई । कला जब पुरातनता से विद्रोह करती है और किसी नवीनता का आश्रय लेती है तो उसे अपने उद्देश्य तथा नियमों की खोज करनी पड़ती है , यह निश्चित करना पड़ता है कि वह क्या स्थापित करना चाहती है । यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि जब कलायें अपने परम्परित रूप का नयी परिस्थितियों से समन्वय नहीं कर पाती हैं --विषयवस्तु और रूपविधान की दृष्टि से-तो युग सत्य की खोज में परम्परा से स्वयं को विलग करने का प्रयास करती है । अथवा जब कलाकार यह अनुभव करता है कि अमुक सिद्धान्त ग़लत है, क्योंकि वह उस अभिव्यक्ति का बोझ वहन् करने में असमर्थ है, जिसे वह स्थापित करना चाहता है, तो उसे नये माध्यमों की खोज करनी पड़ती है, उसका यह द्वन्द्व मात्र अन्वेषण का नहीं,वरन् उसे संवार कर स्थापित करने का भी है । प्रत्येक युग और प्रत्येक साहित्यिक क्रान्ति का उद्देश्य और अधिक सत्य की खोज,और अधिक उचित स्वरूप की मांग होती है । रचनात्मक प्रक्रिया तत्कालीन मांग पर भी निर्भर करती है । तत्कालीन से तात्पर्य केवल आधुनिक जीवन से नहीं, परन्तु उन विशेषताओं से है, जो किन्हीं भी अर्थों में सर्जन को अतीत से विलग करती हैं । हिन्दी नाटक पुनर्जागरण काल की देन है । वह युग प्रत्येक दिशा में क्रान्ति औरसंक्रान्ति का काल था । ऐसे में जागरूक नाटककार ने एक दूसरी संस्कृति के प्रभाव को ग्रहण कर अपने अतीत से अलग होने का प्रयत्न किया । भारतेन्दु ने भारतीय परम्परित नाट्य-तत्वों का समन्वय किया और प्रसाद के नाटकों में यह समन्वय आत्मसात् रूप में आया है । यहां यह परिवर्तन बाह्य तो है, पर अन्त: परिवर्तन की ओर भी प्रवृत्त है । फिर भी अतीत का मोह प्रसाद को भारतीय नाट्य की आत्मा रस से अलग न कर सका । यह संधिकाल था, जहां नवीन का आग्रह और अतीत का मोह बराबर बना हुआ था।

प्राचीन-नवीन के संघर्ष से नई राह मिली जो प्रसाद के बाद के नाटकों में प्रकट होने का प्रयास करती है । भरत का नाट्यशास्त्र वहां भुला दिया जाता तथा पाश्चात्य नाट्य सिद्धान्तों को अपनाने की प्रवृत्ति विकसित होती है । उस स्वरूप में नाट्यकार जीवन की अभिव्यक्ति या यथार्थ चित्रण के लिए उपयुक्त अथवा समर्थ तत्वों को पाता है । फलस्वरूप विषय-वस्तु जीवन के मध्य से ली जाती है और अभिव्यंजना पद्धति नये आयामों की खोज करती है । उद्योग, अर्थ, विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विकसित होते क्षेत्र में जीवन के मुल्य बदल जाते हैं । आध्यात्मिकता से भौतिकता की दौड़ में मनुष्य के पास अवकाश के क्षण कम हो जाते हैं, नये यंत्रों के आविष्कार से मनोरंजन के कहीं अधिक सम्पन्न साधन प्रस्तुत होने लगते हैं । एक तो भारत में वैसे ही प्रतिष्ठित व्यावसायिक रंगमंचों का अभाव रहा है, दूसरे हमारा नाट्य-साहित्य भी इतना समृद्ध नहीं रहा है कि बरबस दर्शकों को अपनी और आकर्षित करता, अतः नाटक विश्वविद्यालयों तथा स्कूल-कालेज के रंगमंचों पर ऐसे ही अन्य समारोहों तक सीमित हो जाता है । इस सीमा में पाश्चात्य रचनाओं से प्रभावित, नाटक का मिनीएचर रूप एकांकी जिसे रूपक-उपरूपकों के साथ जोड़ने का प्रयास किया जाता है-- अस्तित्व में आता है । कम समय में जीवन की एक झांकी का यह नाटकीय रूपान्तर पसन्द किया गया तथा युग और जनता की अभिरुचि का इसने काफी साथ दिया । सामाजिक व्यवस्था से विक्षुब्ध होकर नाटककार अपने परिवेश पर व्यंग्य करता है, जिसकी अभिव्यक्ति हास्य के माध्यम से हुई, आडम्बरों की बखिया उधेड़ी गई तथा मनोरंजन भी किया गया। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होने की प्रवृत्ति ने गीतात्मक नाट्य स्वरूप 'गीति-नाट्य' को जन्म दिया । गीति नाट्यकार मानव-हृदय में गहरे पैठकर उसके राग-विरागों, विचारों और अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण करके, अन्तर्जीवन की वास्तविकताओं को सामने लाने का प्रयत्न करता है । 'गीति नाट्य' में मानव-हृदय की समस्याओं को प्रधानता दी गई । यथार्थ चित्रण के आग्रह के विपरीत अतिकल्पना मूलक कथावस्तु को लेकर 'फेंटेसी' नाट्य रूप सामने आया । फ्रायड के मनोविज्ञान को लेकर 'स्वप्न नाटकों' की रचना की गई, जिससे 'स्वप्न-नाटक' उत्पन्न हुआ । तीव्र संवेगों का, गीत

एवं संगीत के साथ जहाँ कई पात्रों द्वारा कार्य-व्यापार को अधिकता में चित्रण किया गया, वहाँ 'भावनाट्य' तथा जहाँ एक ही पात्र कार्य व्यापार को वहन् कर चला वहाँ 'मोनोलाग' नाट्य रूप विकसित हुए। वैज्ञानिक आविष्कार के कारण 'रेडियो नाटक' अस्तित्व में आया। जिसमें संगीत और सरल भाषा पर महत्व दिया गया। इस आविष्कार के कारण 'नाट्य रूपान्तर' नाम से नाटकों का एक और महत्वपूर्ण स्वरूप विकसित हुआ। 'नाट्य रूपान्तर' के नाम से प्रसिद्ध उपन्यासों तथा कहानियों को नाट्य रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। सम्भवत: आकाशवाणी की नाट्य साहित्य को यह सबसे बड़ी देन है। आकाश-वाणी के माध्यम से काव्य-नाटकों को भी प्रोत्साहन मिला। डोनल्ड मैकह्विनी ने अपनी 'रेडियो की कला' नामक पुस्तक में कहा कि 'रेडियो से प्रसारित कृति काव्य की भाँति ही मन पर प्रभाव डालती है। यह वास्तविकता का यथार्थ चित्र व नहीं प्रस्तुत करती, बल्कि संकेतों और व्यंजना के द्वारा रूप और आकार भाव और विचार का विस्तृत संसार हमारे सामने प्रस्तुत कर सकती है।' यह वैज्ञानिक माध्यम काव्य के अत्यन्त निकट है। रेडियो माध्यम से नाट्य के 'स्वगत नाट्य', 'संगीतरूपक', 'रेडियो रूपक' आदि कई रूप विकसित हुए जो अभिव्यक्ति के लिए कलाकार द्वारा नये माध्यमों के चुनाव तथा निर्माण की प्रकृति को स्पष्ट करते हैं।

अपने सामने आदर्श तथा उद्देश्य रखकर कला को उस व्यवहार की खोज करना पड़ता है, जिसकी आवश्यकता महसूस की जाती है, तथा इस आवश्यकता की खोज में कलाकार रूपविधान के भी भिन्न-भिन्न रूप अपनाता है। इसी कारण सर्जक का कार्य प्रयोगात्मक होता है। नि:सन्देह अस्तित्वपूर्ण तकनीक को अस्वीकार करने में संशय तो रहता है, किन्तु कला इसी राह से गति पाती है। नवीनता के मापदंड स्थापित करती है। आज जीवन मात्र किन्हीं असंगतियों, विवशतापूर्वक जीवन जीने तथा अनिच्छापूर्वक मरने, और अस्तित्वहीन स्थितियों की निराशापूर्ण व्याख्या माना जा रहा है। जीवन-जगत् की इस सारे संत्रास को, कुंठा को व्यक्त करने के लिए नाटककार नये, किन्तु किसी सशक्त माध्यम की खोज में अनेक प्रयोग कर

रहा है। ब्रेख्ट का 'एपिक थियेटर' तथा बैकेट, जान जेनेट, आयनेस्को आदि
द्वारा प्रयोगाश्रित 'एबसर्ड थियेटर' जीवन के सत्यों की खोज में सारे पुरातन
की प्रतिक्रिया है। इनके द्वारा अपनायी गयी तकनीक भी नितान्त संघर्षमय
स्वरूप का विधान है, जिसमें अभिनेता स्वयं भी एक दर्शक है। अब देखना है
कि इनके बाद नाटक किस दिशा की ओर बढ़ता है, बहुत सम्भव है वह किन्हीं
आदर्शों की खोज करे और प्रस्तुतीकरण में कहीं अधिक स्वतन्त्र और मुक्त प्रवृत्ति
वाले माध्यम को जन्म दे।

किसी भी कलारूप का अध्ययन करें तो उसके दो मुख्य रूप दिखायी देंगे-- एक,
जीवन के नाना प्रकार के आवेगों संवेगों का उदात्त रूप, दूसरा, इन्हीं आवेगों
संवेगों की स्वतंत्र अभिव्यंजना। पहला अपनी नियमबद्धता के कारण परिष्कृत
रुचि का प्रतीक है तथा दूसरा अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण जनसाधारण की
वस्तु बनता है। ये क्रमशः साहित्यिक तथा लोक रूपों में जाने जाते हैं।

भारतीय नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में भी यह बात लागू होती है। भारतीय
नाट्याचार्यों ने नाटक के जो लक्षण किये उसमें आदर्श तथा जीवन के उदात्त
रूपों को ही स्थान दिया, इससे कुछ सामग्री ऐसी भी बची, जिसके पात्र या कथा
उन लक्षणों से मेल नहीं खाते थे, जीवन के समस्त आवेग भी शृंगार तथा वीर
रसों के अन्तर्गत नहीं आते और न ही जीवनपूर्ण आदर्श है, महान् है। नाटक को
जो हम इतना महत्त्व देते हैं, उसमें सत्य है, उसके पीछे जीवन की साधना है,
कृत्रिमता नहीं। इसी कारण नाट्य के अनेकानेक अंगों-उपांगों के माध्यम से जीवन
की सर्वांगता को समाहित करने का आग्रह है। आचार्यों ने नाट्य के विभिन्न
रूपों को पात्रों की विधा, रसों की विभिन्नता तथा उनके अंक आदि की संख्या
पर निर्धारित किया है। ऐसा लगता है कि एक ही परिवार के कई सदस्य
अपनी भिन्न प्रवृत्तियों के कारण अलग होकर अलग घरों में बस जाये और तब
उस रूप में प्रत्येक एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत हो। ऐसे ही किसी सत्य की
प्रतीति नाटक के इन अंग-उपांगों के अध्ययन से होती है। उदाहरणार्थ रूपक के
भेदों में से नाटक तथा प्रकरण का संक्षिप्त परिचय नाट्य के स्वरूप में अन्तर्निहित

संघर्ष की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने में सहायक होगा । धनंजय के अनुसार नाटक की कथावस्तु का चुनाव इतिहास से किया जाना चाहिए[1] । नाटक का नायक धीरोदात्त उच्चवंश का राजर्षि अथवा पुरुष या कोई प्रसिद्ध राजा होना चाहिए,[2] वीर तथा शृंगार अंगीरस तथा अन्य रसों को अंग के रूप में प्रतिष्ठा होनी चाहिए[3] । इसके विपरीत प्रकरण का स्वरूप नाटक से भिन्न है, यद्यपि वह भी रूपक का ही एक भेद है । धनंजय के ही अनुसार प्रकरण की कथावस्तु कवि-कल्पित होनी चाहिए । उसका नायक मंत्री, ब्राह्मण या वैश्य भी हो सकता है । उसका धीर प्रशान्त होना अनिवार्य है । उसकी नायिका कुलवधू और वेश्या भी हो सकती है । शृंगार प्रमुख तथा वीर गौणरूप में आता है[4] । इसी प्रकार रूपक के अन्य भेद भी किन्हीं विभिन्नताओं या किन्हीं समन्वयों के प्रतीक है । उपरूपक जो कि नृत्य के भेद माने जाते हैं, की संख्या में मतभेद है । उनके यत्र-तत्र किये गये लक्षणों के आधार पर कोई स्वरूप स्त्री प्रधान है,[5] किसी में कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है तथा कोई भारती वृत्ति की प्रधानता के कारण अलग विकसित हुआ । किसी में नौ-दस सामान्य पुरुषों और पांच-छह सामान्य नारियों की भाव-भंगिमाएं चित्रित की जाती हैं[6] । कोई युद्ध प्रधान है तो कोई हास्य प्रधान । तात्पर्य यह कि प्रत्येक स्वरूप एक-दूसरे से किसी न किसी सन्दर्भ में वैभिन्न्य रखता है ।

राजकीय संरक्षण में होने वाले नाटकों में शास्त्रीय गुणों का होना अनिवार्य था, इसी कारण नाट्य के माध्यम से चित्रित होने वाली समस्त प्रवृत्तियों को लक्षणों

----

१ दशरूपकम् ३।२५, से

२ ,, ३।२४

३ ,, ३।३३

४ ,, ३।३६, ४०,४१,४२

५ ,, ३।४३,४४,४५

६ ,, ३।५४ से ३।६० तक

एवं नियमों के आधार पर अलग-अलग बांध दिया । इन सिद्धान्तों ने भारतीय आनन्दवादी, आशावादी तथा आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण, जीवन के उस अंश को नाट्य से निकाल दिया जो पीड़ा, दुःख, निराशा और मृत्यु का था । उसे अभिव्यक्ति मिली लोक नाटकों में । व्यक्ति-कलात्मक दृष्टि से दो विभिन्न प्रकार की स्थितियों की आवश्यकता महसूस करता है । एक ओर कल्पना और स्वप्न का संसार जिसमें व्यक्ति के पास शान्ति और व्यवस्था के लिए एक आदर्श है । दूसरी ओर उत्तेजना का चरम और आनन्दातिरेक का, जिसमें कोई शान्ति नहीं, न स्पष्टता नहीं । लोक नाट्य अपने स्वच्छन्द रूप में, जीवन को निकट से ग्रहण कर चला है । व्यक्ति की सांस्कृतिक चेतना, उसकी सामुदायिक प्रवृत्ति, किसी वंश या जाति विशेष के संस्कार इन लोक-नाटकों पर अपना प्रभाव डालते हैं । नाटक के जिस शास्त्रीय स्वरूप की चर्चा हम कर आये हैं, वह राष्ट्रीय स्तर के रंगमंच की है, क्योंकि साहित्य किसी राष्ट्र-विशेष का अधिक होता है और लोक-नाटक अपने समूह-विशेष का, जिसमें सामुदायिक संस्कृति की झलक मिलती है । असम में कीर्तनिया, बंगाल में जात्रा, बिहार में बिदेसिया, संयुक्तप्रान्त में रास-स्वांग, पंजाब में गिद्दा, गुजरात में भवाई, आन्ध्र में व यक्षगान आदि । प्रत्येक की वस्तु, आकार-प्रकार रूपविधान भिन्नता के प्रतीक हैं । लोक नाटकों में वे तत्व निहित व रहते हैं, जो समय-समय पर देश-काल के अनुरूप जीवन्त साहित्य प्रस्तुत करके लोक-नाटक को रस सम्पृक्त करते हैं । यदि सहानुभूति के साथ इस विशाल साहित्य का अनुशीलन किया जाये तो इस रंगमंच के झीने आवरण से हमारे लोक-जीवन का शताब्दियों का इतिहास झांकता हुआ दिखायी पड़ेगा । देश के विशाल जनसमूह की आशा-आकांक्षा, विजय-पराजय, आचार-व्यवहार, साहस संघर्ष आदि को जीवित कहानी मिलेगी । लोक-नाटककार नियमों रूढ़ियों, अन्ध-परम्पराओं एवं मान्यताओं के बन्धनों को तोड़ता हुआ प्रकृति के समान मुक्त बना रहता है । उसकी पर्यवेक्षण-शक्ति विलक्षण होती है । वह समाज की आवश्यकताओं, उसकी सांस्कृतिक और बौद्धिक आकांक्षाओं, रुचियों,

आदर्शों के अनुरूप अपने को सदैव बदलता है ।

ये नाटक संगीत एवं नृत्य प्रधान होते हैं ,क्योंकि अशिक्षित एवं अर्धशिक्षित जनता तक कवि-भाव पहुंचाने का वाहन मधुर गीत होता है, प्रांजल भाषा नहीं । अर्थ गांभीर्य से अपरिचित जनता को संगीत की सरसता,नृत्य की मुद्रा एवं पात्रों के अभिनय के कारण भाषा-ज्ञान की अल्पता खटकने नहीं पाता । इन्हीं कारणों से लोक-नाटकों की प्रकृति में संघर्ष तत्व अपेक्षाकृत अधिक निहित रहता है ।यह तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि त्रासदी की जितनी अधिक रचना लोक-नाटकों में हुई उतनी कदाचित् साहित्यिक नाटकों में नहीं । कारण कि जीवन की पाठशाला में शिक्षित ग्रामीण कवि यथार्थ स्थितियों के प्रदर्शन में तल्लीन रहा । उसने समाज में साधु को दुराचारी,धनी को कृपण , और डाकू को उदार देखा । उसने वास्तविक महात्मा को दुःखी और दुराचारी को सुखी देखा । उसने प्रेमियों को दीर्घकाल तक तप-साधना करने पर भी प्रणय में असफल होते देखा ।जीवन के इस संघर्ष का प्रयोग उसने किया और 'हीर रांझा' ,'लैलामजनूं' जैसे करुण नाटकों की रचना की ।

समाज की कुरीतियों पर व्यंग्य करने में यही नाटककार प्रमुख रहे । समाज के प्रत्येक क्षेत्र का स्पर्श इनकी कथाओं में मिलता है । घोर संघर्ष की स्थिति के अन्त में मृत्यु या भयानक कष्ट तो प्राय: देखने को आता है । व्यक्ति तथा भाग्य के संघर्ष में व्यक्ति की पराजय, व्यक्ति का समष्टि से, परिवार से,मनोबल से परीक्षा सत्ता से, शासक से संघर्ष की अत्यन्त प्रभावोत्पादक स्थिति दिखायी देती है । इसी आधार पर 'भक्त प्रह्लाद','मोरध्वज','हरिश्चन्द्र','सती-सावित्री' 'श्रवणकुमार' आदि नाटक युगानुरूप अपनी कथा में अन्य कई नवीन तत्व को ग्रहण करते चलते हैं ।

कोई भी कला अपने माध्यम में सर्वप्रथम परिवर्तन की कामना करती है तथा नया से नया उपकरण तलाशने की चेष्टा में रहती है । साहित्य या नाट्य के क्षेत्र में भाषा एक ऐसा साधन है,जो भावानुरूप परिवर्तन की प्रबल अपेक्षा करती है[१] ।

---

१ 'यह कहना अनावश्यक है कि सम्प्रेषण का सर्वाधिक सशक्त माध्यम भाषा है'

-- लौडरफेड : क्रियेटिव एंड मेनटल ग्रोथ',पृ०१५

भाव और रूप-विधान भले ही एक हों, पर भाषा का रूप उस सारी अभिव्यक्ति को नयापन दे देता है । बौउरा के अनुसार 'शब्दों में परिवर्तन की आवश्यकता नवीनता के लिए पड़ती है'[१] । इसी कारण प्रत्येक युग का साहित्य अपने लिए नये शब्दों को गढ़ता है, उन्हें नये अर्थ देता है और आवश्यकतानुसार जहां से जो उपयुक्त समझता है ले लेता है । कला का वर्ग लोकप्रियता की भाषा पर प्रभाव डालती है । अपनी सीमाओं के कारण ही साहित्यिक नाटकों की भाषा और लोक-नाटकों की भाषा में पर्याप्त वैभिन्य होता है । कुछ माध्यमों की भाषा को संगीत का सहारा मिल जाता है और कुछ को सम्पूर्ण अर्थ वहन करने पड़ते हैं । लेखक विशेष की भाषा-शैली दूसरे से भिन्न होती है, इसी कारण कृति की भाषा-शैली के आधार पर उसके लेखक का अनुमान लगाया जा सकता है । भाषा की सशक्तता पर नाटक की सफलता-असफलता निहित रहती है, क्योंकि गहनतम भावों, आवेगों, संवेगों और मनोस्थितियों की अभिव्यक्ति भाषा करती है । अत: भावानुरूप भाषा भी भिन्न रूप ग्रहण करती है । विषय के सम्मेय भाषा का निर्वहण न होवे पाने के कारण 'कोणार्क' जैसे नाटक के नाट्यकार की दूसरी कृति 'पहला राजा' असफलता की आलोचना ओढ़कर रह जाती है ।

उपसंहार

कला के विकास में संघर्ष की बात चलती है जो महान् विद्वानों का यह कथन, कला संस्कृति की नकल है, जीवन के यथार्थ का चित्रण है, कहीं डगमगाता-सा प्रतीत होता है । विषयवस्तु में अन्तर्निहित संघर्ष इसी कथन पर आधारित हो जाता है । अपने वास्तविक रूप में नाटक तो क्या किसी भी कला का उद्देश्य नकल नहीं रहता । कोई भी 'जीवन जैसा है' उसका चित्रण नहीं कर पाता । जीवन के चित्रण में उसकी अपनी कल्पना भी समन्वित हो जाती है । नाटककार को भौतिक जगत् से सामग्री का चुनाव करना पड़ता है । जिस क्षण

---

१ सी०एम० बौउरा : 'द क्रिएटिव एक्सपिरिअॅन्स', पृ०२

चुनाव-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उसी क्षण से वस्तु को पूर्णता देने तक संघर्ष तत्व अन्तर्निहित रहता है,क्योंकि ईमानदारी और सचाई से स्थापित करने की इच्छा किसी हि बिन्दु से स्वत: समाप्त होने लगती है और जो चित्र निर्मित ह होता है वह एक कलाकार की जीवन का एक चित्र जिसमें उन्भावित किसी-न-किसी अंश में जुड़ा रहता है, होता है । कृति के प्रति 'सत्य का आग्रह ,' पूर्णता' का प्रयास, प्रत्येक कलाकार द्वारा भिन्न रूप में प्रकट होता है । अत: कोई भी कलाकृति कलाकार की दृष्टि से,उसकी व्यक्तिगत कल्पना से एक 'पूर्ण चित्रण' भले ही हो, पर प्रेक्षक और पाठक के निकट वह क्या है, यह दूसरी बात है । साधारणतया अपनी पूर्णता के प्रयास में भी वह दूसरों की दृष्टि में अपूर्ण ही रहती है । उसकी अपूर्णता नवीन सर्जन का आधार बन जाती है ।
कलाकार नियमों से,बन्धनों से, परम्परित रूप-विधान से,भाषा से रूढ़ियों से मुक्त होने के लिए प्रतिक्रिया करता है,मात्र इन सबको नया रूप देकर पु: उनमें पुन: बद्ध हो जाने के लिए । उदाहरणार्थ हिन्दी नाट्य साहित्य पंचसंधियों, अर्थप्रकृतियों,कार्यावस्थाओं आदि से मुक्त हुआ तो मात्र पाश्चात्यसिद्धान्तों के अनुसार तीन अन्वितियों में बंध जाने के लिए । इसकी प्रतिक्रिया में प्रेक्षक की कल्पना पर जोर देने की रूढ़ि ने आज के नाट्य-साहित्य को आबद्ध कर लिया है । कोई भी कलाकृति जब पुरातन समस्त से अलग दिखायी देती है, तो भिन्न अस्तित्व में स्थापित होने के बाद वही नये सिद्धांतों का मापदण्ड बन जाता है ।
अपने-बन

अपने वास्तविक रूप में कोई भी कला बाह्य से अन्त: की ओर का संघर्षमय विकास है । जीवन के निर्माण का यह द्वन्द्व अन्तर्जीवन के निर्माण का है । बाह्य रूपों या क्रिया-कलापों का नहीं; यह व्यक्तिमात्र के अन्तरतम विचारों,संवेगों, अनुभूतियों,मनोभावों का निर्माण है । इसी तरह समाज के बाह्य परिवेश का नहीं, उसके अन्तर्भुत वातावरण का, उसकी संवेदना का है । श्रेष्ठ और ईमानदार कलाकार वह नहीं है, जो मात्र रूप-विधान के निर्माण में अपनी कार्यकुशलता का

परिचय देता है, अपितु वह है जो अपने हल्के से स्पर्श से जीवन के स्पन्दन को भावक तक सम्प्रेषित कर पाता है और तदानुरूप रूप-विधान का श्रेष्ठ निर्मित करता है, सूक्ष्म संवेदना को संवेद्य बनाता है ।

इस सम्पूर्ण पृष्ठभूमि पर स्तर रूप में एक शाश्वत रूप इस उभर कर आता है कि किसी भी तत्व के विकास का अन्तर्भूत मूल संघर्ष है । d सब एक ही नियम से परिचालित है । प्रकृति, समाज, संस्कृति, मूल्य, धर्म और राजनीति और कला जो है, या जिस रूप में सामने आती है, वह एक निश्चित चरम सीमा पर आये हुए एक विकास क्रम के ध्वंसावशेष का पुनर्निर्माण है, युगानुरूप और आन्तरिक आवश्यकता के अनुरूप आन्तरिक चित्तवृत्तियों का प्रस्तुतीकरण है । उत्कर्ष की चोटी के अपकर्ष ढलाव पर नये आयामों के सर्जन का नियम व्यक्ति और कला के सन्दर्भ में विशिष्ट हो उठता है । व्यक्ति की उर्जा, सक्रियता में अतिशयता से ग्रस्त होती है और वह उसका सार्थक प्रयोग करना चाहता है । यह भी प्रारम्भिक व्याख्या जिसने व्यक्ति के सर्जन के कारणों की खोज की । आज मनोविज्ञान की विस्तृत व्यापक खोज सिद्ध करती है कि सार्थक सर्जन का आधार व्यक्ति-मात्र का अन्तर्मन है, जिसे जीवन की जटिलताओं, क्षण-क्षण बदलते मूल्यों, मान्यताओं और परम्पराओं के बीच वह प्रतिक्षण अनुभव करता है। मनोत्थान और आत्मलोडन के क्षण किसी अधिक सार्थक और अधिक सत्य की खोज में बाह्य उद्वेलनों से सन्तुलित होकर मूर्त रूपाकार लेते हैं । और सत्य का यह खोज कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि इसी में ब्रह्माण्ड की गति है । किन्तु सामान्य की यह निश्चित परिवर्तन-प्रक्रिया नाट्य व के सन्दर्भ में विशिष्ट हो जाती है और नाटक अपनी विशिष्टता में दूसरी कलाओं से इस स्तर पर भिन्न हो जाता कि अन्य कलाओं में रचनात्मक स्तर पर संघर्ष, नये रचना-विधान और नयी रचना-शैलियों के माध्यम से परिवर्तन की दिशाओं के अन्वेषण में

सहायक होता है, किन्तु नाटक के आन्तरिक संरचना में संघर्ष अन्तर्विरोध अन्तर्निहित है, और साथ ही परिवर्तन की नयी दिशाओं का उद्घाटन अन्य कलाओं के समान सम्पूर्ण युगीन रचनात्मक स्तर पर भी घटित संघर्ष को प्रस्तुत करने में मूलाधार है ।

-:-

द्वितीय परिच्छेद : नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष

संघर्ष का महत्व

भारतीय मत और रस

पाश्चात्य मत और संघर्ष

दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्राच्य और पौर्वात्य जीवन-दृष्टि

तुलना

रस और संघर्ष का समन्वय

संघर्ष परिभाषा, व्याख्या और आयाम

संघर्ष परिभाषा और व्याख्या

संघर्ष की विशेषता

इच्छा

नाटकीयता

सन्तुलन

संघर्ष के स्थापित आयाम

बाह्य संघर्ष

अन्तः संघर्ष

युग संवेदना

आन्तरिक रचना

रूप बंध

'गति और विदग्धता का,जो नाट्य रूप के सार तत्व हैं, सभी देशों के महान् नाटकों में प्रमुख स्थान है,क्योंकि नाटक मूलत: कार्य-व्यापार और संघर्ष है । किन्तु इन मूलभूत विशेषताओं का निर्वहण विभिन्न सभ्यताओं के दर्शन और प्रकृति के अनुरूप अत्यन्त भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है । भारतीय रंगमंच अपने निजी रूप के अनुशासन के लिए,जो अन्तत: एक जीवन सूत्र को ही प्रतिबिम्बित करता है, इतनी गम्भीरता से प्रतिबद्ध है कि वह ऐसी बहुत सी बातों को ... नहीं मानता जो पश्चिम के गम्भीर नाटकों में विभिन्न युगों में सर्वथा आवश्यक मानी जाती रहीं ।'

— हेनरी डब्ल्यु वेल्स

द्वितीय परिच्छेद

-0-

नाटकीय परिकल्पना में संघर्ष

संघर्ष का महत्त्व

नाटक सभी कलाओं में अत्यधिक शक्तिशाली तथा श्रेष्ठ है,क्योंकि जब एक व्यक्ति-समूह उसे देख रहा होता है, तो दूसरा व्यक्ति-समूह उन दृश्यों को प्रस्तुत कर रहा होता है जो कि व्यक्ति के अनुभवों को इस प्रकार व्याख्यायित करते हैं,मानों यह सब अभी ही बीत रहा है, नाटक में ज़िन्दगी के बीते हुए अनुभव क्षण व्यातीत न रहकर वर्तमान के हो जाते हैं । नाटक अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक वस्तुवादी तथा वस्तुनिष्ठ होते हैं, क्योंकि वह केवल पात्रों के कार्य तथा कथन के माध्यम से कहानी-विशिष्ट रूप से बाह्य तथा अन्त: अनुभवों को कहता है और संघर्ष प्रस्तुत करता है । नाटक का कार्य-व्यापार व्यक्ति का अनुकरण नहीं, जीवन का प्रस्तुतीकरण है । जीवन गतिशीलता का पर्याय है । इसी गतिशीलता के नाटकीय रूपान्तर में नाटककार सबसे अधिक महत्त्व कार्य को देता है, कारण,कार्य की कल्पना के अभाव में नाटक परिकल्पित ही नहीं किया जा सकता है । रंगमंच की कसौटी पर पात्र सुस्थिर या क्रियाहीन रूप में नहीं दिखाये जा सकते । कार्य कथावस्तु के विकास के साथ चारित्रिक विकास को भी दिखाता है । प्रेक्षक की भावना का परिष्कार(कथार्सिस) या उसका उदात्तीकरण (साधारणीकरण) बिना कार्य के सम्भव नहीं है और नाटक,नाट्य-शास्त्रीय विवेचना के अनुसार जिस उद्देश्य को लेकर चलता है, वह तभी प्रतिफल हो सकता है,जब उसमें कर्म या कार्य का क्रमिक विकास हो । ग्रीक और संस्कृत नाट्यशास्त्र दोनों ही किसी-न-किसी रूप में `कर्म' की महत्ता को स्वीकार करते हैं । एक यदि नाटक के कार्य को जीवन का अनुकरण मानता है तो दूसरा अवस्था को,और तदनुरूप दोनों संघर्ष और रस की महत्ता स्वीकार करते हैं, पर

दोनों के मूल में चेष्टाओं की महत्ता सर्वोपरि है । शाब्दिक अर्थ में नाटक एक ओर नृत,नृत्त नृत्य का क्रमिक विकास है, जिसमें नृत्य ही स्वयं में कार्य को समाहित किए हुए है तथा दूसरी ओर ग्रीक शब्द 'ड्रामा' का अर्थ ही 'करना' है । इस 'करना' क्रिया से कार्य अर्थ का विकास हुआ तथा नाटक के निर्माण का मूलभूत आधार माना गया । यह कार्य चाहे किसी 'डेमीगाड' का रहा हो या किसी साधारण व्यक्ति का पर वस्तुत: नाटक के निर्माण का आधार-प्राय: सभी देशों में-कार्य ही है । यह भी निश्चित है कि कार्या-भाव में नाटक नाटकत्व न रहकर स्थूल विवरण मात्र रह जायगा । कार्य नाटकीय स्वरूप को सन्निकट एकता में बांधकर आद्यान्त नाटक में व्याप्त रहता है तथा नाटकीय प्राणों को सम्भव बनाता है । व्यापक अर्थ में नाटक व्यक्ति के कार्य का प्रस्तुतीकरण है,किन्तु यह कार्य केवल शारीरिक हरकतों का ही प्रदर्शन नहीं है, क्योंकि यह बहिर्मुखी बाह्य कार्य-व्यापार के साथ मानसिक तथा मनोवैज्ञानिक क्रियाशीलताओं को भी प्रस्तुत करता है । नाटक में इसी कारण कार्यरत व्यक्ति अनुभवों,विचारों तथा कार्य की पूर्ण श्रृंखला का पर्याय है ।

नाट्यालोचन से सम्बन्धित पुस्तकें कार्य की व्याख्या 'संघर्ष' के रूप में करती हैं और संघर्ष को किन्हीं चरित्रों,पात्रों या वातावरण में सन्निहित मानती हैं । नाटक का पूर्ण कार्य-व्यापार ऐसी प्रमुख परस्पर सम्बन्धित घटनाओं का गुम्फन है,जो कि प्रथम अंक में प्रदर्शित समस्या या समस्याओं का उद्घाटन एवं समाधान करती है । उन्हीं इन समस्याओं या बाधाओं से पात्र अपने व्यक्तित्व के अनुरूप प्रतिक्रिया करते हैं तथा प्रस्तुत परिवेश और बाधाओं से संघर्ष करते हैं । यह संघर्ष साधारणतया नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक रहता है तथा संघर्ष की प्रवृत्ति-- तीव्रता, तीक्ष्णता तथा कौतूहल-- धीरे-धीरे किसी संक्रान्ति की ओर अग्रसरित होती हैं जो संघर्ष के प्रतिफल की चरम सीमा मानी जाती है । यह चरम सीमा वस्तु को निश्चयात्मक आयाम दे सकने वाला वह संधि-स्थल है,जहां सारा कार्य-व्यापार एक बिन्दु पर किसी टूटन का एहसास उत्पन्न करता है । चरम सीमा के बाद यह अनुभव होने लगता है कि नायक या तो अपने इच्छित फल को प्राप्त कर लेगा, यद्यपि वह तब तक संघर्षमयी स्थितियों से स्वयं को अलग नहीं कर पाता है अथवा यह अनुभव दे सकता है कि उसका निरन्तर संघर्ष करना व्यर्थ है,क्योंकि अन्तत: उसे विजित ही होना है । आवश्यक नहीं कि चरम सीमा संघर्ष की समाप्ति का उद्घोषक ही हो । वह संघर्ष को नये आयाम भी दे सकता है और इस तरह संघर्ष --संक्रान्ति-संघर्ष का अनुक्रमण नाटकीय

परिकल्पना का आधार हो सकता है,जो प्रमुखरूप से मुख्य संक्रान्ति की ओर ही अनुसरित होगा । मधुलय इस बात का रहता है कि कोई प्राप्त,कितना नाटकीय है ।
संघर्ष पूर्ण स्थितियाँ एक प्रकार के सन्तुलन से विकसित होती हैं । यह सन्तुलन व्यक्ति तथा परिस्थितियों के सन्तुलित परिवर्तन पर निर्भर करता है । दूसरे शब्दों में नाटक छोटे बड़े सन्तुलन-परिवर्तन (संघर्ष-संक्रान्ति) में कार्य का अध्ययन है । कार्य को मात्र मानसिक या मात्र शारीरिक कहकर नहीं टाला जा सकता । दोनों का समन्वय एक पूर्ण कार्य का बोध देता है ।
संक्षेपतः नाटक का शरीर ऐसी प्रमुख घटनाओं-- संघर्ष का -- का गुम्फन है,जिसमें नायक उद्देश्य प्राप्ति के लिए मार्ग में आयी कठिनाइयों से निरन्तर है,उसका यह द्वन्द्व ऐसे चरम की ओर विकसित होता है,जहाँ से पूर्ण संघर्ष संक्रान्ति की स्थिति से नये आयाम लेता है । व्यक्ति एवं परिस्थिति के सन्तुलन में परिवर्तन द्वारा नाटकीय संघर्ष व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर घटता है । नाटक में प्रस्तुत संघर्ष किसी भी स्तर का तथा किसी भी तीव्रता का हो सकता है,किन्तु उसकी नाटकीय सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि वह नाटक में इस तरह से नियोजित किया गया हो कि शीघ्र ही प्रेक्षक को अपनी और आकर्षित कर उसकी रुचि को क्रमिक विकास में साथ-साथ लेकर चले । संघर्ष जहाँ जीवन की निकटतम सीमा-रेखाओं का स्पर्श करता है, वहाँ वह अधिक सजीव हो उठता है और जहाँ जितना सन्तुलित सन्दर्भ में होता है,वहाँ उतना ही आनन्द का विषय भी बन पाता है । तात्पर्य नाटक अपने व्यापक अर्थ में संघर्ष में केन्द्रित है । यदि रंगमंच पर अभिनेता अपने मार्ग में आयी बाधा से अनभिज्ञ है तो भी प्रेक्षक जानता है,वहाँ एक सक्रिय संघर्ष है, वास्तविक या सन्निकट । प्रेक्षक इस संघर्ष को यदि कार्य रूप में नहीं देखता तो भी वह किसी तनाव में ही उसे अनुभव कर रहा होता है । पात्रों की बाधाओं के प्रति प्रतिक्रिया नाटक का निर्माण करती है । यह प्रतिक्रिया चाहे शारीरिक ,मानसिक या आध्यात्मिक हो, चाहे इच्छाओं की हो या अनिच्छाओं की,पर यह संघर्ष है, अतः नाटक है ।

नाटक में व्याप्त संघर्ष साधारणतया किसी एक मुख्य पात्र द्वारा वहन किया जाता है, और शेष सारी व्यवस्था उसकी सहायक बनकर आती है । यह प्रमुख पात्र भारतीय दृष्टि में,अपने सामने एक उद्देश्य रखकर, मार्ग की समस्त बाधाओं से द्वन्द्व करता उनका अतिक्रमण कर विजय पाता हुआ उद्देश्य प्राप्ति कर लेता है । पाश्चात्य दृष्टि में बाधाओं और स्थिति में फँसकर निरन्तर नायक मार्ग की प्रशस्ति के लिए प्रयत्न करता है और

साधारण तया लक्ष्य-प्राप्ति की अपेक्षा संघर्ष में उलझता निरन्तर उससे दूर ही होता जाता है और पराजय अथवा मृत्यु को प्राप्त करता है । शेक्सपीअर के नायक अपनी परिस्थितियों में जानकर या अनजाने में इस प्रकार उलझ जाते हैं कि उनसे बाहर निकलने का असफल प्रयास बारम्बार उनके जीवन को विनाश की ओर ले जाने का कारण बनता है,जब कि भवभूति या कालिदास के नायक मार्ग की बाधाओं का अतिक्रमण कर लक्ष्यप्राप्ति में सफल होते हैं । संघर्ष दोनों परिकल्पनाओं में है, पर भारतीय दृष्टि संघर्ष को जीवन का आवश्यक कर्म मानकर,सुख और आनन्द प्राप्ति का साधन मानकर चलती है अत: वह इस पर बल देती है और पाश्चात्य दृष्टि जीवन को मूलत: संघर्ष और दैवी शक्तियों के सामने पराजय को अवश्यम्भावी मानकर चलती है, परिणामत: संघर्ष वहाँ महत्वपूर्ण है ।

भारतीय मत और रस / भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में वर्णित धारणा के अनुसार सांसारिक दु:खों से ऊबकर, एक बार सभी देवता इन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मा के पास इस आशय से गये कि वे किसी ऐसे मनोरंजन को उद्भव करें जिससे मानवमात्र का कल्याण हो,जो चक्षु और कर्ण को आनन्द प्रदान करने वाला हो । दैहिक-भौतिक दुखों से, कुछ क्षणों के लिए ही सही,प्रजाजनों को ऊपर उठा सकें तथा मनुष्यों को स्वत: ही कर्तव्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सके[१] । वेदों में यद्यपि ऐसा निर्देश दिया गया है पर वेदों के अध्ययन के अधिकारी सभी वर्ग के मनुष्य नहीं थे । त्रेता युग में राजाओं का स्वार्थपूर्ण आचरण जनसाधारण के जीवन को दु:खमय बना रहा था। दु:ख से पलायन के लिए मनुष्य आनन्द की खोज में रहता है । इस सांसारिक दु:ख से बचने के लिए ब्रह्मा ने मनुष्यमात्र के मनोरंजन के लिए पंचमवेद,'नाट्यवेद' की रचना की जिसमें ऋग्वेद से पाठ्य,सामवेद से गीत,यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया । ब्रह्मा ने भरतमुनि को आदेश देकर नाट्यशाला का निर्माण करवाया और सर्वप्रथम जो नाटक खेला गया वह देव-दानवों का युद्ध था । इस नाटक में दानवों को पराजय दिखलायी गयी । दानवों के रोष प्रकट करने पर उन्हें यह समझाया गया कि नाटक में पक्षपात के लिए स्थान नहीं है । उसमें विश्व की समस्त परिस्थितियों एवं घटनाओं का अनुकरण रहता है । नाटक देव-दानवों का अनुकरण नहीं है,वह तो 'त्रैलोक्यस्यभावानुकीर्तनम्'[२] है । यह

---

१ 'नाट्यशास्त्र' : भरतमुनि , प्रथम अध्याय

[illegible]

[illegible]

२ 'नाट्यशास्त्र' : भरतमुनि, प्रथम अध्याय

नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्य-सिद्धान्तों का आधार बना तथा भरतमुनि ने नाटक के मुख्य तत्वों का विवेचना करते हुए वस्तु, रस और नेता में से सर्वाधिक महत्व रस को दिया और रस के पोषक तत्वों के रूप में शेष नाट्यतत्वों का अस्तित्व स्वीकार किया।[१] अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के आधार पर नाटक का परिभाषा करते हुए बताया कि 'नाटक प्रत्यक्ष, कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य और असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण कर सर्व साधारण को आनन्दोपलब्धि कराता है।' आनन्द मंगल का वाचक है और रस है।[२] इस रस को पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है। यह रस सबको आनन्दित करता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि रस आनन्द अंशमात्र के आश्रय से सब प्राणी जीवित रहते हैं और आनन्द में ही लय भी होते हैं। नाट्यशास्त्र में रस की जो महत्ता स्वीकार की गयी है, वह जीवन के आन्तरिक परितोष अथवा आनन्द का ही दूसरा नाम है। इसी कारण कोई भी नाट्यांग रस के बिना नहीं हो सकता,[३] भरतमुनि की यह स्थापना रस को नाटक के प्राणतत्व के रूप में प्रतिष्ठित करता है। विद्वानों ने यहां तक स्वीकार किया कि जो कवि (नाटककार) शब्द तथा अर्थ के चमत्कार के कारण इस रूप अमृत से पराङ्मुख हो जाते हैं, वे विद्वान् होते हुए भी उत्तम कवियों की गणना में नहीं आते।[४] सर्वत्र ही 'रससिद्धाः कवीश्वराः' की प्रशंसा की गयी है। कवि (नाटककार, प्रबन्धकार) की समग्र चेतना एकमात्र रस-विधान में ही संलग्न रहती है[५] तथा नाटककार का एकमात्र लक्ष्य रस की पुष्टि एवं सिद्धि करना है।

~~१ भरतमुनि- :'नाट्य-शास्त्र', प्रथम-अध्याय~~

१ अभिनव गुप्त :'नाट्य दर्पण'

२ 'रसो वै सः। रसह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। एष ह्येवानन्दयति।'

--'तैत्तिरीय उपनिषद्' : २.७.१

३ 'नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते'

--'नाट्यशास्त्र'

४ 'नानार्थशब्दलौल्येन परांचो ये रसामृतात्।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम्॥'

-- हिन्दी नाट्य दर्पण, पृ० ५८

५ 'रस विधानैक चेतसः कवेः।'

-- ,, ,, पृ० १६६

भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में सविस्तार प्रतिपादित किया कि नाट्य का वस्तु, अभिनय तथा संगीत का विधान सर्वथा रसानुकूल होना चाहिए । इसी प्रकार नाट्य वृत्तियाँ भी पूर्णत: रसाश्रयी मानी गई हैं । नाट्य में प्रयुक्त काव्य तत्व के लिए 'बहुकृतरस मार्ग'[1] होना आवश्यक है । भरत ने अलंकार, लक्षण (काव्य बंध) गुण और दोष का विवेचन वाचिक अभिनय के अंग रूप में किया है और यह वाचिक अभिनय रस का साधन है । काव्य के ये सभी तत्व भी परम्परा सम्बन्ध से रस के आश्रित हो जाते हैं[2] ।सूत्रधार और प्रेक्षक दोनों की दृष्टि से भाव तथा रस का आश्रय मुख्य माना गया[3] । प्रेक्षक समाज की दृष्टि से दोनों प्रकार की सिद्धि-मानवीय, दिव्य-वाणी, मन और शरीर से संभूत एवं नानाभावों तथा रसों पर आश्रित माना जाता है[4] ।

इस प्रकार सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र में उसके अन्तर्गत नाट्य प्रसंगों के विधान एवं निवेचन में रस प्राणधारा के समान परिव्याप्त है । नाटक के उद्देश्यों में भी रस का प्राधान्य है । पाठक या प्रेक्षक के हृदय को रस विभोर कर उसकी वृत्तियों का उदात्तीकरण ही नाटककार का प्रमुख उद्देश्य रहा । अत: शिल्प के विचार से रस परिपाक के अनुकूल ही सारी सामग्री जुटाई जाती रही । हिन्दी नाटक के चिन्तन पक्ष में भी रस साध्य रूप में विद्वानों द्वारा स्वीकार किया गया । "नाटक में चरित्र-चित्रण और स्वभावनिरूपण अन्तत: साधन ही है, साध्य नहीं । मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य की सूक्ष्म विशेषताओं का चित्रण कितना ही मार्मिक क्यों न हो, काव्य में वस्तु चित्र मात्र ही है । वह काव्योपयोगी तभी होगा, जब कवि या नाटककार की मूलवर्ती भावधारा या कला का अंग बनकर आवे, काव्य में अन्तर्भुक्त हो जाये[5] ।"जयशंकर 'प्रसाद' भी

---

१ मृदुललितपदाढ्यं गूढशब्दार्थहीनं ।
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम् ।।
बहुकृतरसमार्गं संधिसंधानयुक्तम् ।
स भवति शुभकाव्यं नाटके प्रेक्षकाणाम् ।। -- भरतमुनि : 'नाट्यशास्त्र', १६ :१२४

२ एवमेत ह्यलङ्कारा गुणा दोषाश्च कीर्तिताः ।
प्रयोगमेषां च पुनर्वक्ष्यामि रस संश्रयम् ।।-- ,, : ,, १६ :१००

३ एवं रसानां भावानां व्यवस्थानमिह स्मृतम् ।
य एवमेताजानाति स गच्छेत्सिद्धिमुत्तमाम् ।। -- ,, : ,, ७ :१२६

४ सिद्धि तु द्विविधा ज्ञेया मानुषी दैविकी तथा ।
वाङ्मनःकाय सम्भूता नानाभावरसाश्रया ।।--,, : ,, २७ : २

५ नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आधुनिक साहित्य'

व्यक्ति-वैचित्र्य के अन्तर्गत किये गये चरित्रांकन को रस में व्याघात पहुंचाने के कारण साधन ही मानते हैं। उनका कथन है --"यह विचारणीय है कि चरित्र चित्रण को प्रधानता देने वाले ये दोनों पक्ष रस से कहाँ तक सम्बद्ध होते हैं। इन दोनों पक्षों का रस से सीधा सम्बन्ध तो नहीं दिखाई देता, क्योंकि इसमें वर्तमान युग की मानवीय मान्यताएं अधिक प्रभाव डाल चुकी हैं, जिसमें व्यक्ति अपने को विरुद्ध स्थिति में पाता है, फिर उसे साधारणत: अभेद वाली कल्पना, रस का साधारणीकरण कैसे हृदयंगम हो? वर्तमान युग बुद्धिवादी है, आपातत: उसे दु:ख को प्रत्यक्ष मान लेना पड़ता है। उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य सा है .... भारतीय आचार्यों को निराशा न था, करुण रस था। उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार आनन्द लेने को सुख माना है[1]।" इस भारतीय रसवाद को भारतीय दर्शन से सम्बन्ध जोड़ते हुए वे स्पष्ट कहते हैं कि "आत्मा की अनुभूति व्यक्ति और चरित्र-वैचित्र्यों को लेकर ही अपनी सृष्टि करती रही है। भारतीय दृष्टिकोण रस के लिए इन चरित्र-वैचित्र्यों को साधन मानता रहा है, साध्य नहीं[2]।"

लौकिक जीवन में जिस प्रकार व्यक्ति को शोक, भय आदि की अनुभूति होती है, वैसी लौकिक अनुभूति नाट्य द्वारा नहीं होती, अपितु एक विलक्षण आनन्द ही सब प्रकार के दृश्यों से मिलता है। रस वस्तुत: सम्पूर्ण जीवन को अनुभव कर, उसका कलात्मक, आदर्श एवं आशावादी रूप ग्रहण कर लोकोत्तर होने की स्थिति है। सौन्दर्य का पारलौकिक पक्ष है। सौन्दर्य की परिकल्पना, उसका चिन्तन नाटककार करता है, किन्तु यथार्थ जगत् या भौतिकता में उसका सन्निवेश नहीं करता, यह सौन्दर्य कवि कल्पना का, कलाकार की मानवीय आदर्शता एवं संवेदना का है, यथार्थ के तनाव का नहीं। जनसाधारण को मनोरंजन के मिस आनन्दानुभूति देने के लिए सर्वत्र जिस महनीय और उदात्त वातावरण की रचना की गई, वह रस में अन्तर्मुक्त हो गया तथा उसे अखंड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य तथा अलौकिक माना गया। रस व्यक्ति को लोकस्वार्थों से ऊपर उठाता है। आनन्ददायी, विलक्षण और लोकोत्तर चमत्कार प्राण है। यहाँ नाटककार

---

१ जयशंकर 'प्रसाद' : 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० ८५

२ ,, : ,, ,, ,,

का प्रमुख उद्देश्य पाठक या प्रेक्षक के हृदय को रसविभोर कर उसकी वृत्तियों का उदात्तीकरण करना था । उदात्तीकरण की यह स्थिति साधारणीकरण द्वारा सम्भव मानी गई । नाटक में अन्तर्निहित प्रच्छन्न विचार, उसके भाव जगत की वस्तु बन जाये इस कारण नाटककार, उसको रससिक्त कर साधारणीकरण द्वारा अभिव्यक्त करता है। अत: संस्कृत-नाटकों में तत्वों के संगठन या शिल्प विचार में रस परिपाक के अनुकूल ही सामग्री जुटाई गई ।

पाश्चात्य मत और संघर्ष

पश्चिमी नाटक के उद्भव के सम्बन्ध में धार्मिक विश्वास हमें यूनान के रंगमंच की ओर ले जाता है, जिसे इतिहासकारों ने 'थियेटर आफ़ डायोनिसस' की संज्ञा दी । थियेटर आफ़ डायोनिसस वस्तुत: वहां के एक लोक देवता डायोनिसस के पूजन समारोह में गाया गया आवेशपूर्ण कोरसगान है, जो सम्भवत: उसके जन्म, एवं मृत्यु की पूर्ण कथा के लिए प्रयुक्त है । इस पूजन समारोह में बकरे की बलि दी जाती थी और तत्पश्चात् नृत्य एवं गान होता था । कुछ विद्वानों के अनुसार यह अजा किसी देव का प्रतिरूप था और इसी 'अजागीत' तथा उसके अंगविच्छेदन के द्वारा मृत्यु और त्रासद भाव से नाटक का जन्म हुआ, फलत: नायक की स्थिति बलि के बकरे के रूप में ही परिकल्पित की गई । एक दूसरा विचार यह है कि नववर्ष और पुराने वर्ष का संघर्ष कथा के रूप में एक ऐसा नाटकीय महगान प्रस्तुत किया जाता था, जिसमें नववर्ष की शक्ति या धन-धान्य की शक्ति का गान रहता[1] । डायोनिसस के कोरस में विलाप, नाश, दु:ख, खोज, करुणा, नाटकीय विवाद प्रमुख थे तो नववर्ष शक्तिगान के मूल में संघर्ष की परिकल्पना । जर्मन दार्शनिक नीत्शे[2] ने दु:खान्तकी को नाटक का मूल स्वरूप मानते हुए उसकी आत्मा में दो विरोधी भावों के समन्वय को माना । एक डायोनिसस, जो कल्पना, आवेश, उद्वेग तथा लालसा का प्रतीक है, दूसरा एपोलो, जो सामंजस्य, अनुक्रम सन्तोष, शालीनता, मर्यादा तथा प्रेम का प्रतीक है । इन विरोधों के संघर्ष में पाश्चात्य नाटक मृत्युगीत या शोकपूर्ण पूजा के तत्वों को अधिक महत्व देकर चला । इसी कारण अपने मूल रूप में त्रासदी पराजय,

---

१ द्रष्टव्य --'एनसाइक्लोपीडिया आफ़ ब्रिटानिका'

२ एस०पी० खत्री : 'नाटक की परख', पृ० ८ पर उद्धृत

मृत्यु, शोक,करुणा और भय के तत्वों से गुम्फित है । फूल,बचपन,सूर्योदय,पृथ्वी अंकुरण आदि अत्यन्त सौम्य एवं सुकुमार रूप से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे पनपते हैं और इस जीवनक्रम में अभिमान तथा पापकर्म करते हैं,तथा जिस प्रकार इस पाप के प्रायश्चित्त में उसे मृत्यु का आह्वान करना पड़ता है,उसी प्रकार जीवन के पाप का प्रायश्चित्त मृत्यु का आलिंगन है,चाहे वह आकस्मिक रूप में आये अथवा स्वयं द्वारा स्वीकृत;पापात्मा की विशुद्धि के लिए संघर्षमय जीवन की पराजय को वह स्वीकार कर लेता है । जीवन के दुःखमय अन्त को ध्यान में रखते हुए अरस्तु ने यह आवश्यक माना कि नाटककार को करुणा और भय से, अनुकरण के माध्यम से आनन्दोपलब्धि कराना होगा । इस आनन्दोपलब्धि के लिए उसने कथार्सिस का सिद्धांत रखा । जिस प्रकार रोग का निदान औषधि से होता है,उसी प्रकार व्यक्ति के विकार की विशुद्धि प्रक्रिया,रंगमंच पर भय और करुणा का प्रदर्शन कर, प्रेक्षक में भी इन्हीं भावों को उद्बुद्ध कर होती है[1] ।इसी कारण वह कथावस्तु पर जोर देता है जो कि कार्य का गुम्फन है । अरस्तु ने माना कि यह अनुकरण कार्य का होगा तथा शेष सारे तत्व इसी कार्य में अन्तर्निहित होंगे । यह कार्य या तो मित्रों का एक-दूसरे के प्रति होगा, या शत्रुओं का अथवा किसी का भी न होकर किसी ऐसे कार्य का होगा (जैसे 'ओडिपस' में) जिससे वह स्वयं अनभिज्ञ रहे और बाद में उसका संयोजन लब्धकरे । कार्य व्यापार की व्याख्या करते हुए अरस्तु ने त्रासदी को ऐसा कार्य व्यापार माना "... जो गंभीर हो, पूर्ण हो, एक निश्चित परिमाण का हो, प्रत्येक प्रकार के अलंकारों से सजी हुई भाषा से युक्त हो... जो करुणा और भय का प्रदर्शन करके इन मनोविकारों का उचित सुधार एवं परिष्कार कर सकें... त्रासदी वस्तुतः व्यक्तियों का नहीं,कार्य और जीवन,सुख और दुःख का अनुकरण होता है... नाटकीय कार्य आचरण का प्रदर्शन करने की दृष्टि से नहीं आता, वरन् आचार ही कार्यों का सहायक बनकर आता है । अतः कार्य और इतिवृत्त ही ट्रेजडी के अन्त या परिणाम ही सब बातों में मुख्य है[2] ।"

---

१ 'भारतीय नाट्य साहित्य' : डा० नगेन्द्र द्वारा सम्पादित में द्रष्टव्य डा० नगेन्द्र लिखित 'अरस्तु का विरेचन सिद्धांत' ।

२ बूचर का अनुवाद : 'पोइटिक्स', पृ० २७

अरस्तू के परवर्ती नाट्याचार्यों ने भी कार्य को महत्त्व देते हुए नाटक में तीन हिस्सा कार्य को माना[1]। वे यह स्वीकार करते रहे कि कोई भी नाटककार पूर्ण रूप से कार्य-व्यापार पर निर्भर करता है, क्योंकि जब भी वह नाटक की बात सोचता है, तो वास्तव में वह 'एक्शन' या 'कार्य' के बारे में सोचता है[2]। इस कार्य व्यापार को वहन करने का आधार पात्र माने गये और उन्हीं पात्रों को अभिव्यक्ति का माध्यम भी माना गया जो अपने क्रिया-कलापों द्वारा चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करते हैं[3]। कार्य को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसे केवल बाह्य क्रिया-कलापों का ही नहीं, आन्तरिक प्रक्रिया का भी माना गया[4]। अरस्तू ने स्थूल कार्य, घटनाएँ और स्थितियों को ही नहीं माना था और न ही मात्र सक्रियशीलता से उसका तात्पर्य था। वह सम्भवतः कार्य को संघर्ष के रूप में व्याख्यायित करना चाहता था। ऐसा संघर्ष जिसमें नायक जानता हो कि वह क्या चाहता है तथा अपनी पूर्ण शक्ति से उसे पाने के लिए प्रयत्न करता है। यह संघर्ष दो व्यक्तियों, दो समूहों या दलों के बीच, या मनोभावों, विचारों, सिद्धांतों, शक्तियों के बीच हो सकता है। इब्सन ने बताया कि इस द्वन्द्व के आरम्भ से ही नाटक प्रारम्भ होता है और इसकी समाप्ति से नाटक की समाप्ति होती है[5]। इस तरह फ़ार्म की

----

१ बार्कर : 'ड्रैमेटिक टेकनीक', पृ० २८

२ ,, : ,, पृ० २९

,, : 'कार्य शब्दों में तीव्र सम्भाषण है।' ड्रैमेटिक टेकनीक', पृ० २२

आर०जी०मौल्टन : 'द एन्शिएन्ट क्लासिकल ड्रामा', पृ० ३-४

बुचर : 'पोइट्रि एंड फ़ाइन आर्ट्स', पृ० ३३७
'कथावस्तु में कार्य का सार निहित है, जिसे अभिव्यक्ति देना त्रासदी का प्रयोजन है।'

३ 'नाटककार जानता है कि व्यक्ति जो सोचता है, वह चिन्तन में नहीं पर संक्रान्ति में उसकी प्रतिक्रिया द्वारा अभिव्यक्त है, जिससे सहज और स्वाभाविक रूप से उसका चरित्र प्रस्तुत होने लगता है।'

— बार्कर : 'ड्रैमेटिक टेकनीक'

'पात्र स्वयं में पूर्णतया वास्तविक नहीं है, जब तक कि वह क्रिया या कार्य में रत नहीं होता है।'

— हम्फ़्री हाउस : 'आरिस्टोटल्स पोएटिक्स', पृ०७१

(अगले पृष्ठ पर देखें)

व्याख्या संघर्ष के रूप में की गई तथा ब्रुनेत्यार की परिभाषा और उसकी विवेचना-आलोचना के क्रम में 'नाटक संघर्ष है' सिद्धांत की स्थापना हुई। संघर्ष के अभाव में नाटकीय परिकल्पना पर अविश्वास प्रकट हुआ, क्योंकि नाटकीयता को संघर्ष के कारण ही सम्भव माना गया।

संघर्ष की परिकल्पना, सोफोक्लीज से लेकर रंगमंच तक नाटक में आज तक है पर अपने स्वरूप में वह नितान्त भिन्न हो गई है। यूनानी नाटक में नायक अपनी स्थिति और भाग्य के आगे कुछ नहीं कर पाता और अपने असहायत्व में वह प्रत्येक आने वाली पीड़ा के आगे सिर झुका देता है। दैवी शक्तियाँ और मनुष्य के असहायत्व का यह संघर्ष शेक्सपीयर के नाटकों में नायक की किसी चारित्रिक त्रुटि के कारण उत्पन्न होता है। अपनी महत्वाकांक्षाओं में घिरा नायक अपनी ही कमी के कारण विनाश को प्राप्त करता है। शेक्सपीयर के बाद इब्सन के नाटकों से यह अलौकिकता सामाजिक यथार्थ के

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी)

४ द्रष्टव्य ए०सी० ब्रेडले : 'शेक्सपियरियन ट्रेजडी'

काकर : 'ड्रैमेटिक टेकनीक'

थामपसन : 'द एनाटामी आफ़ ड्रामा'

५ हडसन : 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ़ लिटरेचर', पृ० १६६

---

१ 'संघर्ष जीवन का अति नाटकीय तत्त्व है और अनेक नाटक-- सम्भवत: अधिकांश-- वास्तव में, किसी न किसी प्रकार के संघर्ष पर निर्भर करते हैं।'

-- आर्चर --'प्ले मेकिंग', पृ० २१

'जो भी हो, नाटकीय वस्तु का आधार तथा मेरुदंड किसी भी प्रकार का संघर्ष है

--हडसन : 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु द स्टडी आफ़ लिटरेचर', पृ०१

'अन्त सामन्जस्य का हो या असामंजस्य का, या जीवन के सदृश्य अनिश्चित, किन्तु संघर्ष अपरिहार्य है। संघर्ष नहीं, नाटक नहीं।'

-- शा : 'प्लेज् प्लेज़ेन्ट एंड अनप्लेज़ेन्ट--(प्रीफ़ेस)--शा' पृ०६

'सभी नाटक स्वभावत: संघर्ष से निःसृत हैं।'

-- निकॉल : 'थीअरि आफ़ ड्रामा', पृ० ६२

धरातल पर उभर आता है । नायक का संघर्ष सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के लिए प्रस्तुत किया जाने लगता है तथा संघर्ष नाटकों में अन्तर्निहित हो जाता है,जो अपने स्वरूप में उस अर्थ में त्रासद भी नहीं है,जिस अर्थ में यूनानी नाटक त्रासद रहा है ।शेक्सपियर, इब्सन आदि के नाटकों में संघर्ष का यद्यपि सूक्ष्म और सघन स्थितियां हैं पर यूनानी त्रासदी में संघर्ष की जो स्थिति है,उससे वह भिन्न है । एबसर्ड रंगमंच तक आते-आते माध्यम और रूपबंध के बदलते आयाम के कारण नाटक में संघर्ष की परिकल्पना अपना तीव्र विस्तार करती है । इस गति यात्रा में नाटक स्थूल से सूक्ष्म,आदर्श से यथार्थ और यथार्थ से सांकेतिकता और व्यंजना की ओर निकला है । 'ओडिपस','मैकबेथ','डाल्स हाऊस','राइडर्स टू द सी','सिक्स कैरेक्टर इन सर्च आफ़ एन ऑथर','डेथ आफ़ ए सेल्समैन','वेटिंग फ़ार दी गोडो', 'द चेयर','बाल्ड सोप्रिनो' आदि नाटकों में देखें तो यह अन्तर स्पष्ट दिखाई देगा । जो बाह्य के साथ आन्तरिक परिवर्तन का भी है । स्वरूप,माध्यम और तकनीक का भी है ।

दार्शनिक पृष्ठभूमि

प्राच्य और पाश्चात्य जीवन दर्शन / नाटक में गति और कार्य को समान रूप से महत्वपूर्ण मानते हुए भी संघर्ष की परिकल्पना पूर्व और पश्चिम के नाटकों में नितांत भिन्न रही । यह वैभिन्य मूलत: विभिन्न जीवन-दृष्टि या चिन्तन की भिन्नता का है । आज आधुनिक हिन्दी नाटक भले ही पश्चिम के अर्थ में संघर्ष को महत्व देने के प्रयास में जी रहा है, पर मूलभूत अन्तर जो दोनों संस्कृतियों के नाट्य साहित्य में रहा है, वह अनदेखा नहीं किया जा सकता । 'रस' और 'संघर्ष' वस्तुत: जीवन के प्रति प्रत्येक के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं । भारतीय नाटक के मूल में कार्य 'लोकोत्तर' या 'परमानन्द' का साधक रहा और पाश्चात्य नाटक में 'त्रासदी' 'पराजय' और 'मृत्यु' का । इस वैभिन्य के मूल में पूरब और पश्चिम का चिन्तन है । जीवन दर्शन है जो साधारणतया किसी भी राष्ट्र के साहित्य के निर्माण में एक दृष्टिकोण

देता है । भारतीय दर्शन में मुख्यत: अन्तः आत्मा के ज्ञान पर जोर दिया गया है और पश्चिमी दर्शन में बाह्य अर्थात् भौतिक जगत की व्याख्या पर बल दिया गया । पश्चिमी दर्शन जहां पर अपने चिन्तन का अन्त मानता है, भारतीय दर्शन वहां से प्रारम्भ होता है। जो साक्षात् जीवन है, यथार्थ परिस्थितियां, सुख-दुःख, आशा, निराशा है, प्राचीन भारतीय साहित्य की रचना उसमें नहीं हुई । उस जीवन का यथार्थ उसके लिए पृष्ठभूमि था, कला का पोषक था । स्वयमेव कला उससे भिन्न थी । जीवन का सौन्दर्य, जीवन का ही तीव्र है, जीवन की यह क्रिया-प्रतिक्रिया जहां समाप्त होती है, उस [illegible] सीमा से भी बहुत ऊपर, उसका [illegible]-कला का दर्शन और प्रारम्भ होता है । तभी भारतीय साहित्य का स्वर इतना मांगलिक, आदर्श, पूर्ण, भव्य और उदात्त रहा । व्यक्ति के लिए नाच, गान, नाटक केवल मनोविनोद के साधन नहीं रहे पर परम मांगल्य के जनक रहे हैं । इनको विधिवत् करने से गृहस्थ के अनेक दुःख और विघ्न नष्ट होते हैं । पाप का नाश होता है और पुलकित फलों वाला कल्याण होता है[1] । इसके विपरीत पश्चिमी साहित्य में जीवन के संघर्ष और उसके यथातथ्य चित्रण पर बल दिया गया । त्रासदी की प्रकृति ही मुख्यत: संघर्षों में मनुष्य के उस गम्भीर सत्य की खोज है, जो उसकी नियति है, न्याय और यथार्थ है । उसका विषय महत् संघर्ष है । ऐसे उल्लेखनीय प्रश्न हैं जिसने हर युग में व्यक्ति को संत्रस्त किया है, और उत्पीड़ित किया है । क्योंकि पश्चिमी चिन्तन यह मान चला है कि व्यक्ति के सभी प्रयास उसकी उपलब्धियां किन्हीं शक्तियों द्वारा विनष्ट हो जाने के लिए है । मृत्यु दुःखदायी है, और महत्वपूर्ण है मृत्यु के पूर्व तक का संघर्ष । चूंकि उनके सामने ऐसा कोई आदर्श नहीं था, जिसके सहारे वे जीवन की आनन्दमयी कल्पना करते अत: जीवन की युद्धमयी स्थिति में साहित्य सर्जन की कल्पना ने पश्चिमी साहित्य को निराशात्मक बोध दिया ।

भारतीय नाट्य साहित्य आदर्श और कल्याण, आनन्द और सर्जन की भावना को लेकर चला था, जिसके पीछे भारतीय जीवन-दृष्टि की [illegible] और आनन्द की भावना कार्यरत रही । उपनिषदों का यह भाव कितना महान् है, जहां जीवन और मृत्यु सम्मान और प्यार की वस्तु माने गये । 'सृष्टि आनन्द से उत्पन्न है और आनन्द की ओर इसकी गति है तथा

---

१ मांगल्यं ललितंचैव ब्राह्मणो वदनोदयनम् ।
सुपुण्यं च पवित्रं च शुभ पाप विनाशनम् ।।

-- नाट्यशास्त्र

आनन्द में ही स्थिर भी रहती है[१]। इसका सम्बन्ध उस शाश्वत आनन्द से है, जिसको प्राचीन ऋषियों ने आत्मानन्द के रूप में अनुभव किया था, जो आत्मा और अस्तित्व के सार रूप में प्रतिष्ठित है, उसमें वह सौन्दर्य है, जिसमें आत्मा पवित्र आनन्द की सृष्टि करती है, किन्तु यह ऐन्द्रीय नहीं इन्द्रियातीत है। भारतीय मनीषी मानते रहे कि श्रेष्ठ कला एक सीमित व दायरे तक ही न रहकर इसी इन्द्रियातीत या परमतत्व की ओर उन्मुख होती है। हमारा आदि विश्वास रहा है कि ब्रह्म सर्वत्र है। वह सर्वशक्तिमान एवं कृपालु है। यह जीवन उसी की लीला है[२]। इसी कारण भौतिक जगत की विषमता, लोक में फैली दु:ख की छाया को हटाने के लिए ब्रह्म की आनन्दकला शक्तिमय रूप धारण कर जगत की भीषणता, कटुता और प्रचण्डता को अद्भुत मनोहरता, मधुरता और गहरी आर्द्रता में परिवर्तित करती है। इसी कारण यहाँ देवताओं का जीवन भी उस अर्थ में नहीं देखा गया, जिस अर्थ में ईसा का देखा गया है। कृष्ण की अभिशप्त मृत्यु हमारे लिए त्रासदी नहीं करुणा थी, राम का बनवासगमन साध्य नहीं साधन था। जीवन के सारे दु:ख और कष्ट परब्रह्म से उद्भूत और उसी में विलीन हैं, अत: जीवन संघर्ष और त्रासद नहीं, ब्रह्म में विलीन होने का महाप्रयाण है, और अन्त:गोत्वा आनन्द है। ब्रह्म के इस लीला विलास में भारतीय दर्शन मृत्यु या असन्तोष को पश्चिमी अर्थ में नकार कर चलता है, क्योंकि वह पुनर्जन्म में विश्वास करता है। मृत्यु उसके लिए अभिशाप नहीं, मात्र रूपान्तर है। नयी आशाओं के साथ जीने का सुख है। जीवन का स्वाभाविक विकास है[३]। पुनर्जन्म के साथ यहाँ का जीवन व दर्शन कर्म पर विश्वास करता है, भाग्य पर नहीं। यदि जीवन में दु:ख है तो उससे असन्तुष्ट होने का कोई हेतु नहीं है। व्यक्ति अपने कर्मों का फल भोगने आया है। जीवन में मनुष्य की स्थिति एवं उसके कर्म अकस्मात् संयोग पर

---

१ 'आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन,
जायन्ति जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्याभि विशन्ति।

२ द्रष्टव्य, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'रस मीमांसा', पृ० ४७

३ **Birth is not the beginning of life,**
Nor the death its ending
Birth and death began and end,
Only a singler chapter in life story.

-- रवीन्द्रनाथ

निर्भर नहीं हैं । वे तत्वत: उसके पूर्व जन्म में किये गए कर्मों के परिणाम होते हैं जो कि नाना जन्मों से संचित कर्मों के परिणाम हैं । पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास के कारण सम्पूर्ण जीवन और जगत सामंजस्यपूर्ण और सन्तुलित है । इस तरह असन्तोष के अभाव ने सामाजिक वातावरण को आनन्द, उल्लास और उत्सव के अनुकूल बनाया[1] । "यही कारण है कि भारतीय चित्त इन उत्सवों को केवल थके हुए दिमाग का विश्राम नहीं समझता वरन् उसे मांगल्यमय मानता है । भारतीय चिन्तन ने जीवन को सार्थकता दी है, उसे दिव्य बनाने में, आदर्शीकरण करने में । साहित्य का आदर्शवाद मानव जीवन के आन्तरिक पक्ष पर जोर देता है । व्यक्ति को वास्तविक सुख की उपलब्धि तभी हो सकती है जब वह शाश्वत चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द को प्राप्त कर लेता है । दूसरे शब्दों में भारतीय साहित्य में आदर्शवाद की कल्पना 'आनन्द' में विश्वास पर आधारित है, तर्क पर नहीं । भारतीय रंगमंच और उसकी इतनी उदात्त नाट्यगत विशेषताओं तथा मान्यताओं के पीछे भारतीय जीवन-दर्शन की अन्त: प्रेरणा के साथ ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि भी उसकी चेतना में रही[2] । इन सब के सम्मिलित स्वर ने भारतीय रंगमंच में जिस मौलिक जीवन स्तर को प्रस्तुत किया था, वह नि:संदेह पश्चिम के लिए आश्चर्य की बात थी कि पूरब इतनी सहजता और सौम्यता से चिन्तन में निमग्न कैसे रह पाता है[3] ।

पश्चिम भारतीय जीवन-दृष्टि से भिन्न जीवन-शक्तियों को तीव्र संघर्ष में या युद्ध में देखता आया है, किसी सामंजस्य या सन्तुलन में नहीं । उसने जीवन की कल्पना में, उसके निर्माण और विकासक्रम में अन्तर्निहित उन विरोधात्मक स्थितियों को महत्व दिया, जो कालक्रम में द्वन्द्व को प्रस्तुत करती हैं । शक्तियों का द्वन्द्व पश्चिम के लिए निराशा की वस्तु बनता गया क्योंकि वे आन्तरिक शक्तियों की महानता को नकार कर व्यक्ति के भौतिक परिवेश को

----

१ 'भारतीय जीवन दर्शन का सम्पूर्ण चर्चा विशिष्ट रूप से 'गीता' तथा डा० राधाकृष्णन् की पुस्तक 'इंडियन फिलासफी' के आधार पर है ।

२ प्रो० कीथ मानते हैं कि ब्राह्मणधर्म और उसका दर्शन प्राचीन भारतीय नाटक के इस उदात्त स्वरूप के मूल में रहा । क्योंकि उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था और वे व्यापक सामान्यीकरण में समर्थ थे । द्रष्टव्य : 'संस्कृतड्रामा', कीथ ।

३ 'द क्लासिकल ड्रामा आफ इंडिया' — हेनरी डब्लु० वेल्स, पृ० १०

महत्वपूर्ण मानकर चले । देवताओं के अनुष्ठान में किया गया पूजन समारोह भी उनमें भय और करुणा का उद्भावक बना । बकरे की बलि में उन्होंने जीवन की विवशता को कल्पित किया तथा किसी सर्वशक्तिमान् देवता की कल्पना के अभाव में भाग्य को सर्वोपरि माना । यह भाग्य ~~व्यक्ति~~ व्यक्ति के सारे कर्मों का विधायक है तथा व्यक्ति की नियंत्रण शक्ति से परे है । व्यक्ति कठपुतली है, जिसका प्रत्येक कार्य, किसी अनियंत्रित शक्ति के हाथों नियंत्रित तथा निश्चित है । भले ही इन शक्तियों के नियंत्रण में उसका जीवन सुखी न हो पर वह उनके आगे शक्तिहीन है । ग्रीक चिन्तन में भाग्य के हाथों व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता की सम्भावना नहीं थी । किन्तु क्रिश्चियन विचारों में भाग्य को उतना महत्व नहीं दिया गया । यह माना गया कि व्यक्ति इस ब्रह्माण्ड में अपने कर्मों के लिए स्वतन्त्र है तथा अच्छाई और बुराई , पाप और पुण्य में से चुनाव करने का अधिकार उसका है। ईश्वर उसके कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं है,क्योंकि वह अपनी स्वतंत्रता में ही ऐसा करता है । इस विश्वास को इस बात से बल मिलता है कि 'ज्यूस' संसार में व्यक्तियों को पाप से बचाने के लिए आया है । कुछ विचारक यह भी मानते रहे कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता आदम के पाप के साथ ही समाप्त हो गयी थी और तब से व्यक्ति पाप और बुराइयों का गुलाम है[१] । बाइबिल के अनुसार भी मनुष्य इस जगत् में पापवश आया है और ग्रीक चिन्तन के अनुसार मनुष्य कितना भी गुण सम्पन्न क्यों न हो,भाग्य उसे चूर चूर करेगा ही । दोनों रूप में पश्चिमी जीवन दृष्टि व्यक्ति के विनाश को देखती आयी है । मृत्यु उसके लिए ऐसी चुनौती है,जिसके सामने उसकी पराजय अवश्यम्भावी और अटल है[२] । व्यक्ति बारम्बार संघर्षरत शक्तियों के ऊपर विजय पाने का प्रयास करता है,किन्तु असफल रहता है । मृत्यु एक ऐसा अभिशाप है,जिसके बाद कुछ नहीं रह जाता । आत्मा यदि अमर है तो वह स्वर्ग या नरक को चली जाती है[३] ।पश्चिमी जीवन-दृष्टि जीवन को एक बुराई के

---

१ फ्रास्ट,जु० : 'बेसिक टीचिंग्स आफ् द ग्रेट फिलॉसफ़र्स',पृ० १३७

२ यह स्पष्ट है कि जैसे हमारी गति सर्वसम्मति से कुछ नहीं पर निरन्तर रोका गया विनाश है,इसी प्रकार हमारा जीवन कुछ नहीं निरन्तर रोकी गयी मृत्यु है, स्थगित मृत्यु ।"

--शापेनहावर : 'ऐसेस', पृ० २८

३ आधुनिक दार्शनिक आत्मा की अमरता पर अविश्वास करते हैं । इनके अनुसार केवल उसके कार्य ही सत्य हैं,जिसे हम बौद्धिक या आध्यात्मिक रूप में विश्लेषित करते हैं ।

रूप में व्यापार करता रहता है । हाब्स के अनुसार यह जीवन घिनौना, पशुवत् तथा क्षणभंगुर है । इन सब के मूल में दुःख है । आनन्द दुःख का नकारात्मक अन्त है । जीवन अभिशाप है, क्योंकि जीवन युद्ध है, प्रकृति में सर्वत्र ही एक प्रकार की प्रतियोगिता संघर्ष और हत्या है । यदि जीवन से इस संघर्ष को निकाल दिया जाये और व्यक्ति को आराम दिया जाय तो व्यर्थता और निष्क्रियता उसके लिए अभिशाप हो जायेगा[1] । आधुनिक दार्शनिकों ने विशिष्टरूप से ब्रह्माण्ड में व्यक्ति जीवन की त्रासदी और उसकी हास्यास्पद स्थिति में जीवन की गहरी निराशा को देखा और व्यक्ति को मात्र प्रकृति के हाथों का खिलौना मानकर उसे 'नथिंगनेस' का तीव्र बोध दिया है[2] । इस तरह जीवन की त्रासदी में किसी-न-किसी प्रकार के संघर्ष और अन्तर्विरोध को इन्होंने पाया । निराशा पश्चिमी जीवन-दृष्टि का मूल स्वर है और आशा एक हास्यास्पद स्थिति । महत्वाकांक्षाएं खोखली और अर्थहीन हैं, क्योंकि जगत की गति अन्ततः विनाश की ओर ही रहती है । यह नाश उनकी सबसे बड़ी विडम्बना है, जिसके अस्तित्व में पराजय और निराशा का बोध है, आनन्द या परिवर्तन की मात्र एक स्थिति का आभास भी नहीं । पश्चिम न तो पूरब के कर्मवाद जैसे सन्तुलित आचरण को पा सका और न ही धर्म उन्हें आदम-ईव के पाप को मुक्त कर सका । उनके पास 'आनन्द' और 'लोकोत्तर' 'परब्रह्म' जैसी कल्पना नहीं थी, अतः उसकी गति जीवन के भोग्यपक्ष में रही । उद्देश्य की कल्पना करते हुए भी उसकी प्राप्ति का मार्ग न पा सकना, व्यक्ति-जीवन की महानतम दुर्घटना हो गयी । पूरब के लिए पश्चिम का यह निराशावादी स्वर आश्चर्यजनक एक प्रश्न रहा है ।

तुलना // जीवन के प्रति उदात्त कल्पना के कारण भारतीय नाटक उस अभिप्राय से वंचित है, जो युनानी त्रासदी के लिए अमुल्य है । वह अभिप्राय है, मनुष्य के कार्य-व्यापार में ऐसी शक्तियों का हस्तक्षेप जो उसके अनुमान और वश के बाहर हैं और उसके मन के आगे ऐसी बाधाएं खड़ी कर देती हैं, जिससे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर बुद्धि और दृढ़तम संकल्प भी चूर हो जाते हैं । इस प्रकार की अवधारणा कर्मसिद्धांत की व्यवस्था की

----

१ विल ड्युरंड : 'द स्टोरी आफ़ फ़िलासफ़ी', पृ० ३२० -३२६

२ द्रष्टव्य -- एसलिन, मारटिन : '[illegible] : [illegible] 'द थियेटर-आफ़ एबसर्ड्स' ।

अनैतिकहीन बना देता है । लोक-मानस में धर्म का अपरिवर्तनीय स्वरूप (धर्म की अनिवार्य प्रकृति में विकास का विकास होने के पहले) चाहे जितना प्रच्छन्न रहा हो, नाटक की सुनियंत्रित अभिव्यंजना में इस धर्म सिद्धान्त को भुलाया नहीं जा सकता था । इसलिए संस्कृत नाटक में ऐसा दृश्य नहीं मिलता, जिसमें कोई सत् पुरुष अलौकिक नियति के विरुद्ध निष्फल प्रयत्न करता हुआ दिखायी देता है । उसमें किसी ऐसे सत्पुरुष का भी चित्रण नहीं है, जिसकी पराजय का स्वागत करते हुए भी हम उसकी भौतिक शक्ति और संकल्प की सराहना करते हैं । संस्कृत-नाटकों में असत्पुरुष का विनाश एक अपराधी का दंडभोग है । जिसकी यातना के प्रति हमारे मन में कोई सहानुभूति नहीं होनी चाहिए । इन कथाओं में मानवीय कार्य-व्यापार में दिव्य तत्वों का अन्त:प्रवेश बिना किसी असुविधा और अविश्वास के स्वीकार कर लिया जाता है । यहां पात्रों की कल्पना देव-दानव के रूप में की गयी । दानव कितना भी श्रेष्ठ क्यों न वह देव से तुच्छ ही है । उसकी पराजय हमारा आनन्द है, दु:ख नहीं । देव-दानव के युद्ध में सदैव देवत्व की विजयी होगा, यह निश्चित था । दार्शनिक एवं नैतिक दृष्टि से भी सुखवाद और दु:खवाद के द्वन्द्व का समाधान आनन्दवाद में ही होता है । दु:खवाद भी अन्तत: आनन्द में परिवर्तित होता है[1] । नायक-नायिका को असफलता के संकट में डालने वाले प्रसंगों को विनारसोद्रेक नहीं किया जा सकता है, अत: इनके मार्ग में विघ्न-बाधाएं तो आती हैं पर उसका उपसंहार फलागम में ही होता है । संघर्ष यहां मूलाधार रस को उद्दीप्त करने आता है । संघर्ष के तत्व- घृणा, भय, प्रतिशोध, करुणा आदि संस्कृत नाटकों में भी प्रयुक्त हुए हैं पर ये भाव नाटक में 'संचारीभाव' के रूप में आते हैं और अन्त में नाटक के मूल 'रस' को उद्दीप्त करने में सहायता कर उसी में लीन हो जाते हैं । रस की परिकल्पना में यद्यपि दो विरोधी रसों का संघर्ष है[2], पर यह संघर्ष युद्ध का रूप धारण न कर सामंजस्य स्थापित करता है । इसी कारण संघर्ष यहां आशा और उल्लास का प्रतीक है । नाटक में जहां कहीं भी तीव्र संघर्ष

---

१ 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आनन्द रूप की अभिव्यक्ति की दो अवस्थाएं : साधनावस्था और सिद्धावस्था मानी तथा विरुद्धों के सामंजस्य में ही कर्म क्षेत्र के उस सौन्दर्य को स्वीकार किया, जिसके सारे व्यापार अन्दर ही अन्दर आनन्द कला के विकास में योग देते हैं । द्रष्टव्य -- 'चिन्तामणि', भाग१ तथा 'रसमीमांसा' ।

२ नरहरि बेडेकर ने एक लेख में चार प्रमुख रस माने, जिनमें दो दैवी रस हैं, दो दानवी रस, इन्हीं मूल चार रसों के विलास और कर्म से आठ रसों का विकास हुआ, श्रृंगार और वीर दैव रसों से क्रमश: हास्य तथा अद्भुत विकसित हुए तथा वीभत्स एवं रौद्र दानवी रसों से क्रमश: भयानक और करुण रस का विकास हुआ ।

की कल्पना की जा सकती, वहाँ नाटककार ऐसा आयोजन करता कि संघर्ष तीव्र न होकर सन्तुलित हो जाता । यही कारण है कि एन्टीगान के चरित्र का सादृश्य यहाँ प्रस्तुत किये जा सकने पर भी नहीं किया गया, क्योंकि वह भारतीय भावना को ग्राह्य न होता ।

पाश्चात्य नाटक चूंकि इस प्रकार के चिन्तन, आदर्शवाद और ब्रह्मवाद से अनभिज्ञ था, अत: उसने मानवीय संवेदनाओं को पकड़ा । मानवीय विसंगतियाँ वहाँ घनीभूत हो गयी हैं । यूनानी त्रासदी का स्रोत इस संकल्पना में है कि क्रियाशील व्यक्ति परिस्थितियों से संघर्ष करता है, और संघर्ष करते हुए किसी अनियंत्रित शक्ति द्वारा पराजित होकर सर्वनाश को प्राप्त करता है, परन्तु आत्मसम्मान पर आंच नहीं आने देता । अपने भाग्य की विभीषिका को समझ कर आत्मसमर्पण कर देता है । पश्चिमी नाटक के नायक सर्वगुण सम्पन्न नहीं हैं[१] । सिर्फ देवता या केवल दानव भी नहीं । वे साधारण मनुष्य की भाँति शुचिता और दुष्टता का मिश्रण हैं । इसी कारण यदि वे जीवन में उन्नति करते हैं तो अपनी दुष्टता के कारण त्रासद अंत का कारण भी बनते हैं । हीगेल[२] ने माना कि दु:खान्तकी का सीधा सम्बन्ध अनैतिकता एवं व्यक्ति के आचरण से है । व्यक्ति भाग्य तथा ईश्वर के हाथों कितना बेचारा है । वह संसार की अनैतिकता में अपने नैतिक बल को लिए चलता है । इस नैतिक प्राणी में जब कोई दोष अथवा अनैतिक अवगुण समा जाता है तब दु:खान्तकी की आत्मा इसी दोष, इसी अवगुण को अपने विकास में देखती है त्रासदी व्यक्ति की गहन समस्या और सर्वदेशीय मूल्य को लेकर चलती है । व्यक्ति की नियति, उसका लक्ष्य, पुण्य, पाप, न्याय, अपराध तथा व्यक्ति की वे निर्मम और कटु सत्य

----

१ 'त्रासदी के प्रभाव के लिए नायक पूर्ण नहीं हो सकता, उसमें चारित्रिक दोष, बौद्धिक दोष, परिस्थिति के अपर्याप्त ज्ञान से उत्पन्न भूल, गलत निर्णय रहते हैं अरस्तू ने स्पष्ट लिखा कि 'दुर्भाग्य .... अच्छाई या बुराई से नहीं आता पर गलत निर्णय से आता है' -- पोइटिक्स, अध्याय १३, पृ० ५० ।

२ 'आक्सफोर्ड लेक्चर्स आन पोइट्रि' -- ए०सी० ब्रैडले

परिस्थितियां जिनसे उसका सतत् संग्राम छिड़ा हुआ है को लेता है । अत: पश्चिम में नाटक का विकास सुख से दु:ख की ओर होता है ।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय नाटककारों ने त्रासदी और यथार्थ जीवन के प्रति विशेष गंभीरता को नकारा है तथा उस विश्वास, जो यह मानकर चलता है कि जीवन में कोई समस्या गहराई से व्याप्त रहती है,को निरपेक्षता से देखा । पश्चिम ने जीवन के गतिरोध को लिया ~~जब~~ जहां आत्मा संतप्त होती है । पश्चिम को इस विचार ने मथा है कि व्यक्ति न तो पूर्ण तापस है न पूर्ण आवेगात्मक, किन्तु पूरब इस विभाजन को स्वीकार कर सन्तुलित आनन्द की कल्पना में सौन्दर्यानुभूति करता है । पश्चिमी रंगमंच ने मानवता को संघर्ष में प्रस्तुत किया और पूरब ने विश्राम में । व्यक्ति स्वभाव की एक जैसी कल्पना करते हुए भी दोनों उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करते हैं । इसी कारण पूरब का नाटक एकता की काल्पनिक उपलब्धि का गुणगान करता है तो पश्चिम का नाटक एकता के लिए शक्तियों की संघर्षात्मक कल्पना को संजोता है । एक संस्कृति को जो प्रेरणात्मक लगता है,दूसरी को असंगत। "एक नाटक मोह भंग का है तो दूसरा भ्रम का । एक यह प्रस्तुत करता है कि भाग्यहीन मनुष्य कितना निराशाजनक है,दूसरा जीवन की शांति को,पवित्रता को आभूषण रूप में प्रस्तुत करता है ।"[1] भारतीय नाटक जीवन कैसा हो यह निर्दिष्ट करता है और पश्चिमी नाटक जीवन कैसा है,यह चित्रित करता है । हिन्दुओं के लिए रंगमंच चिन्तन का अनुशासन था या संयम का शिक्षण,जिसके द्वारा आत्मिक शान्ति संभव है, या दूसरे शब्दों में रंगमंच उनके लिए घटनाओं की विसंगति को नष्ट करने के लिए धार्मिक कृत्य के समान था । पश्चिमी रंगमंच ने शक्तिशाली व्यथा या विसंगति की कल्पना द्वारा सम्भव विरेचन को महत्व दिया,जिससे दर्शकों पर विशेष प्रभाव डाला जा सके । सभी संस्कृत नाटकों की मुख्य वस्तु आध्यात्मिक सन्तुलन ,विरोधों में सामंजस्य और तीव्र संघर्ष में संयम तथा सौम्यता है । "संस्कृत नाटकों में कार्य न तो प्रगति है, न ग्रन्थि-ग्रन्थन, न उतार चढ़ाव से संचालित कौतूहल, किन्तु विरोधाभास में सन्तुलन है जो कि रूढ़िवादिता में पर्यावर्तन नियम के अनुसार वहीं समाप्त होता है,

----

१ हैनरी डब्लू वेल्स : 'द क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया',पृ० १२

जहाँ प्रारम्भ हुआ था । पश्चिमी नाटक नाटकीय आरोहण प्रगति से उस उद्देश्य तक पहुंचता है, जो कि उसके प्रारम्भ से भिन्न रहता है ।[1] इस तरह पश्चिमी नाटक जब अत्यधिक गम्भीर होता है तो वीररस प्रधान हो जाता है, किन्तु भारतीय नाटक अपनी गम्भीरता में आदर्शवादी हो जाता है । एक का पर्यवसान फलप्राप्ति में होता है और दूसरे का निराशा में । एक जीवन को स्वाभाविक संघर्षमय विकास में दिखाता है, दूसरा जीवन के संघर्ष को । अत: एक का प्रवाह प्रयत्न में है और दूसरे का संघर्ष में ।

रस और संघर्ष का समन्वय / भारतीय नाट्य साहित्य में जीवन के यथार्थ को नकार कर चलने का आग्रह और आदर्श तथा आनन्द की स्थापना का दर्शन उस काल में उतना महत्वपूर्ण नहीं रहा, जिसे हम क्रान्तिकाल के नाम से जानते हैं । और जिस काल से हिन्दी नाटक साहित्यिक स्तर पर विकसित होता है । दार्शनिक पद्धति में, उद्भव होता यह नया युग बुद्धिवाद, उपयोगितावाद और विज्ञानवाद की देन थी । वस्तुनिष्ठता और कारणत्व नयी विचारधारा के प्रमुख नियम बनें । इन उभरते नये मुल्यों की संघर्षमय स्थिति की अवहेलना कर किसी कपोलकल्पित जगत में विचरण करना साहित्य के प्रति अन्याय होता और अपनी सक्षमता के बावजूद भी उन रूढ़ियों से चिपके रहना, जो तत्कालीन जीवन के लिए कतई भी उपयोगी सिद्ध न हो, एक चुनौती थी । भारतेन्दु जैसे युगद्रष्टा ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए पूरब और पश्चिम का समन्वय प्रस्तुत किया,[2] संस्कृत नाट्य की किसी जटिलता से पलायन के कारण नहीं । बुद्धिवाद के आग्रह में नाट्य साहित्य को यथार्थ से सम्बद्ध करने का प्रयास किया । भारतेन्दु

---

१ हेनरी डब्लू० वेल्स : 'द क्लासिकल ड्रामा आफ इंडिया', पृ० ४२-४३

२ 'अब नाटक में कहीं आशी:, कहीं प्रभृति नाट्यलंकार, कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं सैफेट, कहीं पंचसंधि व ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही, संस्कृत नाटक की भांति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करने व किसी नाट्यांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उलटा फल होता है और सब व्यर्थ हो जाता है ।'

—'भारतेन्दु ग्रन्थावली', भाग २: परिशिष्ट, पृ० ७३९-७३३

से प्रसाद के हाथों में हिन्दी नाट्य-साहित्य जाता है । क्योंकि भारतेन्दु उसे जहाँ छोड़ गये थे, उससे आगे वह इस बीच कुछ नहीं पाया था । प्रसाद जी ने रचनात्मक स्तर पर तथा नाटकीयता की आवश्यकता के स्तर पर संघर्ष को नाटक का अनिवार्य अंग माना । किन्तु ध्यातव्य है कि प्रसाद कट्टर शैव थे और शैव दर्शन का आनन्द उनके जीवन-दर्शन की उपलब्धि था । अत: संघर्ष को उन्होंने पश्चिमी अर्थ में नहीं लिया, पर उसका भारतीयकरण कर इस कथन को सार्थक किया कि 'अपना [illegible] दुख [illegible] नहीं देना चाहिए ।' इसी कारण प्रसाद जी यह मानते हुए भी कि 'वर्तमानयुग दुःखवादी है । आपाततः उसे दुःख को प्रत्यक्ष मान लेना पड़ा है । उसके लिए संघर्ष करना अनिवार्य सा है ।' यह स्वीकार करते हैं कि 'भारतीय आचार्यों को निराशा न थी, करुण रस था । उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति । उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार आनन्द लेने को सुख माना ।'[1] प्रसाद जी ने संघर्ष के महत्त्व का उपयोग नाटकीय स्वरूप में लिया और किया चरित्र की महत्ता के लिए, पर साध्य यहाँ भी आनन्द ही रहा । दूसरे शब्दों में जीवन-संघर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार करने पर भी हिन्दी नाटकों का स्वर त्रासद (पश्चिमी अर्थ में) न हो सका ।

प्रसादोत्तर नाटकीय परिकल्पना में धीरे-धीरे पश्चिमी तत्त्व प्रमुख होते जा रहे हैं और भारतीय तत्त्व गौण । सैद्धान्तिक रूप से रंगमंचीय परिकल्पना में संघर्ष को प्रमुख मान लिया गया है, किन्तु संघर्ष यहाँ त्रासदी का विकास न होकर आनन्द का क्रमश: विस्तार है । आधुनिक नाटककार ने रंगमंचीयता के सन्दर्भ में संघर्ष की आवश्यकता और अनिवार्यता को समझा है और अनुभव किया है कि यदि नाटक को सही अर्थों में नाट्य होना है तो उसकी गति संघर्ष में होनी है, और पर्यवसान भी इसी में । इसी कारण हिन्दी नाट्य संघर्ष तत्त्व को अंगीकार करने में प्रयत्नशील है । नाट्यकारों और आलोचकों ने भी किसी न किसी रूप में संघर्ष को नाटक का अनिवार्य तत्त्व मानते हुए कहा कि 'हमारे सामने जो रोज़ की समस्याएं हैं उनका विवेचन और समाधान करने में ही नाटक की उपयोगिता है । कल्पना-लोक अथवा आदर्श-भूमि से उतर कर हमें चिर संघर्ष-मय वर्तमान में आना

----

1 जयशंकर 'प्रसाद' : 'काव्य, कला तथा अन्य निबन्ध', पृ०८५

चाहिए[1]।" या आदर्श के नाम पर यथार्थ और स्वाभाविकता की हत्या नहीं की जा सकती। कथा में संघर्ष को जीवन की स्वाभाविकता बनाये रखने के लिए अन्त तक आना चाहिए[2]। सेठ गोविन्ददास विचार तत्व को नाटक का मूल मानते हुए उसमें संघर्ष तत्व की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं तथा "संघर्ष में ही नाटक का प्रारम्भ होना" सर्वोत्तम मानते हैं[3]।

यद्यपि भारतीय आलोचकों ने नाटक में संघर्ष तत्व को स्वीकार किया, पर उसकी व्याख्या, विश्लेषण पर ध्यान नहीं दिया। संघर्ष को एक व्यापक आयाम देकर पश्चिमी आलोचकों ने उसपर विस्तृत चर्चा की।

संघर्ष : परिभाषा, व्याख्या और आयाम

संघर्ष : परिभाषा और व्याख्या

संघर्ष का साधारण अर्थ दो समान शक्तिशाली पदार्थों की टकराहट, विरोध या प्रतिक्रिया है। यह विरोध या प्रतिक्रिया किन्हीं दो भावों, स्थितियों, व्यक्तियों, समूहों, शक्तियों, मान्यताओं एवं इच्छाओं की है। संघर्ष की दो स्थितियाँ हो सकती हैं; एक स्थिति में दो विरोधी तत्व -- नित्य-अनित्य, दैहिक-पारलौकिक, शुद्ध-अशुद्ध हो सकते हैं, और दूसरी स्थिति में नित्य-नित्य, अनित्य-अनित्य, दैहिक-दैहिक, पारलौकिक पारलौकिक आदि। वस्तुत: प्रत्येक क्षण, प्रत्येक परिस्थिति, जो जीवन की अपनी है, के विरोध का प्रदर्शन नाटकीय संघर्ष का उद्भावक है। इस कारण उसमें उसी तरह उदात्त तथा नीच का समन्वय रहता है, जिस तरह जीवन में। महान् व्यक्ति के अन्दर भी एक पशु होता है, जो उसकी महानता की हँसी उड़ाया करता है। विरोध की यह भावना त्रासदी के मूल में है। एक ओर कल्पना और हास्य और दूसरी ओर करुणा और भय। नात्शे ने त्रासदी में दो विरोधी भावों -- एपालो तथा डायोनिसस के प्रतीक में संघर्ष को परिकल्पित किया। डेनिसडिडेरॉट थियेटर को महान् और नीच, सत् और असत् का मिलन-स्थल मानता है[4]। श्लैगेल त्रासदी को मानव की नैतिक स्वतन्त्रता से सम्बन्धित

---

१ डा० नगेन्द्र : 'आधुनिक हिन्दी नाटक', पृ०५

२ डा० रामकुमार वर्मा : 'शिवाजी' (भूमिका), पृ० ७-८

३ सेठ गोविन्ददास : 'नाट्यकला मीमांसा', पृ० १४-१६

४ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीअन थीअरि आफ़ ड्रामा', पृ० २८६

मानता है । यह अकल्पता उसके अनुसार 'इन्द्रिय मनोवेगों' से संघर्ष में प्रकट होता है[1]।
गेटे ने भी माना कि नाटक के नायक का सक्रिय होना अत्यावश्यक है,क्योंकि सारी
परिस्थितियाँ उससे विरोध करती आती है और वह या तो अपने पथ की बाधाओं को
हटा देता है या उनका शिकार हो जाता है । पीड़ा त्रासदी का अंग है, पर मात्र पीड़ा
त्रासदी नहीं हो सकती, अपितु ऐसी करुणा या पीड़ा ही त्रासदी हो सकती है जो
किसी विशेष प्रकार के संघर्ष से उद्भुत हो । विशेष प्रकार के संघर्ष से उद्भव करुणा
हमारी संवेदनाओं और साधारण भावना को ही नहीं, हमारी बुद्धि और भावना को
जगाती है । हमारी चेतना को जगाने में समर्थ यह संघर्ष स्वयं हमारी चेतना से उद्भुत
होता है ।

हीगेल के मत को स्पष्ट करते हुए प्रो० ब्रैडले[2] ने कहा कि सभी त्रासदियों में किसी-न-किसी
प्रकार का द्वन्द्व या संघात रहता है । वह भावनाओं,ईहाओं और प्रयोजनों का संघर्ष है ।
व्यक्तियों का परस्पर या स्वयं से या परिस्थितियों से संघर्ष है । संघर्ष व्यक्ति की
इच्छा एवं कार्य पर शासन करने वाली शक्ति तथा उसके नैतिक स्वरूप के बीच का है ।
परिवार तथा राज्य,माता-पिता और सन्तान,भाई-बहन,पति-पत्नी,नागरिक एवं शासक
नागरिक और नागरिक का सम्बन्ध, और इन सम्बन्धों के दायित्व एवं सम्भावनाओं अथवा
व्यक्तिगत प्रेम और गौरव, या किसी महान् कार्य या किसी आदर्श भाव जैसे धर्म या
विज्ञान या समाज-कल्याण के प्रति समर्पण भाव, ऐसी शक्तियां हैं जो त्रासदी के कार्य-
व्यापार में अभिव्यक्त होती है । त्रासदी में ये शक्तियां समान-भाव से नहीं आती,
परन्तु संघर्ष रत रूप में आती है । अपनी प्रकृति से महान् और पवित्र होते हुए भी व्यक्ति
में उसकी इच्छाओं का रूप लेकर शत्रुरूप में मिलती है ।

हीगेल ने इन सारी स्थितियों में माना कि संघर्ष अच्छे और बुरे का उतना नहीं है,जितना
अच्छे और अच्छे का है । दो अच्छाइयाँ एक-दूसरे का सामना करती हैं और अपनी इच्छा
को व्यक्त करती है । एक अच्छाई दूसरी अच्छाई को अस्वीकार कर चलती हैं । जब कि
अपनी जगह पर दोनों महत्वपूर्ण होती हैं । हीगेल के अनुसार यह भाग्य या आकस्मिकता

----

१ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीयन थीअॅरिज़ आफ़ ड्रामा', पृ० ३५६

२ प्रो० ए०सी०ब्रैडले : 'आक्सफ़ोर्ड लेक्चर्स आन पोइट्री' में 'हीगेल्स व्यू आन ट्रेजडी', अध्याय, पृ० ६६-६२ ।

का कार्य नहीं, यह नैतिक तत्व का रूप है। जिन्हीं विशेष शक्तियों का अतिशय महत्वाकांक्षा के विरोध में दृढ़तापूर्वक अपनी सम्पूर्णता को आरोपित करने का संघर्ष है। हीगैल ने नैतिक और आत्मिक (चिदानुकूल) मूल्यों को भी संघर्ष के लिए अनिवार्य तत्व माना।

विद्वानों का संघर्ष पर विशेष ध्यान ब्रुनेत्यार की परिभाषा के बाद गया। उसने संघर्ष की व्याख्या के लिए मनोवैज्ञानिक आधार लिया और त्रासदी पर विचार करते समय संघर्ष -- जिसमें नायक उलझा हुआ है -- की परिस्थितियों पर इतना जोर नहीं दिया, जितना कि नायक की ईहा की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति पर। उसने यह स्पष्ट कहा कि नाटकीयता नायक की इच्छा में है और उस अडिग निश्चय में व्याप्त है, जो मनुष्य को संघर्षरत होने के लिए दृढ़ता प्रदान करता है। ब्रुनेत्यार ने बाह्य संघर्ष को नहीं, पर इस संघर्ष को निश्चित करने वाली आन्तरिक प्रेरणा के कार्य पर जोर दिया। विलियम आर्चर ने ब्रुनेत्यार के सिद्धान्त को इस प्रकार रखा -- 'नाटक मनुष्यों की इच्छाओं का, जो हमें और अधिक महत्वहीन करने वाली रहस्यमयी अथवा प्राकृतिक शक्तियों से संघर्षरत है, का प्रदर्शन है। वह हममें से एक है, जो रंगमंच पर नियति, सामाजिक, नियमों सहयोगी मनुष्यों, महत्वाकांक्षाओं, रुचियों, द्वेष, मूर्खता और अपने विरोधियों के विरुद्ध संघर्ष करने को तत्पर है।... साधारणरूप से थियेटर और कुछ नहीं पर वह स्थल है, जहां मनुष्य की ईहा नियति, भाग्य और परिस्थितियों द्वारा प्रस्तुत रुकावटों पर आघात करती हुई विकास को प्राप्त करती है।'[1] हेनरी आर्थर जोन्स ने बोलचाल की अमेरिकन भाषा में इस सिद्धान्त को इस प्रकार रखा -- 'थियेटर और कुछ नहीं है, पर वह स्थल है, जहां व्यक्ति स्वयं को किसी वस्तु या स्थिति के 'अप अगेंस्ट' पाता है तथा उसपर प्रहार करता है', और 'किसी स्थिति के 'अप अगेंस्ट' होने की स्थिति 'टफ़ पोज़ीशन' है।'[2]

ब्रुनेत्यार की यह परिभाषा व्यक्तिगत या विरोधियों के संघर्ष तक ही सीमित न रहकर संघर्ष को एक ऐसा व्यापक आयाम देती है जो अपने में प्रत्येक व्यक्ति के प्रतिक्षण एवं

---

१ विलियम आर्चर : 'प्ले मैकिंग', पृ० १६

२ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीयन थ्योरीज़ आफ़ ड्रामा', पृ० ४६१

प्रतिदिन के व्यावहारिक संघर्ष को समावेश कर चलता है । ब्रुनेत्यार ने इच्छा का अर्थ भी स्पष्ट करते हुए कहा कि इच्छा का स्वरूप इतना दृढ़ होना चाहिए, कि वह मुख्य पात्र को किसी उद्देश्य विशेष की ओर ले जा सकने में समर्थ हो ।[1] यह इच्छा नाटक के मुख्य पात्र में होती है जो किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है तथा मार्ग में आती बाधाओं के विरुद्ध उनसे निरन्तर रत है । किसी बात की इच्छा मात्र रखना नाटकीय स्तर की इच्छा नहीं हो सकती । नाटकीय स्तर पर अनिवार्य है कि वस्तु की इच्छा रखकर नायक उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो ।

ब्रुनेत्यार यह दावा नहीं करता कि नाटक में इच्छाओं का संघर्ष मात्र दो व्यक्तियों में ही केन्द्रित रहे । उसके अनुसार कला की आवश्यकतानुसार यह संघर्ष दो विरोधी समूहों या राज्यों में विभक्त या विसरित हो सकता है अथवा दो मान्यताओं में, या एक पात्र का अनेक पात्रों के साथ या नियति अथवा उसकी परिस्थिति या सामाजिक नियमों के बीच भी हो सकता है । विलियम आर्चर ने इस व्याख्या की आलोचना करते हुए ब्रुनेत्यार के सिद्धांत पर आपत्ति प्रकट की । उसके अनुसार 'यद्यपि इस सिद्धांत से कई अच्छे नाटकों की चर्चा तो की जा सकती है, पर यह सिद्धांत ऐसी किसी सर्वमान्य विशेषता को प्रस्तुत नहीं करता, जो सभी नाटकों में समान रूप से लागू हो तथा कला के किसी अन्य स्वरूप द्वारा अपनाया गया हो ।' उसने ऐसे कई नाटकों के नाम गिनाये हैं जो (उसके अनुसार) किन्हीं इच्छाओं का सच्चा संघर्ष प्रदर्शित नहीं करते । वह अपना तर्क देते हुए मानता है कि संसार के महानतम नाटक इस परिभाषा में नहीं आते जब कि रोमांस तथा अन्य कहानियां अधिकांशत: इसमें आ जाती हैं ।[2] वह सम्भवत: 'नाटक में विशेष विरोध होता है' इस विचार से सहमत नहीं है । आर्चर 'एगॅमेमनाव' नाटक में कोई संघर्ष नहीं मानता । उसके अनुसार ओडिपस कहीं संघर्षरत नहीं है । क्योंकि ओडिपस का सारा संघर्ष (यदि इस शब्द को स्वीकार करें) भ्रमित प्रयत्नों द्वारा भाग्य के फंदे से निकलने का प्रयत्न है, और यह प्रयत्न अतीत का है । त्रासदी के

---

१ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीयन थ्योरिज़ आफ़ ड्रामा', पृ०४०७

२ विलियम आर्चर : 'प्ले मेकिंग', पृ० १६

वास्तविक क्रम में वह साधारणतया विगत बुराइयों, अनभिज्ञ अपराधों के, एक के बाद एक रहस्योद्घाटन में तड़पता है । इसी तरह वह 'रोमियो और जुलियट' के बालकनी दृश्य में संघर्ष के किसी आयाम को स्वीकार नहीं करता । उसका कहना है कि कोई भी यह नहीं कह सकता कि रोमियो और जुलियट का बालकनी दृश्य अनाटकीय है । फिर भी इस दृश्य में इच्छाओं का संघर्ष नहीं, अपितु उल्लसित या भाव-विभोर इच्छाओं का सामंजस्य है ।[1]

आर्चर का तर्क व्यक्तियों के संघर्ष तथा ऐसे संघर्ष, जिसमें एक चेतन तथा निश्चित उद्देश्य दूसरे व्यक्ति या सामाजिक शक्ति के उद्देश्य के विरुद्ध रखा गया है, को उलझा देता है । क्योंकि वास्तव में रोमियो और जुलियट के बालकनी दृश्य में 'इच्छाओं का संघर्ष' रंगमंच पर दो व्यक्तियों के बीच का नहीं है । आर्चर की इस आपत्ति से लगता है कि वह दो व्यक्तियों के संघर्ष को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करने का सुझाव देता है । किन्तु नाटक में सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं और ब्रुनेत्यार ने इस मत का समर्थन भी नहीं किया कि नाटक किसी ऐसे ही प्रत्यक्ष संघर्ष को लेकर चले । इसके विपरीत उसका कहना है कि नियति, भाग्य तथा परिस्थितियों द्वारा उत्पन्न बाधाओं पर आक्रमण करते हुए मानवीय इच्छाओं का विकास ही रंगमंच पर दिखाया जाता है । 'एक निश्चित उद्देश्य स्थापित करना और तब प्रत्येक बात को उसी उद्देश्य की ओर प्रेरित करना, इसके लिए संघर्ष करना तथा स्थितियों को इसी क्रम में ले आना, यही बात इच्छा के नाम से पुकारी जा सकती है ।[2]' रोमियो और जुलियट भी जानते हैं उन्हें क्या चाहिए तथा वे आने वाली बाधाओं के प्रति भी सजग हैं । इस तरह यह दृश्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सारी स्थितियों को एक क्रम में लाने का प्रयास है । 'ओडिपस' और 'घोस्ट्स' की शैली पर सम्भवतः ध्यान दिये बिना आर्चर अपना मत स्थापित करता है । दोनों नाटक क्राइसिस से प्रारम्भ होने की शैली को अपनाते हैं । कार्य का अधिकांश भाग निश्चित रूप से पूर्व व्यापी है । ओडिपस किसी भी अर्थ में अकर्मण्य नहीं है । नाटक के प्रारम्भ में वह एक समस्या के प्रति

---

१ आर्चर : 'प्ले मेकिंग', पृ० २१

२ जॉन हावर्ड लासन द्वारा अपने लेख 'थ्योरि एण्ड प्ले राइटिंग' में उद्धृत

जागरूक है और उसे सचेतन स्थिति में ठुकराने के लिए तत्पर है । जब पैस्टर का औचित्य को मार्गनिर्देश को ग़लत अनुभव करता है तो विकट मानसिक संघर्ष की दशा में औचित्य को समाधान करने का प्रयत्न करता है । किन्तु औचित्य अपनी इच्छा को किसी भी आवश्यकता के मूल्य पर नकारता नहीं है । फलस्वरूप असहनीय तत्व का सामना करने पर एक सचेतन कार्य द्वारा वह अपनी आँखें फोड़ लेता है और अन्तिम दृश्य में अपनी दोनों पुत्रियों के साथ उन्हीं घटनाओं--भविष्य की चिन्ता, अपने कार्यों का बच्चों पर प्रभाव, अपने उत्तरदायित्व की भावना-- का सामना कर रहा होता है जो उसका विनाश करता है । इसी तरह इब्सन का 'घोस्ट्स' व्यक्तिगत तथा सामाजिक उत्तरदायित्व का अत्यन्त सजीव अध्ययन है । श्रीमती एलविन का जीवन अपनी परिस्थिति को नियंत्रित करने का एक लम्बा संघर्ष है । आस्वल्ड भाग्य को स्वीकार नहीं करता तथा अपनी इच्छा की शक्ति से उसका विरोध करता है । नाटक का अन्त श्रीमती एलविन को एक अप्रिय निर्णय लेने को प्रेरित करता है, ऐसा निर्णय जो उसकी इच्छा को विनाश के चरम पर ले आता है, और यह स्थिति अपने पागल बेटे की हत्या करने न करने के निष्कर्ष लेने की है । अनाथालय का निर्माण, आस्वल्ड का रोशनी के लिए चिल्लाना आदि इच्छाओं के द्वन्द्व का परिणाम है । यदि इस नाटक से चेतन इच्छाओं को निकाल दिया जाय तो नाटक का स्वरूप क्या होगा, कहा नहीं जा सकता । चेतन ईहा के प्रयोग के पूर्व ही यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि ईहा अपने उद्देश्य को पूरा कर ही लेगी । इन नाटकों में इच्छाओं का संघर्ष अन्तर्निहित है तथा पात्रों का प्रत्येक कार्य इस अन्तर्व्याप्त संघर्ष से अनुप्रेरित है ।

'अतिक्रमण' या उल्लंघन में विशिष्ट कार्य की बात कहकर आर्चर किसी गहराई की खोज में जाता है । यद्यपि वह इस सिद्धांत के दार्शनिक तात्पर्य में रुचि नहीं रखता, उसकी स्वयं की दृष्टि अनिवार्य रूप से तात्त्विक है । 'वह एक ऐसी निरपेक्ष आवश्यकता के विचार को स्वीकार करता है जो इच्छा को न नकारे तथा अपाहिज कर दे।'[१] आर्चर

---

१ बी०एच० क्लार्क : 'यूरोपीयन थीअरिज़ आफ़ ड्रामा', पृ०५३८

कार्य को अस्वीकार करने वाले परिस्थितिजन्य तथा भाग्य और नियति के आगे झुक जाने वाला नाटकीय परिकल्पना को स्वीकार नहीं करता । वह व्यक्ति के जीवन तथा उसके आवेगों को प्रभावित करने वाली स्थिति के प्रति सावधान होते हुए यह तो स्वीकार करता है कि नाटक में संघर्ष एक महत्वपूर्ण तत्व है, पर इस संघर्ष को इच्छाओं का संघर्ष वह नहीं मानता । उसकी जगह वह संक्रान्ति शब्द को नाटकीयता की सार्वभौमिकता विशेषता के रूप में प्रस्तुत करता है ।' नाटक को संक्रान्तियों की कला मानते हुए आर्चर कहता है कि --' नाटक का प्राणतत्व संक्रान्ति है ... : एक नाटक कम या अधिक नैरन्तर्य से भाग्य तथा परिस्थिति में विकासशील संक्रान्ति है तथा नाटकीय दृश्य मूल घटना को स्पष्टत: आगे बढ़ाने के लिए संक्रान्ति में संक्रान्ति है।'[1] नाटक के विकास में उसने छोटी संक्रान्तियों के माध्यम से अधिक या कम आवेगपूर्ण उद्वेजना तथा चरित्र के विभिन्न पक्षों का होना स्वीकार किया है[2] । किन्तु सभी संक्रान्तियां नाटकीय नहीं हैं । एक व्यक्ति के जीवन की संक्रान्ति कोई बीमारी, मुकदमा, चोरी या साधारण शादी हो सकती है, किन्तु नाटकीय सामग्री नहीं ।नाटकीय सामग्री के लिए आकस्मिकता तथा क्षिप्रता को वह अनिवार्य तत्व मानता है ।

यद्यपि आर्चर की यह परिभाषा ब्रूनेत्यार की परिभाषा से कोई साम्य नहीं रखती किन्तु नाटकीय संघर्ष की चर्चा में नि:संदेह कुछ निश्चित आयाम देती है । आर्चर नाटक को संक्रान्तियों की कला मानता है, किन्तु जीवन में व्यक्ति ऐसे संघर्ष की कल्पना कर सकता है,जो किसी संक्रान्ति तक न पहुंचे,क्योंकि सभी संघर्ष संक्रान्ति होंगे ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता और आर्चर मानता है कि ऐसा संघर्ष जो संक्रान्ति तक न पहुंचे नाटकीय नहीं होगा । आर्चर के सिद्धांत कि नाटक का प्राण संक्रान्ति है', पर शंका प्रकट की गई । भूकम्प की प्रक्रिया क्राइसिस है, किन्तु उसका नाटकीय महत्व क्राइसिस की प्रतिक्रिया तथा व्यक्ति के कार्य में निहित है । जब ऐसी घटनाओं में जो कि

----

१ विलियम आर्चर : 'प्ले मेकिंग', पृ० २४
२ ,, : ,, पृ० २५

क्राइसिस की ओर ले जाता है, व्यक्ति घिरा रहता है, तो वह चरम तक पहुंचने की यात्रा को सामीप्य से देखता नहीं है, अपितु अपनी आवश्यकता, सुविधा तथा स्वयं को घिरी सम्भावित स्थितियों से बचाने के अनुकूल कार्य करता है । वस्तुत: यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो पता चलेगा कि प्रत्येक संक्रान्ति जिसे आर्चर नाटकीय होने की संज्ञा देता है, के पीछे संघर्ष की प्रवृत्ति होगी । यह अलग बात है कि संघर्ष वहां गतिशील है या ध्वनित अथवा व्यंजित, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह मानवीय इच्छाओं का ही द्वन्द्व होगा । हैनरी ऑर्थर जौन्स के शब्दों में हम यह दावा कर सकते हैं कि कुछ पात्र चेतन या अचेतन अवस्था में किसी कठिन परिस्थिति के विरुद्ध रहते हैं[1] । क्राइसिस वस्तुत: वह चरम बिन्दु है, जहां से सारा संघर्ष नया मोड़ लेने की प्रक्रिया में से गुजरता है । नाटक या तो क्राइसिस तक पहुंचने का संघर्ष हो सकता है या क्राइसिस के बाद नये संघर्षमय आयाम देने का; किन्तु स्वयं संक्रान्ति अपने-आप में नाटकीय नहीं हो सकती है, क्योंकि वह स्थूल प्रक्रिया है, गतिशील प्रभाव नहीं ।

ब्रुनेत्यार तथा आर्चर के सिद्धांत के समन्वय से हैनरी ऑर्थर जौन्स नाटक में संघर्ष के अपने सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए कहता है — " नाटक तब उत्पन्न होता है, जब कोई भी एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति चेतन अथवा अचेतन रूप से किसी भी प्रतिद्वन्द्वी व्यक्ति, परिस्थिति या भाग्य के विरुद्ध 'अप अगेन्स्ट' हैं । यह प्राय: तब और भी तीव्र होता है जब (जैसा कि 'ओडिपस' में) दर्शक बाधाओं के प्रति सावधान है, किन्तु अभिनेता स्वयं इन बाधाओं से अनभिज्ञ है[2] ।" नाटक में संघर्ष की उत्पत्ति और उसका नैरन्तर्य तभी तक सम्भव है, जब तक कि व्यक्ति या व्यक्तियों की प्रतिक्रिया विरोधी मनुष्यों, परिस्थितियों या भाग्य से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक रूप में होती हम देखते हैं । यह विरोध, दूसरे व्यक्ति में उतने ही सन्तुलित रूप में बाधा के परिवर्तित होने पर कहीं अधिक तीव्र एवं प्रभावोत्पादक होता है[3] । आर्चर तथा ब्रुनेत्यार के

---

१ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीअन थीअॅरिज़ आफ़ ड्रामा', पृ०४६६

२,३ ,, ,, ,, पृ०४६६

सिद्धान्तों के आधार पर जोन्स ने कुछ संक्षिप्त सिद्धांत मान रखें[1]। ब्रुनेत्यार के सिद्धांत को 'संघर्ष-सन्निकट', संघर्ष-विषम', और आर्चर के 'क्राइसिस' को 'तनाव-क्राइसिस' (द्विविधा संक्रान्ति) के रूप में उन्होंने कल्पित किया और इन आधारों पर एक दूसरा सिद्धांत प्रस्तुत किया--' अधिकांशत: कार्यों की सरल रूपरेखा किसी भी सफल नाटक में द्विविधा और संक्रान्ति के अनुक्रम या संघर्ष-सन्निकट, संघर्ष-विषम के क्रम को आरोहण, त्वरित तथा सम्बद्ध रूप में चरम सीमा पर ले जाती है[2]।

जॉन हावर्ड लॉसन ने इस सिद्धांत पर आपत्ति करते हुए बताया कि 'यह नाटकीय नियम की अपेक्षा नाटकीय प्रारूप की व्याख्या अधिक है।' इससे नाटक के निर्माण के बारे में तो ज्ञान होता है, विशेष रूप से 'आरोहण तथा त्वरित चरम सीमाओं' से किन्तु चेतन इच्छा का ज्ञान नहीं होता। फलस्वरूप उन मनोवैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश नहीं पड़ता जो कि इन चरम सीमाओं को सामाजिक या अर्थात्मक महत्त्व देते हैं[3]। स्थितियों का अर्थ प्रयोग में लायी गयी चेतन इच्छा की अवस्था, रूप और वह कैसे कार्य करता है, में निर्भर करता है। क्राइसिस नाटकीय विस्फोटन, उद्देश्य तथा फल के बीच के अन्तराल से उद्घाटित किया जाता है अर्थात् इच्छाशक्ति तथा सामाजिक आवश्यकता की शक्ति के बीच सन्तुलन में परिवर्तन पर निर्भर करता है।

लॉसन के अनुसार चूंकि नाटक सामाजिक सम्बन्धों की व्याख्या करता है, अत: अनिवार्य रूप से नाटकीय संघर्ष भी सामाजिक संघर्ष ही होना चाहिए। वह मानता है कि हम ऐसे संघर्ष की कल्पना तो कर सकते हैं, जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध अथवा व्यक्ति अपनी परिस्थितियों, जिसमें सामाजिक तथा प्राकृतिक शक्तियां भी हों, से संघर्षरत है, किन्तु ऐसे नाटक की कल्पना करना कठिन है, जिसमें प्राकृतिक शक्तियां, दूसरी प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध कारणजन्य हों। उसके अनुसार नाटक का आवश्यक तत्त्व सामाजिक संघर्ष है, व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध, एक व्यक्ति समूह दूसरे समूह के विरुद्ध या

---

१ बी०एच० क्लार्क : 'यूरोपीयन थीयॅरिज़ आफ़ ड्रामा', पृ०४७०
२ ,, ,, ,,
३ ,, ,, पृ०५३६

व्यक्ति अथवा समूह सामाजिक अथवा प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध, जिसमें चेतन इच्छा समझने योग्य एवं विशेष उद्देश्य के सम्पादन में प्रयोग में लायी गई हो तथा संघर्ष को संक्रान्ति बिन्दु तक लाने में पर्याप्त रूप से शक्तिशाली हो ।[1]

लॉसन के विचार में कोई भी सामाजिक महत्व का विषय नाटक की वस्तु हो सकता है, बशर्ते कि उसमें अनिवार्य रूप से नाटकीय तत्व हो । नाटकीय तत्व किसी भी साधारण द्वन्द्व को नाटकीय संघर्ष में परिवर्तित कर सकने में समर्थ होता है । वह मानता है कि नाटकीय संघर्ष चेतन इच्छा के प्रयोग पर निर्भर करता है । चेतन इच्छा के बिना नाटकीय संघर्ष या तो पूर्णतया आत्मगत होगा या वस्तुगत और चूंकि ऐसा संघर्ष, व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति या परिस्थिति के साथ सम्बन्ध को व्याख्यायित नहीं करेगा, अत: वह सामाजिक संघर्ष नहीं होगा ।[2] स्पष्ट है लॉसन इच्छाशक्ति की अनिवार्यता को महत्व बख्श देता है । व्यक्ति या समूह की इच्छाएं तथा आवेग किस रूप में व्यवस्थित किए गए हैं, यह मात्र चेतन इच्छा के प्रयोग पर ही निर्भर नहीं है, पर यह प्रयोग में लायी गई चेतन इच्छा की 'अवस्था' तथा 'आकार' पर अवलम्बित है ।

वस्तुत: नाटक का संघर्ष चाहे वह वाह्य हो या अन्त:, परिस्थितियों या प्राकृतिक नियमों से हो, व्यक्ति अथवा समूहों में हो पर प्राय: सभी के मूल में व्यक्ति या व्यक्ति-समूह की चेतन इच्छा ही कार्य करती है । महान् नाटककार शॉ ने भी नाटकीय संघर्ष में व्यक्ति की इच्छा को महत्व दिया । उसके अनुसार 'नाटक प्रकृति-चित्रण के लिए मात्र कैमरा नहीं है, यह व्यक्ति की इच्छा तथा उसकी परिस्थिति के संघर्ष के दृष्टांत का प्रदर्शन है ।'[3] ब्रैंडर मैथ्यूज़[4] ने तो यहां तक माना कि यदि कोई नाटक हममें रुचि पैदा कर सकता है, तो वह मात्र ऐसा नाटक है, जो किसी इच्छा या किन्हीं

---

१ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपियन थीअरीज़ आफ ड्रामा', पृ० ५४०
२ ,, : ,, पृ० ५३७
३ ,, : ,, पृ० ४७३
४ ,, : ,, पृ० ४६३

इच्छाओं का संघर्ष प्रस्तुत करें । थामसन[1] के अनुसार नायक की इच्छा में किसी प्रकार का हस्तक्षेप संघर्ष को जन्म देता है । शापेनहॉवर इच्छाशक्ति के अन्त और उसके फलस्वरूप पराजय को त्रासदी के उद्भव का मूल मानता है । इच्छाशक्ति का स्वयं से भी अन्य व्यक्ति में त्रास तथा क्लेश का परिचायक है । ऊना एलिस[2] ने शक्तिशाली आवेगों के संघर्ष से उत्पन्न तनाव और सन्तुलन को नाटक के लिए अनिवार्य तत्व माना । प्रो० ग्रूस[3] नाटक और अन्य युद्ध, मल्ल युद्ध तथा दौड़ से प्राप्त होने वाले मनोरंजन में एक तात्त्विक समानता मानता है, क्योंकि इनमें ऐसा संघर्ष है, जिसे देखते हुए हम स्वयं उसमें भाग ले रहे होते हैं । तात्पर्य हम किसी-न-किसी पक्ष के होना चाहते हैं । आनुषंगिक भावना के कारण हम एक दृढ़ व्यक्तित्व वाले केन्द्रीय पात्र के साथ सहानुभूति रखते हैं । वह कठिनाइयों के साथ युद्ध करता है । जब हम उस सारे व्यापार का अनुसरण कर त्रासदी की गम्भीरता तक के विभिन्न सोपानों को शीघ्रातिशीघ्र जाते हुए पाते हैं, तो उस समय यह निर्णय करना कि वास्तविक नाटक कहाँ से प्रारम्भ होता है, कठिन हो जाता है । यहाँ पर तब बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक ईहा की दृढ़ता का महत्व बढ़ जाता है । सार्से ने जिस घटना क्रम को कार्य द्वारा सम्पन्न होना अनिवार्य माना, उसे अनिवार्य दृश्य का नाम दिया । स्पष्टतः ये अनिवार्य दृश्य वही हैं जिनमें हम विरोधी ईहाओं का संघर्ष देखते हैं । अनेक संकल्पों की टकराहट ईहा के साथ ईहा का संघर्ष नाटकीय अन्त की चरम सीमा में घटनाओं का रूप लेता है । इस सम्पूर्ण विवेचन से एक सार्थक बात सामने आती है कि संघर्ष का अनिवार्य तत्व मानव ईहा का चित्रण है । कोई भी नाटक जिसमें नाटककार दर्शकों को इन विरोधी निर्णयों का घात-प्रतिघात देखने नहीं देता, भावुक रुचि को बनाए रखने में समर्थ नहीं होता । कोई भी नाटक चाहे वह त्रासदी हो या कामदी, अतिनाटक हो या प्रहसन यदि प्रेक्षक को आकर्षित कर सकने में समर्थ हुआ है तो इसलिए कि नाटककार ने विरोधी इच्छाओं के घात-प्रतिघात के सम्पूर्ण भाव को स्पष्ट करने में आवश्यक दृश्यों

---

१ ए०आर०थामपसन : 'द एनाटामी आफ़ ड्रामा', पृ० १२८

२ ऊना एलिस : 'द फ्रन्टिअॅरस आफ़ ड्रामा', पृ० २

३ अनुवादक इन्दुजा अवस्थी : 'नाटक साहित्य का अध्ययन', पृ० ५६ पर उद्धृत

का प्रदर्शन हमारे सामने किया है । मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यह स्वीकार कर चुके हैं कि परस्पर विरोधी संवेगों या इच्छाओं के बीच विरोध द्वन्द्व का कारण है । शारीरिक, सामाजिक, व्यवहारवादी विचारधारा के अनुसार दो या दो से अधिक प्रतिमानों (परस्पर विरोधी अथवा केवल भिन्न) की प्रतिक्रियाओं के परस्पर ऐसे संघर्ष को द्वन्द्व कहते हैं, जो कि निरन्तर होते रहने वाले गतिशील प्रेरित व्यवहार की उपयुक्त प्रगति, क्रम, विस्तार, सिद्धि अथवा पूर्णता को बाधित करते हैं या रोकते हैं[१] ।

नाटकीय संघर्ष की विशेषताएं // संघर्ष में इच्छाशक्ति को मुख्य तत्व मान लेने पर उसके स्वरूप और नाटक में उसके प्रयोग पर प्रश्न उठता है, क्योंकि मात्र तीव्र या दृढ़ इच्छा रखना ही संघर्ष को निःसृत नहीं कर सकता है । इच्छा रखकर उसके लिए क्रियाशील होना और उसे प्राप्त करने के लिए बहुमुखी संघर्ष में प्रवृत्त होना नाटकीय पात्रों पर अनिवार्य हो उठता है । तब प्रश्न नाटकीय विशेषताओं का उठता है कि वे क्या हैं और नाटक में उनका होना क्या अर्थ रखता है । इस दृष्टि से विचार करने पर संघर्ष के अन्तर्निहित तत्वों, इच्छा, नाटकीयता-कौतूहल और तनाव, तथा सन्तुलन पर विचार करना आवश्यक-सा लगने लगता है । क्योंकि नाटकीय संघर्ष की सफलता या असफलता इनके प्रयोग और नाटक में इनके नियोजन के स्वरूप पर निर्भर करता है ।

इच्छा / प्रतिदिन के जीवन को देखें तो वह चुनावों का रंगस्थल प्रतीत होगा । यदि हर आने वाली घड़ी में व्यक्ति के सामने यह बिलकुल स्पष्ट होता कि केवल एक ही कार्य वह कर सकता है या केवल एक ही कार्य वह करना चाहता है तो सम्भवतः उसका जीवन सरल होता । सूक्ष्म रूप से देखें तो हम पाएंगे कि प्रतिदिन की दिनचर्या में ही हमने कई चुनाव लिए और प्रत्येक सम्भव विकल्प पर विचार करने के बाद कोई निर्णय लिया । तात्पर्य इच्छा करने का अर्थ है चुनाव करना, कामना करना या रुकावटों पर विजय पाना[२] । वुड्वर्थ के अनुसार हम दो लक्ष्यों में से अपनी पसन्द का एक

---

१ नार्मन ए० कामरोन : 'बिहेव्य:र डिसआ:डर', पृ० १३१-१३२

२ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के लिए देखिए-- वुड्वर्थ की 'साइकलॉजि' ।

लक्ष्य चुन लेते हैं । इस चुनाव की दूसरी स्थिति लक्ष्य तक पहुंचने के साधन के चुनाव करने की है । हम साधारणतया किन्हीं दो विकल्पों में से श्रेष्ठ विकल्प को चुनने का प्रयत्न करते हैं । किसी भी तरह से व्यक्ति एक निश्चय पर पहुंच कर उसको निभाता है । प्रेरकों या आवेगों के जटिल संघर्ष से इच्छा का स्वरूप भी दृढ़ होता है ।

शापेनहॉवर[१] जैसे विद्वान् सभी रचनात्मक कलाओं के मूल में इच्छा को ही मानते हैं । नाटक का निर्माण करने वाली इच्छा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए ब्रुनेत्यार ने बताया कि वह एक निश्चित उद्देश्य की ओर ले जाने वाली होनी चाहिए, और यह उद्देश्य इस अर्थ में बाह्यविक होना चाहिए कि इच्छा किसी तथ्य को प्रभावित कर सके, प्रेक्षक इस उद्देश्य को समझ सके तथा उसमें पूर्ण होने की संभावनाओं का भी अनुमान लगा सके । इच्छा अनिवार्यतः से एक तथ्य की चेतनता से उत्पन्न होनी चाहिए, जो स्वयं हमारी चेतना से आदान-प्रदान कर सके । किन्तु नाटकीय इच्छा मात्र चैतन्य यथार्थ से ही सम्बन्धित न होकर अपनी शक्ति के प्रभाव से भी जुड़ी होती है । इच्छा इतनी दृढ़ तथा शक्तिशाली होनी चाहिए कि वह नाटकीय संघर्ष को बनाये रखने के साथ ही उसे विकसित भी करे । ऐसा संघर्ष जो संक्रान्ति तक पहुंचने में असमर्थ होता है, लासन के अनुसार कमजोर इच्छाओं का संघर्ष होता है । ग्रीक और एलिजाबेथन नाटक में संघर्ष का अधिकतम दबाव नेता की मृत्यु या उसकी पराजय में होता है । वह अपनी विरोधात्मक शक्तियों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है या स्वयं अपने जीवन को पराजय का प्रतीक मान लेता है । ब्रुनेत्यार ने नाटक में प्रयुक्त इच्छा की प्रभावशीलता तथा शक्तिशालिता के मापदण्ड पर एक नाटक को दूसरे नाटक से श्रेष्ठ माना । किन्तु इच्छा की शक्ति नापना सम्भव नहीं है, और संघर्ष अपने आप में पूर्ण नहीं होता परिस्थितियों से भी सम्बद्ध रहता है । वस्तुतः नाटक में महत्व इस बात का है कि इच्छा-शक्ति कैसी है न कि इस बात का कि कितनी है । कोई भी इच्छा-शक्ति कितनी भी कमजोर क्यों न हो, पर इतनी तो प्रभावशाली होनी चाहिए कि वह किसी संघर्ष को जन्म दे सके तथा उस संघर्ष को अन्त तक निभा सके । नाटक में ऐसे व्यक्तियों का

----

१ ई०एस०फ्रास्ट : 'बेसिक टीचिंग्स आफ ग्रेट फिलॉसफर्स'

२ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीअन थीअरिज आफ ड्रामा'

निर्वाह नहीं हो सकता, जिनकी ईहा दृढ़ न हो तथा जो शीघ्र ही कोई निर्णय, भले हो वो तात्कालिक महत्व का हो, ना ले सकते हों। लॉसन के अनुसार इच्छा की साधारण शक्ति इतनी होनी चाहिए जो किसी क्रिया को एक प्राण दे सके तथा व्यक्ति एवं परिस्थिति के बीच के सन्तुलन को निर्मित कर सके।[१]

नाटकीयता — किसी भी इच्छा शक्ति का नाटकीय होना उतना ही अनिवार्य है जितना कि संघर्ष में किसी इच्छाशक्ति का होना। नाटक यद्यपि जीवन के कार्य का अनुकरण है तथा नाटक का संघर्ष जीवन का भी संघर्ष है, पर यह अनिवार्य नहीं कि जीवन का संघर्ष नाटकीय भी हो। हमारी प्रतिदिन की व्यक्तिगत इच्छायें और संकल्प, जरूरतें तथा कामनायें पूरी हो जाने के कारण नाटकीय तत्वहीन होती हैं। किन्तु प्रतिदिन की वे इच्छायें जो पूरी नहीं होती हैं, हमें सभी प्रकार की बाधाओं तथा व्यक्तिगत विरोधों के विरुद्ध उत्तेजित करती हैं। दूसरे व्यक्ति की इच्छायें एवं कामनायें हमारे इन्हीं आवेगों और भावों के समानान्तर विरोध, समर्थन और अस्तित्व के संघर्ष के लिए चलती हैं। प्राकृतिक बाधायें भी हमारी आकांक्षाओं को कुचलने की भावना से राह में आया करती हैं। व्यक्ति की अपनी भी विरोधात्मक आकांक्षायें हो सकती हैं और यह विरोध कभी-कभी हमारे आवेगों से सम्बन्धित रहता है। जैसे माता-पिता की अभिलाषा के विरुद्ध जाना या सामाजिक मान्यताओं से विद्रोह करना या प्रेम और लोभ के बीच का तनाव, अथवा अपने से अधिक बुद्धिमान या दृढ़ व्यक्ति के विरुद्ध जाना, आदि विरोध जीवन में एक तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं. और दो स्थितियों, इच्छाओं या आवेगों के बीच विरोध के कारण तनाव उत्पन्न करने वाली इच्छायें और आवेग कहीं अधिक नाटकीय स्थिति को जन्म देते हैं। तनावपूर्ण स्थिति के अन्त के साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है। कूपर के अनुसार तनाव के अभाव में कितना भी आश्चर्यजनक, भयानक, आकस्मिक या निराशाजनक अन्तवाला नाटक नाटकीय नहीं हो सकता, क्योंकि तनाव तथा संघर्ष ही नाटकीय स्थिति के मूल तत्व हैं।[२]

---

१ बी० एच० क्लार्क : 'युरोपीयन थ्यौरिज़ आफ़ ड्रामा',

२ सी० डब्लू० कूपर : 'प्रीफ़ेस टू ड्रामा', पृ० ४०

'नाटकीयता का' रॉनाल्ड पीकॉक के अनुसार "स्पष्ट अर्थ किसी भी आकस्मिकता, आश्चर्यजनक, उत्तेजित या व्याकुल तथा हिंसक घटनाओं से सम्बन्धित तनाव का चित्रण करना है[१]।" वह आगे कहता है कि साधारणतया यह माना जाता है कि "संघर्ष नाटक का निर्माण करता है, किन्तु विस्मय तथा विशेषरूप से तनाव (नाटक निर्माण के) तत्त्व हैं।" क्योंकि "... निःसन्देह ये दोनों संघर्ष से उत्पन्न होते हैं पर सदैव नहीं और संघर्ष तभी नाटकीय होता है, जब उसमें विस्मय तथा तनाव की स्थिति बनी रहता है[२]।" उदाहरण देते हुए वह बताता है कि क्रिकेट मैच संघर्ष को उत्पन्न कर चलता है, पर अपने अत्यधिक परिवर्तनशील तनाव के कारण वह किन्हीं विशेष क्षणों में ही नाटकीय होता है, दूसरी ओर टूटे हुए पुल की ओर पूर्ण गति से जाती रेलगाड़ी तनाव की कल्पना तो देती है संघर्ष की नहीं। पीकॉक मानता है कि चरित्र तथा कार्य उत्तेजक या उग्र रूप में प्रस्तुत किये जाने पर ही नाटकीय अर्थ को सार्थक करते हैं। नाटकीय कार्य से तात्पर्य केवल 'कुछ करना' नहीं है, किन्तु किसी नियन्त्रित परिणाम की महत्ता को स्वीकार कर उसे पाने के लिए क्रियाशील होता है। नाटकीय विशेषता देखा जाये तो नाटक में किसी भी क्षण या स्थिति के सभी अन्तर्निहित अर्थों का प्रत्यक्षतः सम्प्रेष होता है और गुस्तैव[३] के अनुसार, साधारणतया स्वयं को दो प्रमुख रूपों में व्याख्यित करता है। एक, व्यक्ति अपने अन्तर्तम मन को किसी दबाव में जाते हुए वाह्य जगत को और प्रेषित करने के संघर्ष में जाता है और उसकी परिस्थितियां या वातावरण उसके भाव प्रवण आवेगों पर दमनकारी प्रभाव डालने को तत्पर रहती हैं। दो, समापन कार्य प्रतिक्रियात्मक प्रभाव डालता है, जो मात्र संग्राहक न रहकर नई संवेदनाओं के ग्रहण और

----

१ रॉनाल्ड पीकॉक : दी आर्ट ऑफ़ ड्रामा', पृ० १५६

२ ,, : ,, ,, पृ० १६०

'कार्य विकसित और अग्रसरित होता है, किन्तु तनाव और संघर्ष के अनुभव में अग्रसरित होता है, सपाट अनुभव में नहीं।... कार्य केवल सार्थक कार्य व्यापार नहीं, सक्रिय संघर्ष का तनाव भी पद इसमें अन्तर्निहित है।'
-- क्लीन्थ ब्रुक्स : 'अण्डरस्टैण्डिंग ड्रामा', पृ० १४

३ बी०एच० क्लार्क : 'युरोपीयन थ्योरिज़ आफ़ ड्रामा' में गुस्तैव का लेख 'टैकनीक आफ़ ड्रामा' देखिए।

[illegible] का सामर्थ्य रखता है । इन स्थितियों का मात्र प्रस्तुतीकरण नहीं, अपितु उनका व्यक्ति-मन पर प्रभाव डालना ही कला व्यापार है । अभिनय का [illegible] स्वभाव से प्रकट होने तथा प्रेक्षकों के आवेगों को स्थायित्व देने के लिए प्रभाव [illegible] क्षमता की अपेक्षा रखता है, जो घटनाओं की गति से स्थितियों की [illegible] से या प्रस्तुत कार्य में अन्तर्निहित विचार तत्व की गम्भीरता से उत्पन्न होती है । नाटककार प्रेक्षक के मध्य अपने नाटक की सफलता, असफलता के प्रति सावधान रहता है और इसी कारण वह ऐसी स्थितियों का निर्माण करता है जो तीक्ष्ण तनाव की अनुभूति दे, किन्तु ऐसी स्थितियां जिन पर वह वास्तव में निर्भर कर सकता है, यूजीन वेथ[1] के अनुसार वे स्थितियां हैं, जिन्हें हम वास्तविक जीवन में नाटकीय क्षण कहते हैं । उसके अनुसार ये वे क्षण हैं जब कि अधिकांश स्पष्ट न रहकर एक प्रकार से दाव पर लगा रहता है--कुछ उक्तियां जो किसी व्यक्ति के अतीत की किसी घटना को प्रतिध्वनित करती हैं, या ऐसी टिप्पणियां जो अकस्मात् किसी व्यक्ति के अतीत के व्यवहार का उद्घाटन करती हैं या ऐसी कोई स्थिति जो उसे भविष्य के कार्य के लिए उत्तेजित करती है, आदि ऐसी ही स्थितियां हैं । एक निर्देशक के कथन "कथा नुकीली चोटियों और घाटियों का क्रम है जो चरम सीमा तक इस अनुक्रमण में नियताप्ति का निर्माण करती है[2] ।" का उद्धरण देते हुए यूजीन ने इन चोटियों को नाटकीय स्थिति माना है और बताया कि ये स्थितियां कार्य को अधिकतम तनाव से कम तनाव की ओर ले जाती हैं तथा स्वयं अपने चारों ओर की घिरी घटनाओं से ऊपर उठ जाती हैं । निकॅल के अनुसार नाटकीयता का उपयुक्त अर्थ अप्रत्याशित है, जिसमें किसी आश्चर्यजनक संयोग से या प्रतिदिन के जीवनगत भय से वर्णित किसी घटना के प्रस्थान से उत्पन्न स्तब्धता का वर्णन रहता है । नाटकीयता में विस्मय, आकस्मिकता तथा जड़ता का विधान होना चाहिए[3] ।

नाटकीयता से तात्पर्य ऐसे क्षणों से है, जिनमें तनाव, विस्मय, आकस्मिकता तथा स्तब्धता का समन्वय रहता है । नियतबद्ध परिणाम के लिए संघर्षरत कार्य नाटकीयता को तीव्र

---

१ यूजीन एम० वेथ : 'द ड्रैमैट्इक मुमन्ट' , पृ० ३

२ फ्रैंक मैमोलान । यूजीन की पुस्तक 'ड्रैमेटिक मुमन्ट' में पृ० ३ पर उद्धृत

३ ए० निकॅल : 'थीऑरि आफ़ ड्रामा', पृ०३६

'श्रेष्ठ समाप्ति के लिए स्तब्धता अपरिहार्य है ।', पृ० ३७

बनाता है तथा जीवन की [illegible] शक्तियाँ आवेग, वेग, आकांक्षाएं, आस्थाएं या इच्छाएं जो किसी निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति तथा संघर्ष के बीच के अन्तराल में तनाव में भोगती हैं, नाटकीय स्थिति के अन्तर्गत आती हैं ।

सन्तुलन

विषय एवं रूप, तकनीक तथा माध्यम में सदैव रचनात्मक संघर्ष रहता है और वह संघर्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं है, जो मनोदशा की सीमाओं से उत्पन्न होता है । दो नितान्त विभिन्नताओं द्वारा अधिक तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता के लिए इन विरुद्धों का समान रूप से शक्तिशाली होना आवश्यक है । सन्तुलन का साधारण अर्थ भी समतौल अथवा समता है । विरोधों में समता के अभाव में संघर्ष की परिकल्पना निराधार होकर शक्ति प्रयोग की स्थिति उत्पन्न कर देगी और नाटक किसी मैदानी नदी की तरह सपाट हो जायेगा । "नाटक जीवन के दो विरोधात्मक अध्ययनों तथा उनके अनुवर्ती आवेगों, जो कवि या नाटककार के मस्तिष्क में कार्यरत हैं, के बीच दृढ़ तथा सीमित सन्तुलन की सुरक्षा पर अवलम्बित है[१]।" किन्तु जीवन का संघर्ष यथातथ्य रूप से नाट्य में रूपान्तरित नहीं हो जाता, कलाकार के मस्तिष्क में मानो कुछ सँवर कर नाटकीय कलात्मकता की रक्षा करता हुआ प्रकट होता है । इस तरह लेखक मस्तिष्क में घट रहे सन्तुलित संघर्ष से जिस कला का उद्भव होता है, वह कहीं अधिक श्रेष्ठ तथा प्रभावोत्पादक होती है । सम्पूर्ण मस्तिष्कीय कार्य व्यापार को प्रस्तुत करना नाटककार के लिए सम्भव नहीं होता, पर इस प्रक्रिया के वे मूल सन्तुलित आयाम जो उसे चिन्तन की एक चरमसीमा की ओर ले जाते हैं, कलात्मक रूप में नाटक में प्रदर्शित होते हैं । नाटककार के मानस का यह सन्तुलित व्यवहार सभी नाट्य प्रकारों में अन्तर्विषय के व्यवहार तथा व्याख्याओं के निष्कर्ष को निर्देशित करता है, भले ही उसका स्वरूप जो भी हो । नाटक की विशिष्टता इसलिए भी स्थापित होती है कि उसमें ब्रह्माण्ड व्यक्ति की स्थिति और नियति के अन्तर्द्वन्द्व अध्ययन के बीच सन्तुलन रखा जाता है, और यह सन्तुलन व्यक्ति की जटिलताओं तथा विरोधात्मक अनुभवों को अन्त तक कला के रूप परिवर्तित करता है । कुछ नाटकों में पूर्ण सन्तुलन अपेक्षित नहीं

---

१ ऊना एलिस फ़रमॉर : द फ़्रन्टटिअॅरस आफ़ ड्रामा', पृ० १२७

हो जाता, जिससे व्यक्ति का निर्णय और मानसिक सन्तुलन उन निर्वात बरन सीमाओं पर विश्वास नहीं कर पाता । किन्तु उन्हीं की सीमाओं का ज्ञान जब व्यक्ति को उसकी दोहरी विचारधारा को पहचानने में सहायता देता है तो नाटक का अन्तर्निहित विषय बन जाता है ।

ऊना एलिस ने सन्तुलन के अनेक आयामों का विस्तृत चर्चा करते हुए अनुभव किया पीड़ा तथा कल्पित अच्छाई के बीच का सन्तुलन अत्यन्त प्रचलित रूप माना[1] । प्रो० ब्रैडले का कथन है कि संघर्ष के तनाव तथा उत्तेजनाओं के क्रम में इस प्रकार का सामंजस्य होना चाहिए कि भय और आशा के उतार-चढ़ाव से कथा विकसित हो[2] । देखा जाये तो संघर्ष की नाटकीय स्थितियों के समन्वय और सन्तुलन से नाटक का प्रारूप कुछ इस प्रकार निर्मित किया जाना चाहिए कि ये तत्व नाटक में महत्वपूर्ण बने रहकर भी प्रेक्षक को ऊबा देने वाली स्थिति तक न ले जाये । नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक निरन्तर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने वाला संघर्ष अपने नैरन्तर्य के कारण अस्वाभाविकता का कारण बनता है । हेनरी आर्थर जोन्स ने सम्भवत: इसी स्थिति को अनुभव कर कहा कि 'संघर्ष प्राय: कार्य की पृष्ठभूमि में रखा जाना चाहिए । यदि वह सदा आघातक है, सदा बाह्य है और स्पष्टत: परिलक्षित है तो नाटककार को अपने इस दावे को, कि वह चरित्रों का चित्रण सूक्ष्म तथा सत्य रूप में करेगा, का परित्याग कर देना होगा। वह एक अपरिष्कृत हिंसात्मक नाटक लिखेगा जो निरन्तर कर्णभेदी तथा अपार चिल्लाहट से पूर्ण होगा । वह अपने प्रेक्षकों को परिवर्तन के लिए कोई विराम था विश्राम नहीं दे पायेगा[3] ।' तात्पर्य विभिन्नता के अभाव से प्रेक्षक थक जायेंगे तथा उस थकावट से एक प्रकार की खीज से वे भर उठेंगे और पात्र भी जीवन की अनुभूति नहीं दे पायेगा । क्योंकि जीवन के संघर्षमय क्षणों में भी ऐसे क्षण निकल ही आते हैं, जिनमें हम कुछ भी और

----

१ द्रष्टव्य -- ऊना एलिस : 'द फ्रनटिअॅरस आफ़ ड्रामा', पृ० १३०-१४०

२ ए०सी० ब्रैडले : 'शेक्सपीरिअन ट्रैजेडी', पृ० ३७

३ बी०एच० क्लार्क : 'युअॅरपीअॅन थीअॅरिज़' पुस्तक में जोन्स का लेख द्रष्टव्य ।

प्रदर्शन तथा द्वन्द्व युद्ध की अधिक प्रधानता रहता है और यह स्थिति रंगमंच पर मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने में सफल होती है[1]। निकॅल भी इसी तथ्य को स्वीकारता हुआ मानता है कि रंगमंच में वाह्य संघर्ष की सर्वाधिक आकर्षण का केन्द्र रहता है,[2] और प्रो० ब्रैडले के अनुसार नाटक मुख्यरूप से रंगमंच के लिए है और रंगमंचीय दृष्टिकोण वाह्य संघर्ष की आवश्यकता अनुभव करता है, जो अपने प्रभाव से नाटक की गतिविधि को प्रभावित करता है[3]। हैमलेट का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह कहता है कि हैमलेट की अपने पिता से वार्ता और दर्शकों में यह प्रश्न मिलाना कि कौन किसको पहले मारेगा अधिक रुचिकर है, और नाटकीय क्षणों को महत्वपूर्ण बनाने में जितना सहायक हैमलेट का प्रार्थना पर झुके पिता को मारने का कार्य है, उतना उसका व्यक्तिगत आन्तरिक संघर्ष नहीं। नाटक में स्थूल वाह्य संघर्ष की महत्ता स्थापना में उन्होंने (पश्चिमी आलोचकों ने) ग्रीक नाटकों में वाह्य द्वन्द्व, जो दो शारीरिक शक्तियों, दो मस्तिष्कों या दो सामाजिक, राजनीतिक आदि स्थितियों का है, को अधिक परिलक्षित माना। निकॅल ने यहाँ तक कहा कि ग्रीक नाटककार आसद संघर्ष को वाह्य संघर्ष के रूप में ही स्वीकार कर चले थे[4]।

अन्त: संघर्ष जब संघर्ष दो शक्तियों, व्यक्तियों या स्थितियों का न रहकर दो आवेगों, और मन:स्थितियों का होता है तो वह निकॅल के कथनानुसार[5] अन्तर्द्वन्द्व हो जाता है। अन्त: संघर्ष एक मानसिक स्थिति से दूसरी स्थिति के विकास का, मूर्खता से विज्ञता का भी हो सकता है[6] और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के कारण कालान्तर में अन्तर्द्वन्द्व चेतन तथा अचेतन का भी माना गया। आत्मा और परिस्थिति के द्वन्द्व से हब्सन ने आत्मा

---

१ वाहब : 'टाइप्स आफ़ ड्रामा', पृ० ११२
२ निकॅल : 'थीऑरि आफ़ ड्रामा', पृ० ६६
३ ए०सी०ब्रैडले : 'शैक्सपीरियन ट्रैजडी', पृ० ३५
४ निकॅल : 'थीऑरि आफ़ ड्रामा', पृ० ६२
५ ,, : ,, पृ० ६३
६ ,, : ,, पृ०६८

और परमात्मा के द्वन्द्व को महत्वपूर्ण माना। वस्तुतः आन्तरिक द्वन्द्व हृदय के रहस्यों को प्रकाश में लाने में सहायक होता है और बाह्य जगत के नवनिर्माण का कामना करता है। इस कारण बाह्य द्वन्द्व की महत्ता को स्थापित करते हुए भी विचारकों, आलोचकों ने इस तथ्य से इन्कार नहीं किया कि नाटक के पूर्ण प्रभाव के लिए बाह्य द्वन्द्व के साथ अन्तर्द्वन्द्व भी अनिवार्य है। निकल के ही शब्दों में --" बाह्य द्वन्द्व रंगमंच पर अधिक प्रभावित करता है और अन्तर्द्वन्द्व नाटक को महानता तथा विशिष्टता देता है[1]।" प्रो० ब्रैडले[2] ने अन्तःसंघर्ष को अधिक महत्व दिया, क्योंकि वह आरंभ का महत्ता को प्रतिपादित करता है। कार्य की क्रियाशीलता पात्रों द्वारा ही सम्भव है और व्यक्ति स्वयं ही व्यक्ति को महत्व देता है। देखा जाय तो बाह्य द्वन्द्व जो कार्य को गतिशील और प्रभावोत्पादक बनाता है और अन्तर्द्वन्द्व जो व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों का उद्घाटन करता है--दोनों ही व्यक्ति द्वारा भोग्य हैं और अपने सूक्ष्म रूप में दोनों ही मानसिक होते हैं। उना एलिस ने सभी द्वन्द्वों को मानसिक बताते हुए बताया कि बाह्य संघर्ष यदि दूसरों के साथ संघर्ष से सम्बन्धित है तो अन्तःसंघर्ष स्वयं से। एक यदि व्यक्ति की आशा और भय का प्रदर्शन करता है तो दूसरा प्रार्थना और आभा का, पर दोनों ही भ्रम और अशान्ति की स्थिति भोगते हैं[3]।

सम्भावनाएं

नाटकीय संघर्ष को अन्तः-बाह्य रूप में रखना अपने-आप में मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण भले ही है, पर एक स्थूल विभाजन है। दोनों ही अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न होते हुए भी दोनों लगभग एक ही मूल से उदित हैं। व्यक्ति की प्रतिक्रिया चाहे वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में परिवेश के प्रति हो, व्यक्ति के प्रति हो अथवा अपने आवेग संवेग के प्रति हो, वह उसके भोग्य सम्पूर्ण द्वन्द्व की सन्तुलित अभिव्यक्ति है, जिसका प्रारूप अन्तर्द्वन्द्व में ही निर्मित हो जाता है। प्रतिक्रिया आन्तरिक स्तर पर उत्पन्न

----

१ ए० निकॅल :"थीअॅरि आफ़ ड्रामा", पृ०६६

२ प्रो० ब्रैडले : शेक्सपीरिअॅन ट्रेजडी", पृ०१३

३ उना एलिस :"शेक्सपीअॅर द ड्रेमेटिस्ट एण्ड अदर पेपर्स", पृ०१२२

होता है और तब आंगिक चेष्टाओं द्वारा प्रकट होकर बाह्य संघर्ष को जन्म देता है।

यह कहना कि रंगमंच की दृष्टि से बाह्य संघर्ष प्रथम और आवश्यक शर्त है शंका देता है। इब्सन का 'डाल्स हाउस' या चेखव का 'चैरी आर्चर्ड' या मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' या बादल सरकार का 'बाकी इतिहास' जैसे अनेक नाटकों में प्रत्यक्ष बाह्य द्वन्द्व नहीं है, किन्तु फिर भी ये सफल नाटक हैं। इसी तरह 'एब्सर्ड थियेटर' के नाम से लिखे गये नाटक किसी प्रत्यक्ष द्वन्द्व को प्रस्तुत नहीं करते, किन्तु एक ऐसे संघर्ष की प्रस्तुति करते हैं, जो परिवेश, युग जीवन और जीवन दर्शन की निरन्तर [illegible] सत्य प्रक्रिया से उदित है। वह संघर्ष युग जीवन की विषमता और बदलती मान्यताओं में व्यक्ति की निरीह, असहाय स्थिति में अस्तित्व की रक्षा के लिए, अपने पूर्ण परिवेश से संघर्ष के बोध को लेकर चलता है। व्यक्ति अपनी स्थिति या वर्तमान स्थिति के प्रति असन्तोष में प्रतिक्रियाशील है। संघर्ष अपनी सम्पूर्णता में केवल अन्तः, बाह्य द्वन्द्व का बोध न देकर रचनात्मक स्तर पर नाटक की सम्भावना का बोध देता है, जिसमें पात्र नायक, प्रतिनायक नहीं, अपने लिए दोनों है और अपनी पूर्ण शक्ति से अपने लिए कर्मरत है। उसका यह द्वन्द्व दूसरे व्यक्तियों के लिए संघर्ष की स्थितियाँ भले ही उत्पन्न कर दे पर वे एक-दूसरे से अलग स्वयं के प्रति भी उत्तरदायी हैं। अतः नाटकीय संघर्ष को 'द्वन्द्व' के सीमित रूप में न देखकर 'संघर्ष' के व्यापक रूप में देखना होगा, यह संघर्ष जो माध्यम और विषय का है और जिसकी [illegible] में ही नाटक की सम्भावना है।

नाटक के पात्रों की अपेक्षा नाटककार भी द्वन्द्व को भोगता है, सामाजिक परिस्थितियों के अनेकानेक विरोधाभास उसके मस्तिष्क में आते हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि ये सारे विरोधाभास किसी व्यक्तित्व रूप में ही उसके सामने आते हों। इन विरोधाभास के तनावको वह आन्तरिकता में गहरे अनुभव करता है। अपने अनुभवजनित संघर्ष के लिए वह एक कथा की कल्पना करता है। उसके पात्रों का चुनाव करता है और इस कथा का नाटकीय रूपान्तर करता है। रचनात्मक प्रक्रिया में नाटककार का संघर्ष तीन रूपों में प्रकट हो सकता है, संघर्ष प्रत्यक्ष रूप से व्याप्त हो, पुंजित हो, संघर्ष से बचाव की स्थिति का संघर्ष हो। ये सम्भावित स्थितियाँ, कथा चुनाव, उसके नियोजन एवं उसके

प्रस्तुतीकरण में दृष्टिगोचर होता है। नाटककार का मानसिक चिन्तन किसी ऐसे दर्शन का, विचारधारा का, सिद्धान्त का आधार ले सकता है जो उसके अन्तर को प्रतिबिम्बित कर पाये।

नाटक का आन्तरिक संघर्ष नाटक के रूपविधान एवं उसके तत्वों के संयोग से ही पूर्ण प्रभाव डाल सकता है। क्योंकि मात्र कथा ही नहीं, भाषा भी, चरित्रगत भाषा ही नहीं शैली, हाव-भाव, प्रकाश, ध्वनि, (संगीत) तथा रंगमंच सज्जा भी नाटक के प्रत्यक्ष या व्यंजित संघर्ष को उभारने में महत्वपूर्ण तत्व हैं[१]। आधुनिक नाटक जहां अधिक प्रतीकात्मक होता जा रहा है, अतः रंगमंच सज्जा, प्रकाश एवं ध्वनि प्रभाव नाटक की संवेदना को गहरे छूने और अनुभव कराने के अधिक महत्वपूर्ण साधन हैं। आवश्यकतानुसार ये तत्व और माध्यम परिवर्तित होते रहे हैं, और रहेंगे। उदाहरणार्थ प्रारम्भ में अन्तर्द्वन्द्व लम्बे स्वगत भाषण के माध्यम से दिखाया जाता था और आज पात्र के अन्तर्द्वन्द्व की व्यंजना उसके कथन, कथन के प्रत्येक वाक्य और शब्द से, उसकी खामोशी और उद्विग्नता से परिलक्षित होती है। भावुकता की बातें बौद्धिक प्रवृत्ति की विस्तार में ग्राह्य नहीं, बुद्धि उन्हें जानना नहीं, अनुभव करना चाहती है। इसी कारण रंगमंच सज्जा पर अधिक

---

१ "... किन्तु नाटकीय कार्य की प्राप्ति के अनेक तथा भिन्न साधन हैं। यथा : शारीरिक क्रियाशीलता या शारीरिक शक्ति द्वारा सम्भाषण या मौन द्वारा, दृश्य परिवर्तन या प्रकाश परिवर्तन द्वारा, यहां तक कि आवाज़ के चढ़ाव-उतार द्वारा भी 'कार्य' दिखाया जा सकता है।" -- [illegible] : 'द आर्ट आफ़ द प्ले', पृ० [illegible]

"न केवल शब्द, न केवल हाव भाव भंगिमा, किन्तु दोनों के समन्वय से पता चलता है कि हम किसी क्षण विशेष में कितने क्रोधित, प्रसन्न, बदमिज़ाज या उत्तेजित हैं।... भाषा कार्य, वस्तु तथा तनाव की प्रतिनिधि है।" — पाकॉक : द आर्ट आफ़ ड्रामा पृ० १४७-१४८

"यही संघर्ष केवल अन्तर्निहित वस्तु तथा मूड, विस्तार या आवश्यक नाटकीय रूपाकार में ही नहीं होता है, पर भाव वस्तु तथा तनाव की माध्यम में भी होता है, जिसे व्यवहृत करने को नाटक बाध्य करता है।" --ऊना एलिस : 'द फ्रन्टिअर्स आफ़ ड्रामा' पृ० ४०

"नाटकीय तर्क का संघर्ष केवल पात्रों में नहीं पर नाटकीय विचार में परिवर्तित करना होगा।" -- जानगॉसनर : 'फार्म एंड आइडिया इन माडर्न ड्रामा', पृ० ६५

से अधिक साधनों की अपेक्षा कम-से-कम साधनों द्वारा प्रभावात्मक रूप में नाटकीय संवेदना को उभारने के लिए इस्तेमाल किया जाता है । रूपविधान तथा विषयवस्तु का संबंध नाटककार के लिए चुनौती है, बाधा नहीं । यदि भी प्रेक्षक अपने साथ जो ले जाता है या नाटक जो ग्रहण कर पाता है, वह कोई ऐसी ही स्थिति होती है जो नाटकीय संघर्ष का पूर्ण प्रभावशीलता को प्रस्तुत करती है या ऐसा प्रश्न-चिह्न जो उसके मन में अनिश्चित के संघर्ष को भर दे । साधारण सी लोककथा के माध्यम से किसी मनोवैज्ञानिक जटिलता को ध्वनित मात्र कर प्रेक्षक के मन में उस सारी स्थिति के लिए एक प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देना सम्भवत: आज के विकासशील नाटक का उद्देश्य हो गया है, जिसकी पूर्ति में वह नये माध्यमों की खोज किया करता है ।

नाटक में बदलते स्वरूप और उसकी परिवर्तनशील रूढ़ियां बाध्य करती हैं कि नाटकीय संघर्ष को व्यापक और विस्तृत आयाम दिया जाय । इब्सन के नाटकों के बाद से ही संघर्ष केवल अन्त: बाह्य की परिकल्पना को पूर्णतया अंगीकार नहीं कर पाता है और विशेषत: ये आयाम नाट्य-विधा में व्याप्त संघर्ष की स्थिति को सीमित कर जाते हैं । जैसा कि हमने प्रथम परिच्छेद में देखा कि कोई भी रचना कलात्मक स्तर पर व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष को भोगती है और नाटक सभी कलाओं से विशिष्ट अपनी आन्तरिक रचना में संघर्ष को व्याप्त कर चलने की वजह से हो जाता है । आन्तरिक रचना के सन्दर्भ में नाट्य की पूर्ण भाववस्तु आ जाती है, मात्र पात्र का संघर्ष उस व्यापकता का एक अंश है । वस्तु पात्र और विचार का अन्तर्गुम्फन या सघन संयोजन नाट्य की आंतरिकता का निर्माण करता है । आधुनिक नाटक के सन्दर्भ में 'दृढ़ इच्छा शक्ति के कारण अन्त:, बाह्य संघर्ष' की सम्भावना विशिष्ट अर्थ नहीं दे पाती । 'वेटिंग फ़ार दी गोदो', 'द चेयर' या 'डेथ आफ़ ए सेल्समैन' जैसे किसी भी आधुनिक नाटक में संघर्ष किसी पात्र की दृढ़ इच्छा-शक्ति का नहीं है, किन्तु व्यक्ति की विडम्बना का है । व्यक्ति की उस स्थिति का है, जो आज भौतिकता की होड़ में धर्म से विलग हो जाने पर उत्पन्न हुई है, या ब्रह्माण्ड में उसकी तुच्छ स्थिति के विरुद्ध है, अथवा जीवन की अव्यवस्था से उत्पन्न किसी व्यापक मानसिक बीमारी का है । फलत: संघर्ष वस्तुगत रूप की अपेक्षा पूर्ण आन्तरिक रचना में अन्तर्निहित हो जाता है । भुवनेश्वर या विपिन के नाटकों में भी अन्त: बाह्य संघर्ष की कोई स्थिति नहीं है, किन्तु सम्भवत: संघर्ष के तनाव की

चिंतन, गहरी अनुभूति के नाटक दे पाये हैं, उनमें से नाटक वही, जिनमें वास्तव संघर्ष की जटिलता से नियोजित है । इन नाटकों में संघर्ष की व्यापकता ही अतिशयता है । संघर्ष को 'हो रहे संघर्ष' के रूप पर प्रस्तुत न कर उसे अनुभूत सत्य के रूप में अनुभव कराने का प्रयास है और इसी कारण उनमें एक आन्तरिक तनाव है, जिसका रूप में अन्वय था है जिसके माध्यम से संघर्ष व तुरत रूप में ग्रहण किया जा सकता है । इस दृष्टि से नाट्य में संघर्ष की अन्तः-बाह्य अभिव्यक्तियों की खोज, जिसे सान्द्र विधानों से नाटकों की दुहरी रचना-शक्ति के रूप में वर्णित किया, xx यहां आकर अपनी सार्थकता का बोध होने लगता है । अपने सघन रूप में नाटक 'साहित्य' भी है और 'रंगमंच' भी । दोनों एक-दूसरे पर अवलम्बित नहीं पर एक-दूसरे से आन्तरिक रूप से सम्बद्ध हैं । अपने नाट्य रूप में वह जीवन की वास्तविक अनुभूति देने का अतिरिक्त माध्यम बन जाता है, जिसमें भावक उसे नवीन से ऊपर उठकर अनुभूति की प्रतिक्रिया तक के व्यापार में सचेतन रूप से भाग लेता है । एक पूर्ण विशिष्ट साहित्य-विधा के रूप में नाट्य को संघर्ष तीन विभिन्न स्तरों से जोड़ता है--

(१) युग संवेदना

(२) आन्तरिक रचना

(३) रूप बंध

एक ही संघर्ष की व्यापक अनुभूति इन स्तरों पर सम्प्रेषित होती है, जिसे रचनात्मक स्तर पर कलाकार की चेतना भोगती है, रचना के स्तर पर उसके प्रमुख तत्व और प्रस्तुतीकरण के स्तर पर माध्यम भोगता है, जो पूर्ण रचना को भावक तक सम्प्रेषित करने के संघर्ष में जीता है और प्रत्यावर्तन रूप में भावक अपनी कल्पना के आधार पर इन सभी स्तरों से स्वयं एक संघर्ष को अनुभव करता है जो पूर्णतया उसे ग्रहण करने से सम्बद्ध है ।

युग वह पृष्ठभूमि है जहां से नाटककार सामग्री जुटाता है, अपने मस्तिष्क में उसे सजाता-संवारता है और अपने संघर्ष की सन्तुलित, व्यवस्थित अभिव्यक्ति के लिए तत्पर होता है । अत: प्रथम स्तर पर युग और नाटक की बीच की कड़ी का संघर्ष महत्वपूर्ण हो उठता है, जो वस्तुत: नाटककार की क्रिया-प्रतिक्रिया की ओर संकेत करता है । यह संकेत युग की रचनात्मक आवश्यकता और नाटक की मांग का है । दूसरे स्तर पर

नाटककार इस सामग्री को निश्चित आकार देने के लिए नाट्य के उपकरणों के प्रयोग की ओर उन्मुख होता है। 'वस्तु', 'पात्र' तथा 'संवेदना' इस सामग्री को क्रमश: नाटकीय आकार में परिवर्तित करते हैं। तीनों तत्व समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि किसी एक की भी शिथिलता पूर्ण नाटक को असफल बना सकता है। ये तत्व केवल अपनी विशिष्टता में स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर की यात्रा करते हैं। तीसरे स्तर पर माध्यम इस पूर्ण आन्तरिक आयोजन की अभिव्यक्ति के स्तर पर नाटकीय मूल्यों से विभूषित करता है। इसमें भाषा-शैली मुख्य है। रचनाशीलता में शब्द विशिष्ट संश्लेषण को लेकर चलते हैं। शब्द पढ़े, देखे और सुने जाते समय अनेक अर्थ बिम्बों का निर्माण और सम्प्रेषण करते हैं। रंगमंच की दृष्टि से दृश्य बंध, प्रकाश योजना, वेशभूषा, संगीत नाटकीय अर्थ निर्माण और सम्प्रेषण के प्रमुख उपकरण माने जा सकते हैं, क्योंकि इनकी सहायता से रंगमंच पर विशेष प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

इस प्रकार नाटक कलात्मक स्तर पर अन्त: बाह्य संघर्ष को, युग से पाठक एवं प्रेक्षक की प्रतिक्रिया तक के विस्तृत व्यापार में समाहित कर चलता है। इस दृष्टि से आरम्भ से ही यह मानकर चलना होगा कि किसी भी एक पूर्ण कार्य की अभिव्यक्ति अन्त:-बाह्य संघर्ष का परिणाम है। अन्तर उसकी यात्रा या प्रभाव का है। किसी भी स्तर पर संघर्ष को नाटक की रचनात्मक नाटकीयता के सन्दर्भ में देखा गया है और इस रूप में कि आन्तरिक रचना का संघर्ष कहाँ तक नाटक को सही अर्थों में 'नाटकीय भावना' तथा 'कलागत रचनाशीलता' से सम्बद्ध कर पाया है। अत: यहाँ नाटक में संघर्ष की स्थितियों की उपरोक्त तीनों स्तरों पर देखने का आग्रह है।

-o-

तृतीय परिच्छेद : युग संवेदना, नाटककार एवं नाटक

युग संवेदना : तात्पर्य तथा विवेचन के आधार

युगानुभूति

नाटककार की अनुभूति

नाटकीय रूपान्तर एवं रूप-विधान

प्रसाद पूर्व और प्रसाद काल

भारतेन्दु से पूर्व प्रसाद तक

प्रसाद युग

प्रसादोत्तर काल

प्रसादोत्तर से पूर्व स्वतन्त्रता तक

स्वातन्त्र्योत्तर से सन् १९६६ तक

उपसंहार

'यद्यपि नाटककार की अन्तर्दृष्टि अपने युग की सीमाओं का
अतिक्रमण भी कर जाता है किन्तु वह निश्चित रूप से उस
युग समाज के अन्तरत मूल्यों तथा समस्याओं के तनाव से
उत्पन्न होता है । स्वयं में व्यक्ति की स्थिति को व्याख्यायित
करने की विवशता की अन्तर्दृष्टि को अभिव्यक्ति देने के लिए
नाटककार व्यक्ति या विचार के एक विशिष्ट द्वन्द्व को लेता
है, कारण वह जीवन को संघर्ष के रूप में देखता है ।'

--'ड्रैमेटिक एक्सपिरिएंस'

तृतीय परिच्छेद

-c-

युग संवेदना, नाटककार एवं नाटक

युग संवेदना : तात्पर्य एवं विवेचन के आधार

साहित्य मानव की चिरन्तन प्रवृत्ति के मार्मिक अंगों की अभिव्यक्ति है, जिसमें किसी भी जाति, समाज या राष्ट्रविशेष की चिरन्तन चित्तवृत्ति का प्रतिबिम्ब होता है। ये चित्तवृत्तियाँ सापेक्ष व्यावहारिक कारणों यथा राजनीतिक एवं सामाजिक ही नहीं व्यक्तिगत तथा मानसिक विकास की भिन्न-भिन्न स्थितियों के कारण भी निर्मित होती हैं। व्यक्ति-मस्तिष्क ज्यों-ज्यों युग प्रदत्त समस्याओं की गहराई में जाने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों वह समस्या अपने जटिल रूप में अनेक और समस्याओं को उत्पन्न कर देती है। अतः युग-संवेदना अपने द्वन्द्वात्मक विकासक्रम में परिवर्तनता या जटिलता के मापदण्ड पर भिन्न हो जाती है। जीवन और जगत् के अनेक क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन की आकांक्षा प्रबल हो उठती है, तो वह युग संवेदना को नयी दिशा, या नया आन्दोलन या नया वाद देती है।

नाटक क्या किसी भी साहित्य का सम्बन्ध मूलतः अपने युग की संवेदनशीलता तथा उसके मूल में अन्तर्निहित द्वन्द्व की प्रतीक समस्याओं से रहता है। समस्या किसी एक प्रश्न को लेकर हो सकती है, किन्तु संवेदना, अपनी समग्रता में सारी समस्याओं को आत्मसात् कर उनसे उद्भूत चिन्तन-विशेष को लेकर चलती है। युग संवेदना युग-समस्याओं के समानांतर नहीं मानी जा सकती। समस्या किसी विचार, आस्था, रूढ़ि या समाज के नये विचार की प्रतिक्रिया हो सकती, अथवा लाक्षणिक अर्थ में, विचारों की ये सीमाएं किसी तथ्य की अन्तः बाह्य जागरूकता, जड़ता या गति, अथवा मूल्य हो सकता है, किन्तु स्वयं में कोई सिद्धान्त नहीं। युग की समस्यायें युग-विशेष की प्रतिमा हैं, जिनकी रोशनी में नई प्रथाएं जन्म लेती हैं और विनष्ट होती हैं। ये वे साधन हैं, जिनके द्वारा किसी सिद्धांत

की किसी दर्शन अथवा युग धर्मों में किसी संवेदना का जन्म होता है । बहुत सम्भव है कि समस्या की अनुभूति गहन होते हुए भी वेदन-विशेष को प्रभावित न करे, या अपने आरिक्षित रूप में भी किन्हीं नयी खोजों, आविष्कारों के कारण उत्पन्न किसी नवीन चिन्तन के आवरण में, युग-संवेदना को नया रूप दे । कहा जा सकता है कि युग संवेदना से तात्पर्य युग की प्रवृत्तिमूलक विचारधारा से है, जो कि साहित्य के युगों का निर्देश तो करता है, उन्हें संचालित भी करता है । दूसरे शब्दों में, नैक समस्याओं की सम्पूर्ण प्रवृत्ति से जिस विचार का जन्म और विकास होता है, वह युग की अनुभूति का प्रतिमान है, और युग दर्शन के मूल में रहता है । जीवन के प्रति बदलता व्यक्ति का दार्शनिक दृष्टिकोण भी एक युग की संवेदनशीलता को दूसरे युग की संवेदनशीलता से अलग करता है । यह चिन्तन युग सीमाओं द्वारा निर्धारित होता है, किन्तु युग की सम्पूर्ण चिन्तनधारा की सामर्थ्य वाह्य वातावरण के अभाव या पूर्णता द्वारा, जो मस्तिष्क में मिलती है, उतनी निर्धारित नहीं होती है, जितनी कि अन्त: संकलना शक्ति और रचनात्मक आवेगों से होती है । इसी कारण एक जीवन दर्शन के अन्तराल में दूसरा दर्शन पनपने लगता है, जो किसी आकस्मिकता का प्रतीक नहीं होता पर आरम्भ से ही प्रस्तुत किसी विचारतत्त्व का पूर्ण विकास होता है ।

साधारणतया प्रत्येक देश विशेष का नाटककार किसी विदेशी विचारधारा से कितना भी प्रभावित क्यों न हो, अपनी आत्मा की शाश्वतता को स्वीकार कर चलता है। यहाँ तात्पर्य उन संस्कारों से है जो उसके देश, उसके अपने परिवेश के है । विभिन्न पाश्चात्य विचारधाराओं को अपनाने या उनसे प्रभावित होने पर भी, बहुत सम्भव है कि वह अपने देश के मूलभूत दर्शन से स्वयं को अलग नहीं कर पाये । इसी कारण देश-विशेष की पृष्ठभूमि पर चिन्तन का प्रकटीकरण भिन्न हो सकता है और यहीं पर यह प्रश्न भी सामने आता है कि नाटककार युग की संवेदना को साहित्य में किस प्रकार रूपान्तरित करेगा, उसका समाधान क्या देगा । आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्राय: सभी आन्दोलनों में पाश्चात्य साहित्यिक आन्दोलनों तथा विचारधाराओं की गहरी छाप है, यह आज अधिकांश विद्वान् मानते हैं, पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि पाश्चात्य आंदोलनों से प्रभावित होने पर भी भारतीय साहित्यिक आन्दोलन मात्र अनुकरण या नकल नहीं है।

सामाजिक आवश्यकता के रूप में किसी चिन्तन को ग्रहण कर उसका भावीकरण कहीं अधिक है, और यह बात प्रमाणित हो सकती है कि युग की संवेदनशीलता नाटककार की संवेदना से सम्बन्ध स्थापित करती है। सर्जक समाज का सुधारक या पुरोहित नहीं होता, पर सर्जन की विशिष्टताओं से अलंकृत सामान्य व्यक्ति होता है, तथा समाज और युग के प्रति वह भी उसी तरह क्रिया-प्रतिक्रिया में जीता है, जिस तरह एक साधारण व्यक्ति। अपनी संवेदनशीलता के आधार पर ही नाटककार युग संवेदना के प्रति क्रियाशील होता है। यहाँ यह देखना है कि नाटककार युग संवेदना को नाटकीय रूप में प्रस्तुत करता है अथवा मात्र राजनीतिक, सामाजिक या नैतिक सिद्धांतों की व्याख्या करता है। तात्पर्य कि सामाजिक यथार्थ और अनुभूति का नाटकीय आयोजन समाज के संघर्ष पर हुआ है, अथवा नाटकीय आयोजन में संघर्ष की कल्पना की गयी है। देखा जाय तो नाटककार युग के सामाजिक विकास के प्रति तीन प्रकार से प्रतिक्रिया कर सकता है। सारी स्थितियों से पलायन कर उन्हें स्वीकार कर उनसे विरोध कर। युग का जो भी स्वरूप नाटक में प्रस्तुत होता है, उसमें युग की सीमा के साथ नाटककार की अपनी शक्ति भी रहती है। अपने युग की संवेदना अर्थात् समाज और समाजगत अनुभूति से प्रभावित नाटककार जीवन जैसा है, उसको उसी रूप में प्रस्तुत करने के साथ किसी निर्देश या संकेत को देने का प्रयास भी करता है।

इस पूर्ण कार्य-व्यापार में संघर्ष की महत्ता बनी रहती है और यही कारण नाटक को जीवन के अधिक निकट माना जाता है। जीवन स्वप्न लोक नहीं, वह आंधी, वज्र, उल्कापात का समुद्र है, विषमताओं का प्रतीक है। कॉम्ट के अनुसार समाज व्यवस्था से अव्यवस्था की ओर जा रहा है। समाजगत स्थितियों में निःसन्देह नाटकीय संघर्ष स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकसा है। प्रभावोत्पादकता के लिए सजग नाटककार ऐसी स्थिति का चुनाव करता है, जिसमें सम्पूर्ण विषमता को भोगता समाज उस छटपटाहट से या तो पलायन का प्रयास करता है अथवा विद्रोह का। वस्तुतः नाटक एक ऐसी विधा है, जिसकी कल्पना क्रियाशीलता के अभाव में की ही नहीं जा सकती। इसी कारण युग में जब ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, तभी नाटक विकसित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी पूर्व तक भारतीय जीवन में जिस नैराश्य या सांस्कृतिक संघर्षों की प्रधानता

रही, उसमें सन्त-कवियों ने भक्ति और ईश्वर का आधार देकर व्यक्ति को अकर्मण्य बना दिया। जीव और जगत के तात्विक विवेचन की खोज में आनन्दानुभूति का साधन ढूँढती प्रवृत्ति ने कृष्ण-काव्य को एक और चिन्तनशील नियतिवादी बनाया और दूसरी ओर विलास तथा भोग का अनुचर। राजनीतिक उतार-चढ़ाव तथा नैराश्य की स्थिति में ये उपकरण उन प्रवृत्तियों को जगाने में असमर्थ रहे जो जीवन पर क्रियात्मक दृष्टि डालने के लिए आवश्यक है। फलस्वरूप काव्य-धारा एक और युग चिन्तन से बौझिल होकर काव्य जीवन में व्याप्त हो जाती है और दूसरी ओर प्रतिदिन की आवश्यकताओं में व्यस्त रह जाती है। अंग्रेज़ों के सम्पर्क से जब हमारी मानसिक व्याकुलता बढ़ती है, हमारी प्राचीन परम्पराएँ शिथिल होकर बुद्धिवाद में बदलने लगती हैं, तब कहीं जाकर संस्कृत नाट्य साहित्य की उस विस्तृत और परम उन्नत नाट्य-परम्परा के अवसान का नये ढंग से पुनर्जन्म होता है। हिन्दी नाट्य साहित्य का यह विकासकाल भारतीय इतिहास में पुनर्जागरण काल के नाम से जाना जाता है। विश्व इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक ऐसा युग आता है, जब नये आविष्कार खोज ज्ञान-विज्ञान का विकास सारे कुंठित-से हो गये प्राचीन विचार क्षेत्र को नये प्रकाश में देखने का आग्रह करता है। पुनर्जागरण से तात्पर्य पुनः जागरण या नव-निर्माण है। सामाजिक अर्थ में जन जीवन का कहीं अधिक स्वस्थ तथा स्वतन्त्र युग के निर्माण का प्रयास है। सम्पूर्ण चेतनता और स्वतन्त्र आगमों को जीवन की उन्नति के लिए प्रयुक्त करना है। भारतीय नवजागरण काल भी इसी अर्थ को जीने का प्रयास है, जिसमें जगत तथा व्यक्ति के यथार्थवादी ज्ञान से, चिन्तन की नई प्रणाली से कला तथा विज्ञान के नये आयामों से, नवीन राजनीतिक प्रणाली से, नयी धार्मिक-व्याख्या से आधुनिक संसार की स्थापना का प्रयास किया गया। इस तरह युगसंवेदना के परिप्रेक्ष्य में पूर्ण विवेचन के लिए निम्न आधार सामने आते हैं--

(क) युगानुभूति

(ख) नाटककार की अनुभूति

(ग) नाटकीय रूपान्तर और रूपविधान

प्रथम स्तर पर देखना होगा कि पूर्ण समस्याएं, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक क्या रहीं और एक पूर्ण अनुभव के तौर पर युग-विशेष की क्या देन रही। युगविशेष

ऐसे कौन से संघर्षमय प्रश्न जुटाता है,जिससे उस युग का नाटककार उद्वेलित होता है । नाटककार की अनुभूति युग परिवेश के अनुभव से क्या आकार लेती है, तथा अलग-अलग नाटककार समन्वित इ अनुभूति को नाटकीय रूपान्तर में किस प्रकार प्रस्तुत करता है,यह दूसरे तथा तीसरे स्तर पर देखना होगा । एक चौथा स्तर नाटक के रूप-विधान का है । प्रत्येक युग ने आवश्यकतानुसार रूप-विधान को तोड़ा-मरोड़ा या गढ़ा है । इस तरह प्रत्येक युग के पूर्ण विवेचन का आधार ये दो स्तर हैं, जिनके सहारे युग और नाटक के साथ उनको जोड़ने वाली कड़ी कड़ी नाटककार के कुछ संघर्ष और रचना को जाना जा सकता है ।

प्रसाद पूर्व और प्रसाद काल

भारतेन्दु से प्रसाद पूर्व तक / आधुनिक संसार की स्थापना जिस पृष्ठभूमि पर साकार उतरती है,वह अव्यवस्था,अराजकता और अशान्ति की है । औरंगजेब की मृत्यु के बाद शासन अस्त-व्यस्त हो गया था, सरदार, उमराव जन जातियों के प्रधान और महत्वाकांक्षी सैनिक सत्ता के लिए आपाधापी कर रहे थे । देश-भक्ति या राष्ट्र-भक्ति का स्थान ग्राम-भक्ति या जाति-भक्ति ने ले लिया था[१] । निरन्तर युद्धों से देश की आर्थिक स्थिति भी असन्तोषजनक थी । निरन्तर विध्वंस लीला ने अनेक समृद्ध व्यापारिक तथा औद्योगिक केन्द्रों का ह्रास कर दिया था, तिसपर लगान वसूल करने की बर्बरता जैसी स्थितियों में असंतोष और आर्थिक वैषम्य का विकास होता गया[२] । सांस्कृतिक दृष्टि से भी स्थिति कुछ कम असन्तोषजनक नहीं थी । निष्प्राण तथा अन्धविश्वासपूर्ण कर्मकाण्ड की दलदल में जन समाज फंस गया था । असंख्य देवी-देवता और ईश्वरों की उपासना में लीन समाज निष्प्राण हो गया था । भोजन के अभाव में बेकार घूमते व्यक्ति,साधु-सन्यासी का जीवन अपना कर जीवन की जिस कुरता का आयोजन कर रहे थे, उससे वातावरण दूषित हो रहा था[३] । सामाजिक जीवन में कठोर वर्ण-व्यवस्था,अस्पृश्यता,विवाह सम्बन्धी अनेक कुप्रथाएं,सती प्रथा,------------------------------------

---

१ आर०सी० माजूमदार : 'ब्रिटिश पैरामाउंन्टसि एण्ड इनडियन रिनैसेन्स(दो)',पृ०४३२

२ ,, ,, ,, ,, पृ०४२३

३ स्वामी गम्भीरानन्द : 'हिस्टॅरि आफ़ रामकृष्ण मठ एण्ड मिशन',पृ०१०६-११०

वैधव्य जीवन,कन्याओं की बाल हत्या आदि अर्जित कुप्रथाओं ने हिन्दु-समाज को जड़ों को खोखला कर दिया था । अपनी सत्ता के मूलभूत तत्त्व के साथ सम्बन्धविच्छेद कर जन-समाज अविवेक और कुप्रथाओं के नाशक भार के नीचे दाबा जा रहा था । जीवन के चतुर्दिक विकास में हमारा स्वभाव अधीनात्मक हो गया था । सम्पूर्ण जीवन की इस विषमता से प्रताड़ित, नये आलोक से प्रभावित मुट्ठी भर जागरूक व्यक्तियों ने इन स्थितियों के प्रति प्रतिक्रियावादी स्वर उठाया । अंग्रेजों के आगमन तथा पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से भारत में सबसे महत्वपूर्ण तथा स्थायी प्रभाव जो पड़ा,वह था भारत का बौद्धिक विकास । १८३३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने पौर्वात्य शिक्षा के विरुद्ध पाश्चात्य शिक्षा के पक्ष में जो निर्णय लिया उससे अंग्रेजी साहित्य, यूरोपिय इतिहास तथा पश्चिमी विज्ञान के अध्ययन ने भारतवासियों का संसर्ग बुद्धिवाद तथा उदारवाद नामक दो शक्तिशाली विचारधाराओं से कराया[१] । जिन्होंने १८ वीं एवं १९ वीं शताब्दी की यूरोपिय विचारधारा पर गहरा छाप छोड़ा था ।पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं ने व्यक्ति को निर्माण और विकास के लिए बेचैन कर दिया था । सम्प्रदायगत सीमित तथा संकुचित दृष्टिकोण के स्थान पर उदार दृष्टिकोण को ग्रहण करने की प्रवृत्ति को महत्व दिया जाने लगा ।वैज्ञानिक अनुभववाद की प्रतिष्ठा से धार्मिक असहिष्णुता और विद्वेष, व्यर्थ का वितण्डावाद और मतमतान्तरों का संघर्ष व्यक्ति को अरुचिकर तथा देश-हित के लिए घातक प्रतीत होने लगा था । संकुचित मनोवृत्तियों तथा अंधविश्वासों से मुक्त हो स्वस्थ समाजोन्मुख व्यक्तित्व के जन्म की प्रेरणा भी इन्हीं प्रवृत्तियों का परिणाम है । इसी समय तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप ऐसी संस्थाएं भी जन्म लेती हैं,जिनके अनवरत परिश्रम ने सारी जीवन-दृष्टि को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया । कुप्रथाओं को हटाने,हिन्दू विवाह संस्था में सुधार लाने,नारी स्वातन्त्र्य और शिक्षा का प्रचार आदि करने में इनका सहयोग कहीं अधिक है । इन संस्थाओं की धार्मिक दृष्टि जो भी रही हो,किन्तु मानव की सेवा के साथ-साथ समाज के पुनरुत्थान की भावना उनका उद्देश्य था[२] । इन संस्थाओं ने जाति पाति की कट्टरता का खण्डन किया तथा

---

१ ज्योतिप्रसाद सूद : 'आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचार की मुख्य धाराएं',पृ० ४ ।

२ द्रष्टव्य - आर०सी० मजुमदार की पुस्तक एवं अरविन्द की 'इनड्यन रिनैसॅन्स'

अंगुस्वता को आरक्षित बताकर स्वतन्त्रता की स्थापना का सिद्धान्त रहा । भ्रातृत्व-भाव के प्रचार से इन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया तथा विवाह की कम-से-कम आयु निश्चित की । धर्म के नाम पर की जाने वाली असंख्य कुरीतियों, देवदासियों के मध्य से मंदिरों में व्यभिचार, धर्म के नाम पर लूटपाट और भय उत्पादन, जलती अग्नि पर चलना, लोहे की छड़ से होंठ, जिह्वा या गालों को फाड़ना आदि को समाप्त करने का बीड़ा इन धार्मिक संस्थाओं ने उठाया ।

इस चतुर्दिक विषम परिस्थिति से व्यक्ति में ऊब का भाव उभर रहा था और कहीं-कहीं उससे छुटकारा पाने का प्रयास भी हो रहा था । भौतिक जगत की उन्नति से सामाजिक उन्नति बहुत पिछड़ गई थी और अभावग्रस्त जीवन जाते-जाते जड़ता की स्थिति से भीतर-ही-भीतर उद्वेलित आक्रोश बाहर आना चाहता था, किन्तु बाह्य स्थितियां उसे सीमित किये हुई थीं । प्रेस के प्रचार से इस युग का शिक्षक अपनी गौरवमयी संस्कृति से परिचित होता है, अतीत के गौरवगान एवं वर्तमान के पराधीन दुर्गतभारत के साक्षात्कार से गर्व तथा उदासी के द्वन्द्व में जाता है । नवीन और प्राचीन के संघर्ष में समाज नवीन का आह्वान तो करता है, पर प्राचीन का दामन भी नहीं छोड़ पाता है । इसी तरह अंग्रेज़ों द्वारा किए गए सुधार कार्यों, नये आविष्कारों एवं औरंगजेब के बाद के काल की अराजकता को व्यवस्था में बदलने के लिए भारतीय उनके अनुगृहीत हो प्रशंसा भी करते हैं[१] और उनकी छल-प्रपंचवाली नीतियों के अनुभव से उससे विरोध भी रखते हैं । इस तरह इस संक्रान्तिकाल में अंग्रेज़ों द्वारा प्रदत्त शिक्षा और सभ्यता तथा आविष्कारों के माध्यम से अपनी संस्कृति के प्रकाश में

---

१ राजाराम मोहनराय, द्वारकानाथ टैगोर, प्रसन्न कुमार आदि ने ब्रिटिश शासन की कुशल नीति तथा देश में किये सुधार कार्यों के कारण उसकी प्रशंसा की । देखिए आर०सी०माजूमदार की 'ब्रिटिश पैरामाउंटसि एंड इन्डियन रिनैसेन्स' (२) तथा राजाराम मोहन राय का 'वर्क्स' ।
डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी अपनी पुस्तक 'आ०हि०सा० की भूमिका' में पृ०१३५ पर लिखा 'इसमें सन्देह नहीं कि लगभग पचास वर्षों से भी अधिक की अराजकता, अव्यवस्था, निरन्तर युद्ध-विग्रह, लूटमार, रक्तपात आदि के बाद हिन्दी भाषा-भाषियों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत सुख और शान्ति कम से कम बाह्य दृष्टि से प्राप्त हुई थी ।'

स्वयं से और सामाजिक कुरीतियों से संघर्ष तथा अंग्रेज़ों की स्वार्थ नीति एवं व्यवहार के कारण उत्पन्न हो रही आर्थिक, राजनीतिक विषमता से संघर्ष, इस युग की संवेदनशीलता में व्याप्त था। १८५७ की उस महान् क्रान्ति की अपेक्षा इस युग का नाटककार समाज के [illegible] परिवेश को लेता है, क्योंकि पराजित भाव का दुःख अन्दर ही-अन्दर चिन्गारी की तरह सुलग रहा था और अपनी सीमाओं तथा अंग्रेज़ों की शक्ति के कारण प्रकट नहीं हो पा रहा था। अतः अन्तर प्रवाहित आक्रोश अपनी ही विद्रूपताओं, विसंगतियों से संघर्षरत हो उठता है। अपनी बुराइयों से [illegible] समाज को गतिशील बनाता है। नाटककार समाज और युग की इस [illegible] गतिशीलता को आधार बनाकर दो प्रमुख कार्य करता है, एक सारी स्थितियों का उद्घाटन, दूसरा जनसाधारण में आत्मबोध भरना। अन्तः और बाह्य स्थितियों के संक्रान्तिकाल का नाटककार जगत तथा चिन्तन द्वारा प्रदत्त नये आयामों के प्रति सजग है तथा अपने नाटकों के माध्यम से नये युग के निर्माण में प्रयत्नशील भी। वह युग की कुरीतियों, आडम्बरों एवं पाखण्डों को नाटक में प्रस्तुत करता है, और ऐसा करते हुए समाज संस्कार और समाज सुधार का प्रयत्न करता है, तथा देश-वत्सलता की भावना भरना चाहता है।

समाज की विसंगति पूर्ण स्थिति--चाहे वह हममें हमारे संस्कारों के फलस्वरूप हो, नई शिक्षा के प्रभाव से या नौकरशाही के आतंक के कारण हो -- को भारतेन्दु जी तथा उनके समकालीन नाटककारों ने अपने विभिन्न नाटकों का आधार बनाया। कहीं इन विशेषताओं का उद्घाटन प्रहसन शैली में व्यंग्य और हास्य से होता है और कहीं क्षोभ तथा दुःख के माध्यम से गम्भीर नाटक के रूप में। एक ही बात को विभिन्न नाटकों में भिन्न रूपमें प्रस्तुत करना, नाटककार की संवेदनशीलता के प्रस्तुतीकरण में सम्भावित उस द्वन्द्व का प्रदर्शन करता है, जो किसी निर्देश, संकेत अथवा आदर्श की खोज में सारे वर्तमान से ऊब और विद्रोह का भाव लेकर चलता है, किन्तु तत्कालीन सीमाओं और घोर निराशा के वातावरण से उत्पन्न विवशता में उसका आक्रोश दुःख, ग्लानि तथा अवसाद के रूप में प्रकट होता है। वह चाहता है कि इस जड़ समाज में किसी चेतना या गति का बीजारोपण कर दे, जिससे कोई विद्रोह जन्म ले, कोई संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुंच जाये और इसी कारण निराशा और आशा के बीच डोलता

नाटककार जन समाज को प्रत्येक क्षेत्र की वास्तविकता से परिचित करवा कर वर्तमान की घुटन, संघर्ष और तनाव भरे जीवन से उबरने का सन्देश देता है । कहा जा सकता है कि हिन्दी नाट्य साहित्य के उत्थान काल के नाटककारों ने समस्त विरोधात्मक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराकर दिशा-निर्देश करने का आयोजन नाटकों के माध्यम से किया । धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्रों में प्रस्तुत प्रश्न, किन्हीं नाटकों का मूलाधार हैं और किन्हीं का अवान्तर प्रसंग । भारतेन्दु जी के मौलिक नाटकों में से प्रारम्भिक कुछ वर्षों के नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३), 'प्रेम जोगिनी' (१८७५), 'पाखंड विडम्बना' धार्मिक समाज में प्रस्तुत पाखण्ड, आडम्बर, भ्रष्टाचार आदि का नाटकीय रूपान्तर है । 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन में ऊपर से सफेद पोश दिखने वाले धर्मात्माओं के साथ ही तत्कालीन देशी नरेशों और मंत्रियों के व्यभिचार की पोल खोली गई है । "जो लोग मांस की लोला करते हैं उनकी लीला करेंगे"[१] सूत्रधार का यह कथन स्पष्ट कर देता है कि नाटककार यह दिखाना चाहता है कि धर्म और समाज के पुरोहित धर्म के आवरण में मांसभक्षण और मदिरापान करते हैं और धर्म की दुहाई देकर हिंसा को हिंसा ही नहीं मानते । नाटककार का विरोध इसी बात से है कि यदि उन्हें मांस मदिरा खाना पीना है तो यों ही खाने से किसने रोका है, पर धर्म को बीच में क्यों लाना है[२] । इन मौज करने वाले पाखण्डियों और धर्मभय के बल पर निरीह जनता की इज्जत और धन लूटने वालों को सावधान करते हुए वह मृत्यु के बाद यमराज के न्यायालय में कर्मों का फल पाने की बात कहता है । अपनी वर्तमान धार्मिक स्थिति के प्रति जो तीव्र आक्रोश नाटककार में है, वही उसकी अपूर्ण नाटिका 'प्रेमजोगिनी' में प्रस्तुत हुआ है । यहां पर भारतेन्दु जी विवश, असहाय और धर्मभीरु जनता के साथ होते अन्याय को देखकर रोषपूर्ण रीति से विरोध करते हुए धर्म के प्रति अनास्था तथा सन्त महन्त के विरुद्ध विरोध प्रकट करते हैं[३] । धनी लोगों की कामुक प्रवृत्ति का उद्घाटन कर दिखाते हैं कि इनको

---

१ सं० ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ० ५६

२ ,, : ,, पृ० ६३

३ ,, : ,, पृ० ३२१-३२६

रुचि धर्म कार्य में नहीं है, धर्म भावना है तो मात्र स्वार्थ के लिए । इसी तरह एक अन्य नाटक 'पाखंड-विडम्बना' में हिन्दुओं के सन्त-महन्तों की जो हीन दशा है, वही दिगम्बर,जैन भिक्षुओं और अर्हत बौद्धों की कापालिक योगी के संसर्ग में जाकर हो गई है और ऐसी दशा को यह दिखाता है । राधाचरण गोस्वामी के 'तन मन धन गोसाईं जी को अर्पण' (१८९०), प्रतापनारायण मिश्र के 'कलि कौतुक' (१८८६) जैसे नाटकों में भी इसी तरह की दूषित मनोवृत्ति का चित्रण हुआ है, पर कार्यशीलता के अभाव में ये नाटक की अपेक्षा कहानी अधिक हैं । इसी समय अंग्रेजों ने बहुत से अयोग्य राजाओं से उनका शासन छीन कर उनका राज्य अपने अधीन कर लिया था । अंग्रेजों की इस नीति की प्रशंसा पर गुलामी के भय के चिन्तन की परिकल्पना 'विषस्य विषमौषधम्' (७७) प्रहसन में साकार हो उठती है । इसकी कल्पना से कि देशद्रोही व्यक्तियों का नाश हो रहा है, प्रसन्नता का भाव उभरता है, पर मोहभंग की अवस्था में नाटककार अंग्रेजों की राजनीति को स्पष्ट करता है । वह अनुभव करता है कि सौदागरों के लिए नव आये व शक्तिशाली अंग्रेजों का आज देश गुलाम हो जाने के लिए विवश है । नाटककार के सामने इस स्थिति में देशोद्धार के हल का प्रश्न है । देशी नरेशों की ओर से वह निराश होकर एक ओर तो देश के अधिकारियों की तरह 'भारत जननी' (१८७७) में रानी विक्टोरिया से अपने दुःखों के निवारण के लिए निवेदन करता है और उसका प्रशस्तिगान करता है, पर दूसरी ओर किसी की शरण जाने की अपेक्षा, एक ही मनुष्य को एक ही दिन भारत-भूमि के सुधार के लिए कार्य करने को प्रेरित करता है, और धैर्य,उत्साह तथा ऐक्य के उपदेशों को मन में रखकर भारतजननी के दुःख को तन मन से दूर करने का आह्वान करता है । इसी देशोद्धार की भावना का संघर्ष भारतेन्दु जी के कहीं अधिक सफल नाटक 'भारत दुर्दशा' (१८८०) में घोर निराशा के भाव के साथ प्रस्तुत होता है । वह देखता है कि व्यक्ति और समाज अभी भी नहीं बदले हैं,अपनी दुर्गति की ओर से आँखें मूंदे अभी भी समाज चल रहा है, तो उसका आक्रोश पीड़ा और अवसाद से भर उठता है और अतीत के गौरव-गान से वर्तमान की तुलना कर अपनी दुर्दशा पर वह मिलकर रोने की --------------------

बात कहता है[1]। और कभी 'सोअत निसि बैस गंवाई, जागो जागो रे भाई[2]' का जागरण संदेश देता है। तिस पर भी भारतवर्ष को मोहनिद्रा में घिरा देखकर भारत भाग्य द्वारा आत्महत्या की कल्पना कर, नाटककार कुशलता के साथ नाटक के संघर्ष को गहन बनाता है। राजनीतिक वातावरण के इस नाटकीय रूपान्तर में विभिन्न प्रवृत्तियों का मानवीकरण जहां स्पष्ट है संघर्ष को प्रस्तुत करता है, वहां नाटककार की सूक्ष्म अनुभूति का प्रस्तुतीकरण भी करता है। भारतेन्दु ने राजनीतिक संघर्ष की पृष्ठभूमि पर नौकरशाही की अच्छी आलोचना करते हुए 'अंधेरनगरी' (१८८१) प्रहसन लिखा। 'अंधेर नगरी' के 'चौपट राजा' को फांसी दिलाकर वह कामना करता है कि कभी इस अयोग्य राजा की तरह नौकरशाही भी समाप्त होगी और देश से कुशासन की समाप्ति होगी। बालकृष्ण भट्ट का पौराणिक कथा पर आधारित 'वेणु संहार[3]' (१९०८) का संघर्ष भी नौकरशाही से कुशासन से है, जिसमें नाटककार कामना करता है कि अच्छा हो हम लोग अपने मन से चुनकर किसी को राजा बनावें[4]। उस युग में प्रजातंत्र की यह कामना निसंदेह नाटककार की अपनी देन है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि नाटक के रचना-काल तक लोगों में सम्भवतः स्वातन्त्र्य विचार आने लगे थे। अंग्रेज़ों के शासन से देशमुक्ति की कामना 'नील देवी' (१८८१) में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभरती है। इस नाटक में भारतेन्दु जी ने अंग्रेज़ों का नाश करने के लिए ऊपर से मित्र रहने का सुझाव देते हैं और उनकी प्रशंसा करते हुए अवसर मिलते ही विद्रोह कर बदला लेने की बात कहते हैं[5]। पागल के प्रलाप से नाटककार शस्त्र नीति का समर्थन करता है, पर छलछन्दपूर्ण शस्त्र नीति का। इसी नाटक में भारतेन्दु जी ने तत्कालीन समाज में तीव्रता से उठ रहे नारी स्वातन्त्र्य के पक्ष-विपक्ष के द्वन्द्व को भी प्रस्तुत किया। उनके सामने दो आदर्श थे-- एक तो पश्चिम

---

१ सं० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : 'भारत दुर्दशा', पृ० २१

२ ,, ,, : ,, पृ० ४३

३,४ बालकृष्ण भट्ट : 'भट्ट नाटकावली' (वेणु संहार)

५ सं० ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ० ६६४-६६५

की स्वतन्त्र, पढ़ी-लिखी चतुर तथा स्वत्व पहचानने वाली नारी का और दूसरा दीन-हीन अवश अबला भारतीय नारी का । इन दो नितान्त भिन्न आदर्शों के समन्वयात्मक रूप को भारतेन्दु जी स्वीकार करते हैं । उनका यही आदर्श लेकर 'नील देवी' हमारे सामने आती है, जो न तो अबला है न ही तितली । वह गृहिणी तो है पर गर्भिनी नहीं । अकर्मण्य और अवश भी नहीं । समयानुसार बाहर निकल कर अपने पति की हत्या का बदला वह लेती है । इसी तरह विधवा विवाह प्रेम विवाह, बहु विवाह आदि युग प्रश्न जो शनैः शनैः समाज में तीव्र संघर्ष का कारण बनते हैं, भारतेन्दु जी के नाटकों में उनका केवल समर्थन या असमर्थन ही हुआ है । 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में 'विधवागन का विवाह कर देना उनको नरक से निकाल लेना है[1] ।' कहकर वह विधवा-विवाह की सहमति भर दे देता है । अनुवाद 'विद्यासुन्दर' (१८६८) में प्रेम विवाह का समर्थन करते हुए वह माँ-बाप के आशीर्वाद को अनिवार्य मानता है तथा 'भारत दुर्दशा' में बहु विवाह को समाज की शक्ति का विनाशक बताता है[2] । भारतेन्दु द्वारा उठाये गये ये युग प्रश्न भारतेन्दु युग के अन्य नाटककारों द्वारा विशेष रूप से नाटकीय आयोजन में लिए गए । नई रोशनी में नाटककार ने अनुभव किया था कि नारी के परम्परित जीवन का बन्धन-युक्त रूढ़ स्वरूप टूटने को है और वह टूटेगा । बालविवाह का होना और विधवा विवाह का न होना इस संघर्ष के मूल में था । अपने नाटकों के माध्यम से नाटककार ने दिखाया कि गाय-भैंस की तरह उसे किसी भी खूंटे से बांध दिया जाता है, किसी भी कसाई के हाथों बेच दिया जाता है, जो उसपर अपना मनमाना अत्याचार करता है । नारी सुधार का जो आन्दोलन समाज-सुधार संस्थाओं द्वारा चलाया गया था, उसी के साथ-साथ नारी की हीन दशा दिखाकर उसकी स्वतन्त्रता और अधिकारों की माँग के द्वन्द्व को लेकर अनेक नाटक लिखे गए[3] । श्री राधाचरणदास का 'दुःखिनी बाला' (१८८०) एक 'छोटा सा रूपक' है जिसके मुखपृष्ठ पर लिखा है--'बाल्यविवाह,

---

१ सं० ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', पृ० ७३

२ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (सं): 'भारत दुर्दशा', पृ० २७

३ द्रष्टव्य- डा० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास', पृ० ७८

जन्मपत्र निषेध और विधवा विवाह के न होने का अशुभ परिणाम दिखाने को श्री राधाकृष्णदास ने लिखा । सूत्रधार का अनुमोदन करते हुए नटी भी इसी कथन का अनुमोदन करती है । उनकी नायिका सोचती है "यदि बाल्य विवाह न होता तो क्यों न मैं अपनी भलाई-बुराई को समझ कर अपनी इच्छानुसार पति करती"[1] । विधवा हो जाने पर [illegible] का वह जिस प्रश्न को उपस्थित करती है, उसके प्रत्युत्तर में नाटककार स्पष्ट कहता है कि शरीर के वेग को रोकना कठिन है, इसलिए जो विधवा-संयम न रख सके, उसको पुनर्विवाह करने की [illegible] होना चाहिए । इस नाटक की पहली कथा में नायिका विधवा होने के बाद कुलटा हो जाती है तथा गर्भपात करवाती है । इस रूप में नाटक कहीं अधिक नारी समस्या के [illegible] संघर्ष को तीव्र करता है । सम्भवतः किसी आदर्श की कामना में नाटककार ने नाटक का यह अंत बदल कर दूसरा रूप प्रस्तुत किया है । इसी में नाटककार यह भी कहता है कि यह आवश्यक नहीं कि सड़ी-गली परम्पराओं को हम सिर्फ इसलिए निबाहते चले कि वह हमारे बाप-दादा करते आये हैं[2] । और इसलिए वह नारी शिक्षा का समर्थन भी करता है[3] । 'कलि कौतुक' (१८८६) में प्रतापनारायण मिश्र ने वेश्यागमन से उत्पन्न बुराई तथा घर की सती नारी की उपेक्षा का जो चित्र आंका उसमें सारे अपमान को सहकर भी नारी "तुम नीके रहो उन्हीं के रहो" के आदर्श से ऊब नहीं पाती, किन्तु सन् १९१३ में लिखा गया बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम' में पति द्वारा प्रताड़ित यह नारी न केवल जागरूक है, पर नाटकीय रूप में अपने पति को सही मार्ग पर लाने में भी समर्थ होती है । यह नारी नाटककार की कल्पना है, अपने युग से कहीं आगे की जिसमें मूक करुणा नहीं, परिस्थितियों की विवशता भी नहीं, पर विद्रोह है और समझदारी से पुरुष को मार्ग पर लाने की क्षमता है । नारी की स्थिति को लेकर और भी बहुत से नाटककारों ने नाटक, प्रहसन या

----

१ राधाकृष्णदास : 'दुःखिनी बाला', पृ०८

२,३ ,, : ,, पृ०७

रूपक लिखे,[1] किन्तु इन सब में किसी संघर्ष की कल्पना उतनी नहीं है, जितनी उनकी पीड़ा या उनके लिए परिस्थितिजन्य तनाव की मार्मिक अनुभूति । वस्तुतः इन नाटकों में दोष-निरूपण के बाद नाटककार अपनी सहमति या असहमति को प्रकट कर देता है, इस स्थिति में नारी के गहन संघर्ष को स्पर्श भी नहीं करता । समाज में नारी शिक्षा और नारी स्वातन्त्र्य की कामना का संघर्ष कहीं अधिक तीव्र हो रहा था, क्योंकि अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त भारतीयों ने नारियों की [illegible] । [illegible] ने अपने-आपको जब मुक्त किया, तो उन्हें अपनी लड़कियों की मुक्ति की भी उत्कट इच्छा हुई, दूसरी ओर कुछ ऐसे लोग थे, जो प्राचीन परम्पराओं को नारी की सुरक्षा के लिए हितकर मानते थे । वस्तुतः युग में जो तीव्र संघर्ष इस सन्दर्भ में प्र प्रस्तुत हो रहा था, वैसा इस काल के नाटकों में नहीं दिखाई देता । इन समस्याओं का वर्णन मात्र नाटक के नाम पर हुआ । पर इसमें सन्देह नहीं कि अपने इसी स्वरूप में आगे के नाटकों के लिए ये एक कड़ी या आधार रहे ।

हिन्दी नाट्य साहित्य में भारतेन्दु युग के नाम से जाने वाले इस संक्रान्ति काल में उत्पन्न अनेक युग प्रश्नों, यथा-- कर, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, पारस्परिक फूट, द्वेष, मद्यपान, मांसाहार, पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण तथा उससे उत्पन्न हास्यास्पद स्थिति, धार्मिक अंधविश्वास, धर्माडंबर, पाखंड, छुआछूत, दुर्भिक्ष, निजभाषा की उन्नति के प्रति देश की उदासीनता, देश के उद्योगधंधों का पतन, आर्थिक शोषण, शिक्षा का अभाव, असंगठन, बाल विवाह, विधवा विवाह, कन्या हत्या, वेश्यागमन आदि, जिनसे समाज संघर्षशील हो रहा था, को नाटकों में प्रस्तुत कर किसी आदर्श की स्थापना नाटककार करता है । ऐसा नहीं कि किसी एक नाटक में इनमें से एक या दो संघर्षों को लिया गया हो, पर अवसर पाते ही सभी बातें एक ही नाटक में गुम्फित हुई हैं । इससे कथानक में भले ही शिथिलता आ गई हो, पर जन-जीवन की विसंगति अवश्य स्पष्ट हो जाती है । नाटकीय संघर्ष की दृष्टि से कुछ नाटकों को छोड़कर शेष कहानी या अच्छे कथोपकथन की अपेक्षा कुछ और हो, संदेह होता है।

---

१ गोपालराम गहमरी का 'विधा विनोद', लाला काशीनाथ खत्री का 'बाल-विधवा संताप', श्री निद्धिला मिश्र का 'विवाहिता विलाप' आदि ।

ऐतिहासिक कथानकों के आधार पर वीर रस और श्रृंगार रस के कुछ ऐसे नाटक मिलते हैं, जिनकी कथा में तो अनेक उतार-चढ़ाव हैं तथा नाटकीय संघर्ष के लिए पर्याप्त अवसर भी, पर नाटककार इस ओर या तो विशेष ध्यान नहीं देता अथवा यह उसकी अक्षमता है। लाला श्रीनिवासदास का 'रणधीर मोहिनी' (१८७७) ~~(-प्रेमकथानक)~~ : प्रेम कथानक..... : राधाचरण गोस्वामी का 'अमरसिंह राठौर' (१८९४) और राधाकृष्ण दास का 'महाराणा प्रताप सिंह' (१८९७) अन्य नाटकों की अपेक्षा कार्य-व्यापार, नाटकीय कौशल तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से जिस नाटकीय संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं, वह चाहे जिस भी स्तर का हो, पर इस बात का आभास देता है कि नाटककार के पास क्षमता तो है, किन्तु वह संघर्ष तत्त्व को गम्भीरता से नहीं लेता है। पर यह दुर्भाग्य ही मानना चाहिए कि ऐसे नाटकों की संख्या नगण्य प्राय: है। बहुत सम्भव है, इसका कारण जन-समाज की वह रुचि हो जो पारसी रंगमंच और लोक-नाटकों से सन्तुष्ट हो जाती थी। नाटकों में प्रस्तुत समस्त संघर्षों का मूल ब संवेदना सामाजिक परिवेश में जर्जरित परम्पराओं से विद्रोह और राजनीतिक क्षेत्र में जन-जागृति के उद्देश्य को लेकर चलता है। अनेक सीमाओं के कारण—जन-रुचि और अंग्रेजों की दमन नीति—इस युग का नाट्य साहित्य सुधारवादी दृष्टिकोण का है। युग परिवेश में इससे अधिक और नाट्य साहित्य में भी क्या सकता था कि सामाजिक यथार्थ को उसकी समस्त विद्रूपताओं, जघन्यताओं और कुत्साओं के साथ नग्न रूप में प्रस्तुत कर दे, जिसका प्रभाव अपनी समग्रता में वर्तमान जीवन से घृणा, जुगुप्सा तथा ग्लानि को जन्म दे, तथा व्यक्ति में वर्तमान उस विद्रोह की चिन्गारी, जो ऐहिक पीड़ाओं, दु:खों से दब सी-गया है, को प्रज्ज्वलित कर सके। उसका (नाटककार का) महनीय द्वन्द्व सामाजिक विषमताओं का दिग्दर्शन कराकर स्वतन्त्रता संग्राम के लिए व्यक्ति को प्रेरणा देने का है। युग संवेदना के परिप्रेक्ष्य में नाटकों में प्रस्तुत संघर्ष आन्तरिक रचना के स्तर पर गम्भीरता की स्थिति प्रस्तुत नहीं कर पाता, पर नाटककार के तीव्र आक्रोश में, जो नाटकों में प्रस्तुत है, में उसकी द्वन्द्वात्मक स्थिति व्यंजित होती है।

इन नाटकों के प्रस्तुतीकरण के कलात्मक विधान में भी संस्कृत नाट्य नियमों का उल्लंघन तथा आवश्यकतानुसार पाश्चात्य सिद्धांतों का समन्वय हुआ है। रंगमंच के नाम पर भारतेन्दु जी को जो परम्परा मिली थी, उसमें एक ओर लोक नाटकों की

परम्परा का रासलीला, रामलीला, नौटंकी तथा यात्रा और दूसरी और शैक्सपीयरिजन रंगमंच का भारतीय अनुकरण पारसी रंगमंच की परम्परा थी । धार्मिक प्रवृत्ति और लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले अशिक्षित और ग्रामीण क्रमशः लीला और नौटंकी के अनुयायी थे तथा नगरों में पारसी रंगमंच अत्यन्त लोकप्रिय था । हिन्दी का अपना व कोई रंगमंच नहीं था और तत्कालीन सहृदय प्रेक्षक भी संस्कृत की परम उन्नत परम्परा से विच्छिन्न हो गये थे । फलतः नाटककार के सामने दोहरा प्रश्न प्रस्तुत हुआ । जन रुचि का परिष्कार करना तथा नव जीवन जगत में हो रहे क्रान्तिकारी परिवर्तनों व के अनुकूल रंगमंच स्थापना करना । अतः भारतेन्दु जी ने एक ऐसे रंगमंच की स्थापना की जिसमें इन सारी प्रवृत्तियों का समावेश था और जो सभी वर्गों के लिए था । यथार्थ के प्रति आग्रह और मनोरंजन में परिष्कृत स्वरूप लेकर चलने वाले इस रंगमंच लिए ही भारतेन्दु जी तथा उनके समकालीन नाटककारों ने नाटक लिखे तथा अपने निर्देशन में ही अभिनीत भी करवाये । इन नाटकों की शिल्प विधि में शास्त्रीय नाट्य नियमों की जटिलता को दूर कर, परिवम स के किन्हीं सिद्धांतों को स्वीकार कर नाटकों को एक नया माध्यम दिया गया । भारतेन्दु जी ने स्वयं भी माना कि "..... प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उलटा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है[१]।" भारतेन्दु ने अभिनव परिवर्तन कथावस्तु और पात्रों को व्यापक आयाम देकर किया । अब नाटक के विषय और पात्र जीवन से लिए जाने लगे न कि किसी सीमित क्षेत्र से । रस की अपेक्षा वह चरित्रों को सजीव बनाने में अधिक प्रयत्नशील बन रहे और इस तरह मानसिक संघर्ष उनके नाटकों में उभर सका है । पारसी रंगमंच के भद्दे गानों को सुन्दर रूप में आन्तरिक भावना को प्रकट करने के लिए अपनाया गया । इनमें संस्कृत रंगमंच का सूत्रधार तथा भरतवाक्य हैं, लम्बे स्वगत का प्रयोग तथा पश्चिमी अनुकरण पर त्रासद तत्व भी है, इस युग में नाटक तथा प्रहसन की रचना सबसे अधिक हुई, जिसका कारण बताते हुए दशरथ ओझा ने लिखा कि "प्रहसन लिखने के लिए नाटककार में जिस ज़िन्दादिली एवं सहज बोध की अपेक्षा होती है, उसकी भाषा में जिस सहज चटुल शैली अथवा झनझना देने वाले तीखे व्यंग्य की आवश्यकता पड़ती है, समाज की विषम समस्याओं को सहज ही देख लेने की जो अन्तर्दृष्टि अनिवार्य रूप से अभिलिप्त है, प्रायः वे सभी तत्व इस काल के नाट्यकारों

---

१ सं. ब्रजरत्नदास : 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (भाग१) : परिशिष्ट :, पृ०७२२

को कथानक: प्राप्त थे[१] इन प्रहसनों का रूप कामदी के अधिक निकट है तथा संभवत: उसी प्रभाव में संस्कृत नाट्यशास्त्र के हास्य-विनोद की अपेक्षा इनमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कुरीतियों तथा विषमताओं को व्यंग्यात्मक रूप से प्रस्तुत किया गया । पश्चिम के त्रय समन्वय सिद्धांत पर अभाव दु का प्रतिपादन भी हुआ । इस तरह पूर्व तथा पश्चिम के सिद्धांतों का समन्वय कर, भारतेन्दु जी ने जिस नवीन-प्राचीन के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत किया, वह उनके युग के अन्य नाटककारों द्वारा भी अपनाया गया ।

भारतेन्दु के अवसान के साथ-ही-साथ नाट्यकला का भी शनै:शनै: ह्रास होने लगा । साहित्यिक नाटकों की अपेक्षा कृत्रिम हास्य, अशिष्ट वार्तालाप से भरे प्रहसनों का पारसी रंगमंच की तमाम चमक-दमक के साथ मिलकर दूसरी दिशा विकसित होती है । भारतेन्दु के बाद के नाटककार न तो भारतेन्दु प्रवर्त्तित नाट्य-प्रवृत्ति का अनुसरण कर पाते हैं और न ही पारसी रंगमंच की लोकप्रियता से मुँह मोड़ पाते हैं । किसी सक्षम नाटककार के निर्देश के अभाव में साहित्यिक नाटकों का कोई सुरुचिपूर्ण विकास नहीं हो पाता है, तथा नाट्यधारा विभिन्न नाट्य कम्पनियों तक सीमित रहकर व्यवसायी प्रवृत्ति को अपना लेती है, अथवा अंग्रेज़ी, बंगला नाटकों के अनुवाद की बाढ़ लाती है । इन व्यवसायिक कम्पनियों का उद्देश्य अधिक-से-अधिक धनोपार्जन था और इसी कारण इन कम्पनियों द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले नाटकों में चमत्कार, वह भी बाह्य तड़क-भड़क, विस्मयकारी घटनाओं आदि का अतिरंजित रूप में चित्रण रहता । इस रंगमंच के माध्यम से ऐसे पौराणिक, ऐतिहासिक कथानक चुने जाते जो तड़क-भड़क के साथ प्रेक्षक की रुचि को जीत सकें । 'उर्दू काव्य की शैली, रीतिकालीन शृंगारिक प्रेम, फ़ारसी प्रेम कथाओं का कथानक अंग्रेज़ी साहित्य की रोमांचकारी घटनाओं का कथानक', जनता में प्रचलित भाड़ों तथा वेश्याओं के नाच-गानों से उधार ली सामग्री, भड़कीली तथा भद्दी भावनाओं को नये-नये रूपों में प्रस्तुत करने के लिए और अधिक आकर्षक तथा अश्लील बनाकर जनता की विकृत मानसिक भूख को सन्तुष्ट करने की

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास'

क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम है। यह रंगमंच है, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। यह रंगमंच विशेषत: उस वर्ग की मांग था, जो अपनी जिन्दगी में अनेक समस्याओं से उलझा हुआ था और जीवन की हार, थकन तथा ऊब को मिटाने के लिए किसी ऐसे मनोरंजन की कामना करता था, जिससे उनको वह सब उपलब्ध हो सके, जिसका उसकी नीरस जिन्दगी में अभाव था। बाद में, लगभग सन् १६०० से जब आगा हश्र कश्मीरी, राधेश्याम आदि ने पारसी रंगमंच के लिए नाटक लिखने प्रारम्भ किए तब से कुछ व्यवस्था आ गयी। विभिन्न कथानकों को लेकर लिखे इन नाटकों का विशिष्ट प्रकार का विधान होता था। पहले स्थिति का उद्घाटन, फिर किन्हीं कारणों से उत्पन्न बाधाओं से नाटकीय कथा-संघर्ष में पड़ती और अन्त में बाधाओं पर विजय प्राप्त कर किसी आदर्श या सुख की स्थापना की जाती। संघर्ष को तीव्र दिखाने के लिए पात्र देवता और राक्षसी प्रवृत्ति के होते। इन व्यवसायी रंगमंच कंपनियों की अपेक्षा अव्यवसायी नाट्य मण्डलियां भी थीं, जिनका उद्देश्य धन-संचय न होकर लोक-कल्याण के लिए धनोपार्जन तथा नाट्य-रुचि का विस्तार करना था।[१] इन नाट्य मण्डलियों ने उस वर्ग का मनोरंजन किया जो रंगमंच पर किसी 'अच्छी' चीज़ को देखना चाहते थे। इन नाटकों के माध्यम से देश-प्रेम, समाज-सुधार सुरुचि परिष्कार तथा भाषा सुधार करने और भावनाओं को उद्बुद्ध करने में नाटककार सफल हुए और इसी रूप में लगभग प्रथम विश्वयुद्ध और कुछ बाद तक चलने वाली इस परम्परा का महत्व है। इन नाटकों में साहित्यिक स्तर का कोई नाटक नहीं मिलता, किन्तु इन समस्त रंगमंचीय नाटकों ने संघर्ष का जो स्थूल रूप प्रस्तुत किया, वह अवश्य ही इस बात की ओर संकेत करता है कि अभिनेय नाटकों में तीव्र संघर्ष की अपेक्षा होती है। इन नाटकों द्वारा अपनाया गया प्रारूप ही अपने अत्यन्त परिष्कृत रूप में सूक्ष्म अनुभूति के साथ प्रसाद जी के नाटकों

---

१ द्रष्टव्य — डा० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास'
बलवन्त गार्गी : 'थिएटर इन इन्डिया'

में प्रस्तुत होता है । इस अलग बह निकलने वाली नाट्यधारा में समाज के उस संघर्ष का आभास मिलता है, जो किसी मानसिक भूख को तृप्त करने के लिए नाटक या रंगमंच का आश्रय लेता है ।

इन नाटक-मंडलियों और मण्डलियों का कुछ ऐसी प्रबलता रही कि युग समस्याओं के द्वन्द्व को लिए भारतेन्दु युग तथा प्रसाद युग को जोड़ने वाले बीच के लगभग २५-३० वर्षों में कोई उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलता । मौलिक नाटकों के नाम पर ऐतिहासिक पौराणिक प्रसंगों को ही नाटकों में या कथोपकथनों में परिवर्तित कर दिया गया । कुछ मौलिक नाटक, जैसे मिश्रबन्धुओं का 'नेत्रोन्मीलन' (१८९५) कृष्णानन्द जोशी का 'उन्नति कहां से होगी' (१८९५) आदि तत्युगीन समाज की किन्हीं विषमताओं को लेकर चलते हैं । 'आलोचना' के 'नाटक विशेषांक' में डा० शम्भूनाथ सिंह ने 'हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुत्व का विकास' निबन्ध में लिखा कि 'नेत्रोन्मीलन' में महाजन और कर्जदार का संघर्ष वर्णित है । पर यह नाटक कचहरी, पुलिस और वकील के शोषण, न्यायालय के अन्याय, रिश्वत आदि विकृतियों का उद्घाटन और इनसे प्रस्तुत हो रही निर्धन वर्ग की दुर्दशा, पीड़ा और उसके दुःख का यथार्थवादी चित्र तो प्रस्तुत करता है, किन्तु संघर्ष की परिकल्पना का प्रस्तुतीकरण नहीं । सन् १९०५ के लगभग आन्दोलन के बाद से लिखे गए द्विवेदी युगीन नाटकों का प्रमुख स्वर राष्ट्रीय चेतना तथा सामाजिक सुधारवाद का रहा । भावी राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ बनाने के जिस कार्य की नींव भारतेन्दु जी ने डाली थी, वह इस युग में दृढ़ होने की प्रक्रिया से गुजरती है । अपने सामने प्रस्तुत संघर्षपूर्ण समाज के कटु यथार्थ को नकार कर न चल सकने के कारण नाट्य साहित्य में पौराणिक, ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना और समाज-सुधार की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन हुआ । मात्र दोष परिहार को अपना उद्देश्य समझ लेने के कारण इन नाटककारों ने नाटकीय आयोजन पर विशेष ध्यान नहीं दिया । इसके मूल में जन-जागरण की तीव्र उत्कण्ठा थी जो भविष्य की किसी क्रान्ति की कल्पना करती है, नाटकों में किसी नाटकीयता की अपेक्षा नहीं । इसी कारण इन नाटकों में वस्तुगत संघर्ष, सामाजिक संघर्ष को प्रस्तुत करने का

---

१ ~~पृष्ठ १२० का नम्बर दो द्रष्टव्य~~ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'
डॉ० सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास'
डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास'
सं० नन्ददुलारे वाजपेयी : 'आलोचना' : नाट्य विशेषांक

अभिनयात्मक स्तर पर [illegible] हो, पर [illegible] शिल्प या रचनात्मक स्तर पर कलात्मक नाटकीयता का अभाव रहा । इन नाटकों से नाटकीय प्रसंग को यदि निकाल दिया जाय तो ये कहानी से अधिक कुछ न होंगे ।

प्रसाद युग / नाटकों का इस परम्परा पर नींव टिकाकर जयशंकर प्रसाद ने नाट्य साहित्य को नवीन प्रयोगों से सम्पन्न किया । हिन्दी नाट्य साहित्य में उनके आगमन से लगभग १६३८ तक का युग प्रसाद युग के नामसेब जाना जाता है । भारतीय इतिहास में वह युग राजनीतिक सामाजिक संघर्षों और तनावों का संकुल था । १८८५ में कांग्रेस की स्थापना और गांधी के नेतृत्व में राजनीतिक आन्दोलन जनता के अधिकारों का सुरक्षा के रूप में सक्रिय व्यवस्था की ओर प्रवृत्त होते हैं । गांधी दर्शन के प्रभाव में भारतेन्दु युग की शास्त्र नीति का स्थान लोकभावनानुकूल नीति, जिसमें सत्य,अहिंसा और भातृत्व भाव का समावेश था, ले लेती है । इस युग तक आते आते स्वतन्त्रता शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और स्वतन्त्रता-संघर्ष मुट्ठी भर शिक्षित वर्ग तक ही सीमित न रहकर अपने साथ जनसमूह की अपार शक्ति को भी लेकर चलता है । राजनीतिक आन्दोलन प्रांत-ग्राम में बहिर्मुखी परतन्त्रता के विरुद्ध विरोध करने लगते हैं । सन् १६०५ के बंग भंग आन्दोलन से जनता के अविकसित भावुकता और प्रतिक्रिया की महत्वाकांक्षा का परिचय मिलता है,मानो चिरनिद्रा के बाद का उद्घोष हो। सन् १६०७ में कांग्रेस प्रस्ताव पारित होने पर विदेशी बहिष्कार स्वदेशी प्रचार आन्दोलन' 'स्वराज्य' आन्दोलन, तिलक का उद्घोष 'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', १६१५ में होमरूल का नारा , गांधी जी का सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन आदि-आदि अनेक ऐसी प्रतिक्रियायें और घटनायें थीं जिनसे सम्पूर्ण वातावरण में तनाव और संघर्ष तीव्र हो उठा था । एक ओर अंग्रेज़ी सत्ता 'माटेगू चेम्स फ़ोर्ड योजना' (१६१८) के अन्तर्गत भारतीयों को शासन-व्यवस्था का अधिकार देती है तो दूसरी ओर १६१६ के रौलट ऐक्ट और जलियावाला कांड के रूप में सभी अधिकारों का हनन करती है[१]। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वतन्त्रता देने का

---

१ द्रष्टव्य -- पट्टाभि सीता रमैया : 'कांग्रेस का इतिहास'
सं०डा० राधाकृष्णन : 'गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ'
: 'गांधी जी' (अंग्रेज़ी) सम्पादित

आश्वासन देकर देशवासियों को युद्ध की आग में झोंकता है और युद्ध समाप्ति पर यह आश्वासन कहीं प्रकट नहीं होता। द्वितीय विश्वयुद्ध तक भारतीय इस आशा में इस सत्ता की सहायता करते हैं कि राजतंत्र सद्भावनापूर्वक उनकी सुविधाओं का ध्यान रखेगा[१], किन्तु इस राजतंत्र के मनमानेपन, अदूरदर्शी, छलपूर्ण व्यवहार से असन्तोष और विद्रोह की आग फैलने लगती है और युग अनुभव करने लगता है कि सशक्त सत्ता से लोहा लेने के लिए पहले स्वयं को सशक्त बनाना होगा। युग को यह प्रतीति होने लगती है कि यह शक्ति मात्र किसी झंडे के नीचे एकत्र होने से नहीं आयेगी, पर आयेगी, आत्मशुद्धि और आत्मसंस्कार से। अपनी सभ्यता और संस्कृति की शुद्धि से उत्पन्न होगी। लगभग एक सौ वर्षों के संक्रान्ति काल में एक अधिक उन्नतिशील तथा सशक्त सत्ता की गुलामी ने हमारे संस्कारों का जैसे गला ही घोंट दिया था। इस अंग्रेज़ी साम्राज्य की चुनौती में न केवल हिन्दू धर्म के विनाश का बीज छिपा था पर चिरन्तर काल तक पिछड़े रह जाने की ग्लानि भी हमारे साथ हो लेती है। अपनी मौलिक वैयक्तिक विशेषताओं के कारण एक-दूसरे से आदान-प्रदान करने, सम्बन्धित और प्रभावित होने पर भी दोनों संस्कृतियाँ एक-दूसरे से मिल नहीं पाती हैं। अत: अपनी सामर्थ्य में विदेशी संस्कृति हम पर हावी होने के प्रयास में, अपनी भाषा, सभ्यता, विचारधारा का प्रचार करती है, जिसकी प्रतिक्रिया विभिन्न वर्गों पर भिन्न रूप से होती है। देश की संस्कृति में गहरी आस्था रखने वाले लोगों में भी अपनी संस्कृति के प्रति अविश्वास का भाव जाग उठता है। इस सांस्कृतिक संकट के परिणामस्वरूप धार्मिक संस्थाएं-ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी, रामकृष्ण मिशन, गीता धर्म-सुधार आन्दोलनों तथा सामाजिक एवं साम्प्रदायिक उदारता की प्रेरणा से व्यापक रूप में हिन्दू चेतना को नये युग धर्म में दीक्षित करती हैं। धर्म की चेतना सम्प्रदायबद्ध न रहकर सार्वकालिक तथा सार्वभौमिक बनने के विकासक्रम से गुजरती है। हिन्दू समाज और धर्म को सड़ी गली परम्पराओं से निकाल कर पश्चिमी आदर्शों और सामाजिक संगठनों में ढालने की जो प्रक्रिया राजाराम मोहनराय से आरम्भ हुई थी, वह प्रथम विश्व युद्ध तक निश्चित रूपाकार

---

१ द्रष्टव्य-- आर०सी० माजुमदार : 'ब्रिटिश पैरामाउन्टसि एंड इण्डियन रिनैसॅन्स'

ले लेता है । फलतः एक महाक्रान्ति का जन्म होता है और हिन्दू धर्म को नई स्फूर्ति मिलती है । सम्पूर्ण समाज नये आचार-विचारों, समानता, बंधुत्व, स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के भावों से भर उठता है । इस युग में इन दो संस्कृतियों के समन्वय में भारतीयता की रक्षा का प्रयत्न किया जाता है । इसी समय गांधी जी ने राजनीतिक रंगमंच पर भारतीय जनता के मसीहा के रूप में अवतरित हो धर्म और राजनीति का समन्वय किया । वे मानवता का संदेश देकर भारतीय संस्कृति के मूलभूत सिद्धांतों, सत्य और अहिंसा का राजनीति में रूपान्तर करते हैं और मानवीय संवेदनाओं का प्रतिष्ठापन भी करते हैं ।

राजनीतिक, सांस्कृतिक आन्दोलन के साथ धार्मिक संघर्ष भी बढ़ रहे थे । सन् १९२० में हुए हिन्दु-मुस्लिम दंगे के कारण दोनों जातियों में तनाव भयावह स्थिति में पहुंच गया था जो कि कई वर्ष पूर्व से लेकर आज तक भी बना हुआ है । दोनों धर्मों की एकता स्वरूप गांधी जी के प्रयास नाटकीय आदर्श में परिणत हुए । नारी स्वातन्त्र्य और नारी शिक्षा का भारतेन्दु युग में प्रस्तुत संघर्ष उसी तरह व्याप्त था । व्यापकता अवश्य पहले से कहीं अधिक था । नारी शिक्षित हो रही थी तथा अधिकारों की मांग और सुरक्षा में संघर्षरत थी । वह उन रूढ़ियों के विरुद्ध भी होती है, जो उसे दीन हीन बनाए हुए थीं और उन नारियों से भी द्वन्द्व करती है जो अभी भी प्राचीन परम्पराओं से चिपके रहना चाहती हैं ।

अपनी सम्पूर्णता में इस पूर्ण उथल-पुथल से वातावरण में गम्भीरता आ गई थी, और अनुभूति के स्तर पर यह संघर्ष कहीं सूक्ष्म और जटिल रूपाकार लेकर नाटकों में अवतरित होता है । युद्ध प्रदत्त तथ्यों ने जहां युग की अनुभूति को कर्म तीव्र की और प्रबुद्ध किया वहीं नाटककार की अन्तर्दृष्टि युग-संघर्षों की तह में जाकर उसके कारणों की खोज तथा समाधान की द्विविधा प्रस्तुत करती है । इस युग में दो प्रमुख प्रश्न युग संवेदना में अन्तर्निहित हैं-- एक, राष्ट्रीय जागरण की स्थिति में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की कामना, दो, अपनी सामाजिकता और धार्मिकता का परिष्कार करने की इच्छा । जीवनगत प्रश्नों के समाधान में संस्कृति की रक्षा का द्वन्द्व, सर्वथा नवीन मानवतावादी सिद्धांतों को प्रतिष्ठित करने का आयोजन, पतन ग्रस्त भारतीय जीवन की निराशापूर्ण मन:स्थिति को नैतिक प्रधानता देकर उसको स्वच्छ और पवित्र आत्मशक्ति प्रदान करने

के साथ-साथ प्रबल [illegible] का सन्निवेश, समस्त जीवन के विभिन्न पहलुओं को नवीन चेतना प्रदान करके आत्मगौरव और स्वाभिमान की सजीव भावनाओं का प्रतिस्थापन, जातिभेद, वर्णभेद को मिटाने की चेष्टा तथा पूर्ण भारतीयता का स्वर भरने के प्रयास की अन्त:प्रक्रिया में जीता हुआ इस युग का नाटककार, भारतेन्दु युग के नाटकों में परिलक्षित तीव्र आक्रोश तथा घोर असन्तोष को सन्तुलित दृष्टि देकर सारी स्थितियों को सद्भावना पूर्वक समझने का प्रयास करता है । इस युग का नाटककार पराधीन और ह्रासोन्मुख देश के वातावरण से क्षुब्ध और कुपित होकर उसपर व्यंग्य या प्रहार नहीं करता, पर उसके कल्याण के लिए रसमुखी प्रवृत्ति को अपनाता है । मानव-चेतना के विकास एवं उसकी उन्नति की कामना में उदात्त भावनाओं की प्रतिष्ठा करता है, जिसके अन्तर्गत मानवीयता, भ्रातृत्व, स्नेह, त्याग आदि महान् आदर्श और नैतिक मूल्यों का समावेश था । इसके सामने का रास्ता साफ है, वह भारतेन्दु युग की मन:स्थिति में जीता हुआ व्यथा के संसार का निर्माण नहीं करता, वरन् व्यक्ति को, प्रत्येक क्षेत्र में, कार्यशील संसार का निर्माण करने की प्रेरणा देता है । बाधाओं के विनाश की अवश्यम्भाविता का प्रतिपादन करता है तथा नि:स्वार्थ कर्म करते जाने की प्रेरणा देता है । वैयक्तिक स्तर पर युगीन विसंगतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का भाव भरने के जिस संघर्ष को वह भोगता है, वही उसके नाटकों में प्रस्तुत हुआ है । सम्भवत: युग-परिवेश में उसने अनुभव किया होगा कि समूह भावना तो व्यक्तिगत विरोध की स्थिति में उत्पन्न हो ही जायगी, यदि प्रारम्भ में मुट्ठी भर लोग हार्दिक रूप से अपनी स्थिति सुधारने, देश को स्वतन्त्र कराने के लिए बलिदान देंगे; एक दिन उनके कर्म अवश्य ही जन समाज को आकर्षित करेंगे, अत: वह सारी प्रतिक्रिया को कर्मरूप में प्रकट करता है, वैचारिक स्तर पर नहीं। परिवेश की समस्त विषमताओं से भविष्य की किसी सुखद कल्पना या सुखमय जीवन की आशा का स्वर उभरता है । इस आशावादी स्वर के मूल में अपनी संस्कृति के पोषण और उससे दिशा-निर्देश लेने का आग्रहपूर्ण नाट्य साहित्य में व्याप्त है । जन समाज में हार्दिक शक्ति और गर्व का भाव भरने के लिए नाटककार गौरव गरिमामयी संस्कृति को सामने लाता है[1] । नाटककार स्वयं वर्तमान स्थिति के कारणों की खोज व्यतीत में ही करता

[1] जयशंकर प्रसाद ने विशाख की भूमिका में इतिहास के अनुशीलन का महत्व इसी आधार पर स्थापित किया था । द्रष्टव्य-- 'विशाख' की भूमिका(प्रथम संस्करण) ।

और जीवन के समस्त संघर्षों के लिए व्यक्ति की हीन-हीन स्थिति को समाप्त करने के लिए उसके पास एक महान् दार्शनिक आदर्श है,जो आपसी फूट,वैमनस्य,क्रोध,... अधिकार लालसा,षड्यंत्र,विलास-प्रियता,जाति भेदभाव,ऊँच-नीच आदि प्रश्नों से ऊपर उठाकर व्यक्ति को प्रेम,त्याग, शुभभावना आदि उदात्त आदर्शों को अपनाने और उनकी साधना करने की प्रेरणा देता है । इसी कारण एक ओर राष्ट्रीय जागृति के लिए उसने ओजपूर्ण वाणी में उन शूर वीरों के कर्मों और जीवन को लिया,जिन्होंने जीवनपर्यन्त देश के लिए संघर्ष किया और दूसरी ओर सामाजिक जागृति तथा अखण्ड शक्ति के लिए सांस्कृतिक पुनरुत्थान के साथ मानवीय सम्बन्धों को प्रतिष्ठित किया[1] ।

भारतेन्दु और 'प्रसाद' ने क्रमश: 'नीलदेवी' (१८८१) और 'राज्यश्री' (१९१५) लिखकर अपने युग की जिस चेतना को नाटकीय आयोजन का आधार बनाया वह डा०दशरथ ओझा के शब्दों में--" नीलदेवी के बलिदान से देश स्वतन्त्र होता है किन्तु राज्यश्री के हृदय की महानता से भारतीय संस्कृति विदेशों तक पहुंचती है .... नीलदेवी में शौर्य और दृढ़ता है,राज्यश्री में करुणा और उदारता । भारतेन्दु युग का पुकार था-- नारी को पर्दे से बाहर लाकर धर्म और जाति की रक्षा के लिए विधर्मियों को शस्त्र द्वारा पराजित करना,किन्तु प्रसाद काल में गांधीवाद के प्रभाव में देश की मांग हुई शस्त्र युद्ध के स्थान पर अहिंसा का प्रचार करना[2] ।" किन्तु प्रसाद काल के नाटकों में अहिंसा का प्रचार उतना नहीं है,जितना कि जन-जन को देश पर,राष्ट्र की सुरक्षा और स्वतन्त्रता हेतु बलिदान हो जाने का आह्वान है । सन् २३-२४ में लिखा गया प्रसाद जी का 'कामना' नाटक प्रतीकों के माध्यम से पूर्ण राजनीतिक संघर्ष को प्रस्तुत कर गांधीवादी आदर्श की स्थापना करता है । नाटककार स्पष्ट स्वीकार करता है कि अपने असन्तोष, अव्यवस्था आदि से क्षुब्ध और कुपित होकर जिस राजतंत्र को भारतीयों ने स्वीकार

---

१ 'प्रसाद' जी के 'कामना','चन्द्रगुप्त' में यदि मानवता की प्रतिष्ठा की गई है तो 'राज्यश्री' में सांस्कृतिक गरिमा की ।

२ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक: उद्भव और विकास',पृ०२१६

लिया था, उसी की आड़ में दुर्बलता की धारणाओं की सृष्टि हुई और शक्तिवश से कलशात होकर यह राजतंत्र जनता की समस्या बन गया । इस समस्या के समाधान में उन्होंने गांधी दर्शन का आधार लेकर बताया कि राजतंत्र को निर्बल बनाने के लिए व्यक्ति को आत्मसंयम और आत्मदर्शन का पाठ पढ़ाना होगा तथा 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त को मानना होगा । हिंसा के बदले हिंसा और घृणा के बदले घृणा देकर इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता । पर उसके लिए व्यक्ति में सन्तोष, करुणा, विवेक, जैसी सद्वृत्तियां और प्रेम, न्याय, ममता तथा विश्वास जैसी सद्भावनाएँ भरनी होंगी । भारतेन्दु की तरह प्रसाद में वह क्षोभ, ग्लानि, पीड़ा और दुःख, समय बीत जाने की निराशा का भाव नहीं है, पर धैर्य और सहनशीलता से सारी अव्यवस्था को समूल नष्ट करने की प्रवृत्ति है । गांधी जी ने आचार दर्शन के प्रवर्तन में व्यक्ति की भावना और क्रियाशुद्धि पर बड़ा बल दिया था । वे मानते थे कि सच्चा सत्याग्रही, सही अर्थों में साधक हुआ करता है और उसके लिए दुनियां में कुछ भी असम्भव नहीं होता ।प्रसाद युग के प्रायः सभी उल्लेखनीय नाटकों के नायक इसी आधार पर मुट्ठीभर साथियों के साथ हूणों तथा यवनों से संघर्षरत होते हैं, उनके सामने उनका उद्देश्य है और वे उसके लिए क्रियाशील है, फिर चाहे प्राण चले जायें या जो हो, सहायता मिले अथवा नहीं, उन्हें इसकी चिन्ता नहीं है । 'प्रसाद' के 'स्कन्दगुप्त' (२८), चन्द्रगुप्त '(३१) बेचनपाण्डेय का 'महात्मा ईसा' (१६२२) जगन्नाथ मिलिन्द का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१६२८) उदयशंकर भट्ट का 'दाहर अथवा सिंध पतन' (१६३४) गोविन्ददास का 'हर्ष' (१६३५), जैसे नाटकों के नायक देश के लिए बलिदान होने का संकल्प लेकर चलते हैं ।नाटककार सरकार से अथवा कहीं और से सहायता की अपेक्षा रखने के बदले देश के लिए आत्मत्याग सर्वस्व निछावर कर करने की भावना को जगाना चाहता है । जन-जन में राष्ट्रीय भावना के उदय की कामना के द्वन्द्व में वह कहीं 'महात्मा ईसा' में 'स्वाधीनता हमारी माता है' या 'है प्राण प्यारा सन्देश हमारा', 'दाहर अथवा सिन्ध पतन' में 'उठो वीर भारतमाता के मां ने तुम्हें पुकारा है' ,'चन्द्रगुप्त' में 'हिमाद्रितुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती स्वयं प्रभाव समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती' और विदेशी कार्नेलिया द्वारा 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' जैसे गीतों द्वारा जागरण संदेश भरता है और कहीं आम्भीक, बंधुवर्मा सूर्य, परम्मार आदि-आदि वीरों की बलिदान गाथा से जन

समाज को उत्तेजित करने के [illegible] को भोगता है । कहीं नारियों द्वारा सैनिकों का जीवन रक्षा के लिए अन्नवस्त्र मांगना, सेवा सुश्रूषा करने की कल्पना कर देश-भक्ति का प्रचार करता है । राजतंत्र को, वीरों के समन्वित प्रयास में, नष्ट करने के बाद प्रसाद जी 'कामना', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' [illegible] 'हर्ष' में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रजातंत्र की स्थापना का आह्वान देते हैं, जिससे जनता के हित में मन्त्रिमण्डल शासन कर सके । प्रसाद युग भारतेन्दु युग की हिन्दू राष्ट्रीयता से कहीं आगे बढ़कर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' भाव की स्थापना करता है । इस भावना के निमित्त कभी नाटककार 'चन्द्रगुप्त' में "..... दो बालू की पूर्ण कगारों के बीच एक निर्मल स्रोतस्विनी का रहना आवश्यक[1] मानता है और कभी जातिगत भावनाओं को समाप्त करने के लिए 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में मानवता और आत्मसम्मान की कसौटी का आदर्श रखता है । कभी कूटनीतिज्ञ चाणक्य को माध्यम बनाकर स्थापित करता है कि " राज्य किसी का नहीं सुशासन का है । जिसकी खड्ग प्रभा में विजय का आलोक चमकेगा, वही वरेण्य है । उसी की पूजा होगी[2] ।" कभी 'स्कन्दगुप्त' में कुशासन का अन्त करना व्यक्ति का धर्म और कर्तव्य मानता है[3] । इसी प्रकार 'अजातशत्रु' में समाज और युग के बहुमुखी संघर्ष उभर आये हैं । राज्यों का संघर्ष, धर्म का संघर्ष, समाज का संघर्ष, परिवारों का संघर्ष आदि । और इन सब के समाधान स्वरूप नाटक मानवतावादी प्रेम और त्याग का सिद्धांत रखता है ।

प्रसाद जी सूक्ष्म अनुभूतियों के सफल चितेरा हैं । उन्होंने अनुभव किया होगा कि व्यक्ति की आत्मा को शक्ति देना उसके परिवेश में अनिवार्य है और यह शक्ति अपनी संस्कृति, अपने गौरवमय अतीत से मिलती है । अपनी संस्कृति में गहरी आस्था रखने के कारण वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि पश्चिम की संस्कृति, भाषा, सभ्यता और

---

१ 'चन्द्रगुप्त' (१२ वां संस्करण), पृ० १६४

२ ,, ,, पृ० १७१

३ 'स्कन्दगुप्त', पृ० ४

विचारधारा के लिए व हम अपना सब कुछ छोड़ दें । वैधानिक [illegible] या सांस्कृतिक संकट को अनुभूत कर उन्होंने [illegible] वाणी में उसे नाटकीय आयोजन में प्रस्तुत किया और पश्चिम का उतना ही लेना श्रेयस्कर समझा जितना हमारे परिवेश में हार्दिक हो, हमारी अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल हो, आरोपित या बाह्य नहीं । अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए तत्युगीन समाज में प्रस्तुत नारी संघर्ष की समस्त स्थितियों का समाधान उन्होंने इसी सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में दिया । नवीन विचारानुकूल भारतीय विचारधारा को सिद्ध कर, उसपर गर्व करने की स्थिति का निर्माण किया तथा भारतीयता के स्वर को ऊंचा रखा । प्रसाद जी का यह द्वन्द्वात्मक प्रयास नाटकीय आयोजन में आरोपित नहीं, [illegible] है, इसी कारण, उनके नाटकों में प्रस्तुत संघर्ष सूक्ष्म अनुभूति के स्तर का है । 'एक घूंट' (१९२९-३०) में मुक्त प्रेम के प्रश्न को लिया गया है । मुक्त प्रेम के रूप और उसकी उच्छृंखलता पर प्रकाश डालते हुए प्रेम में एक निष्ठता के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है । एकपात्र के माध्यम से प्रेम के आदर्श को व्यक्त करता है । 'असंख्य जीवनों की भूल-भुलैया में अपने चिर-परिचित को खोज निकालना और किसी शीतल छाया में बैठकर दो घूंट पीना और पिलाना[१] ।' और इस [illegible] के आधार पर मानता है कि एकनिष्ठता के अभाव में प्रेम उच्छृंखल हो जाता है, जो भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है । नवीनता के आग्रह में वह 'चन्द्रगुप्त' में अन्तर्जातीय विवाह तक का समर्थन करता है, किन्तु उसके लिए मां-बाप के आशीर्वाद की अनिवार्य शर्त भी रखता है । एक दूसरे नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' (१९३३) में स्वच्छन्द प्रेम पर अनास्था प्रकट करते हुए शकराज जैसे चंचल प्रवृत्ति वाले पुरुष को प्रस्तुत करता है, जिसके लिए एक तीसरी चन्दा को रख लेना असम्भव बात नहीं । वस्तुत: उसके सामने नारी के प्रेम में सर्वस्व समर्पण की प्रवृत्ति और पुरुष के छल से उत्पन्न जिस संघर्ष की कल्पना थी, उसी की अनुभूति में वह प्रेम विवाह का समर्थन नहीं करता, क्योंकि वह मानता है कि प्रेम में कुछ मिलता है तो ..... निराशा ! निष्पीड़न । और उपहास[२] ।'

---

१ जयशंकर प्रसाद : 'एक घूंट', पृ०३७

२ 'ध्रुवस्वामिनी', पृ०५६

नारी स्वातन्त्र्य , नारी-पुरुष के सम्बन्ध,विधवा-विवाह,तलाक आदि युग के ज्वलन्त संघर्ष प्रश्न 'ध्रुवस्वामिनी' की नाटकीय परियोजना में संयोजित है । शिक्षा के प्रभाव में नारी अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर पुरुष के मनमाने व्यवहार से विरोध रख रही थी । समाज के इस प्रश्न[1] के प्रत्युत्तर में प्रसाद जी ने बताया कि भारतीय भावना में विवाह एक प्रतिज्ञा है,जिसमें दम्पति सुख-दुःख की सहायता और परस्पर सहयोग का सम्बल लेकर साथ चलते हैं,अन्यथा विवाह विवाह न रहकर खेल हो जाता है[2] । पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव में बात-बात पर सम्बन्ध-विच्छेद हो, यह वे अपने परिवेश में उचित नहीं मान सके,अतः विवाह को स्थायी रूप देने के लिए उन्होंने यह सिद्धांत रखा कि माता-पिता के प्रमाण के कारण धर्म विवाह केवल परस्पर द्वेष से ही नहीं टूट सकते । उसके लिए कुछ ठोस कारण होने चाहिए । विधवा विवाह का समर्थन भी उन्होंने किया । इस तरह प्रसाद जी विवाह संस्था की रूढ़िवादिता और विषमताओं पर नव्य ज्ञान के परिप्रेक्ष्य में प्रहार तो करते हैं,किन्तु नितान्त अजनबी सिद्धांत प्रस्तुत नहीं करते । सुधार की कामना में पश्चिम के अन्धानुकरण के समर्थक वे नहीं हैं । साथ ही भारतीयता की रक्षा में रूढ़िवादी बन जाना भी उन्हें प्रिय नहीं ।

धार्मिक संघर्ष की तीव्रता की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति 'जनमेजय का नागयज्ञ' (२६) में हुई । यद्यपि उनके शेष नाटकों में भी यह संघर्ष है,पर इसमें विशेष रूप से पूरी कथा का आधार ही आर्यों-अनार्यों के संघर्ष का पौराणिक तथ्य है । उन्होंने अनुभव किया कि हिन्दु और मुस्लिम दो जातियों का संघर्ष विदेशी साम्राज्य के लिए लाभप्रद होगा, तथा राष्ट्रीय चेतना अवसादपूर्ण हो उठेगी । इस सम्भावित स्थिति से बचाव के लिए उन्होंने प्रतिहिंसा को करुणा और सहानुभूति में परिवर्तित करने का आदर्श रखा । जातिगत धर्मों की अपेक्षा व्यक्ति को स्नेह,ममता और मानवता का धर्म मानने का सुझाव दिया । इसी तरह उग्र जी ने भी 'महात्मा ईसा' में धार्मिक वैभिन्न्य को प्रेम से पाटने का आदर्श रखा ।

१,२ 'ध्रुवस्वामिनी',पृ० ५४

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद सारा चिन्तन भी नया रूप लेता है । सन् १९१४-१८ के उस महायुद्ध के दुष्परिणामों को देखकर सर्वत्र यह आवाज़ उठी थी कि हमें कुछ ऐसा करना चाहिए, जिससे राष्ट्रों का संघर्ष कम हो । दुनिया युद्ध से विराम पाकर शान्ति-सुख भोग सके । इसी उद्देश्य से 'लीग आफ़ नेशन्स' की स्थापना हो चुकी थी, रूस की लालक्रान्ति क्रूर ज़ार का तख्ता पलट चुकी थी, जिस कारण प्रसादोत्तरकालीन नाटकों पर विशेष प्रभाव डालने वाली विचारधारा साम्यवाद का जन्म हुआ था । सामाजिक विषमता तथा शान्ति की कामना यथार्थ के मूल्यों के अतिरिक्त भी कोई चेतना है, इस विचार को जन्म दिया, और भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मूल सत्य को अधिक महत्ता दी । नाटकों में इस चिन्तन-धारा से जीवन के सूक्ष्मतर मूल्यों को महत्व देने तथा मानव जीवन के आन्तरिक पक्ष का उद्घाटन करने का आग्रह हुआ । वास्तविक आनन्द का आधार आन्तरिक सुख माना गया तथा स्वीकारा गया कि मानव चेतना तब तक भटकती रहेगी जब तक वह शाश्वत, चिरन्तन सत्य अथवा आनन्द को नहीं प्राप्त कर लेती । पश्चिम से साथ आने वाली विचारधारा रोमान्टिसिज़्म -- जो शैली, बायरन, कीट्स और वर्डसवर्थ द्वारा प्राचीन के विरोध में उपजी था, अपने साथ उदार मानवतावाद तथा मुक्त और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति प्रणाली को लेकर चली । स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने अतीत, भविष्य, कल्पना तथा अलौकिकता के स्वप्नलोक में रमने योग्य मनोनुकूल भावभूमि दी । चिन्तनपक्ष का इस आदर्शवादी, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति एवं भारतीय उपनिषद् तथा शैवदर्शन में उपलब्ध आनन्द की विराट चेतना नाटककार प्रसाद की जीवन-दृष्टि का निर्माण करता है । इस सम्पूर्ण जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्ति बड़े ही मार्मिक रूप में उनके नाटकों में व्यक्त हुई । आदर्श और अलौकिकता की अभिव्यक्ति का आयोजन, भारतीय नाट्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित उदात्त तथा आदर्श सिद्धांतों के मूल स्वरूप पर है तथा दर्शन के आनन्दवाद का साहित्यिक रूपान्तर रस में व्यंजित है । यह चिन्तन नाटकों में जिस संघर्ष को जन्म देता है, वह विशेष रूप से मानव जीवन की व्याख्या, कल्याणकारी शुभ तथा सर्जनात्मक मूल्यों के स्थापत्य में अन्तर्निहित है ।

नाटककार की अन्तश्चेतना दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में अभिन्नत्व स्थापित करने के संघर्ष को लेती है । वैसे यदि प्रसाद जी के नाटकों से यथार्थ जगत् की द्वन्द्वात्मक स्थितियों को

निकाल दिया जाय तो भी सम्पूर्ण नाटक अपने-आप में किन्हीं चिरन्तन सत्यों की
खोज, शिव और सुन्दर के लिए निर्णयात्मक संघर्ष का उतना ही नाटकीय रूप प्रस्तुत
करेंगे जितना अपने कथ्य में भौतिक रूप का । दार्शनिक धरातल पर इन नाटकों का
संघर्ष यह दिखाता है कि जीवन के कर्मयोग में व्यक्ति को कहीं भी छुट्टी नहीं मिलती।
उसका द्वन्द्व नियति से है जो उसपर हावी होने का प्रयास करती है, पर व्यक्ति
नियति को सब कुछ मानकर कर्महीन नहीं हो जाता । यह कार्यशीलता प्रसाद के
नाटकों में राष्ट्रीयता के संघर्ष में परिणत हो जाती है । स्त्री-पुरुष, प्रेरणा
और चित्, के रूप में संघर्ष की सम्पूर्णता में जगत की अभिव्यक्ति होती है । इसी
तरह उत्तम और अधम, देवत्व और राक्षसत्व के बीच द्वन्द्व जगत में चला करता है ।
'चन्द्रगुप्त' की उदात्तता और राक्षस की अनुदात्तता, स्कन्दगुप्त का त्याग, पुरगुप्त की
महत्त्वाकांक्षा, अलका की देशभक्ति, आम्भिक का देशद्रोह आदि इसी तरह द्वन्द्व को
प्रस्तुत करते हैं ।[1] "अन्तर्जगत के उद्घाटन" (अन्तर्द्वन्द्ववाद) तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि-
कोण के कारण इन नाटकों में व्यक्ति के अन्तर्जगत तथा सूक्ष्म मनोभावों के उद्घाटन
से अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति को प्रधानता मिली और व्यक्ति वैचित्र्य पर बल दिया
गया ।

इस तरह से प्रसाद जी ने नाटकीय आयोजना में एक ओर यथार्थ जगत के द्वन्द्वों को
लिया तो दूसरी ओर युग चिन्तन के प्रभाव में किन्हीं चिरन्तन संघर्षों को ।
फलस्वरूप उन-सामयिक संवेदनशीलता सूक्ष्म भाव-भूमि पर प्रस्तुत हो सकी । जीवन जगत
के संघर्ष की परिकल्पना में रूप-विधान भारतेन्दु द्वारा किये गये प्रयोगों का सुव्यवस्थित
नवीनीकरण है । पश्चिमी एवं पूर्वी नाट्य-नियमों का सुविधानुसार समन्वय कर कहीं
अधिक स्वाभाविक और उपयुक्त माध्यम का निर्माण नाटककार करता है । प्राचीन
शास्त्रीय रूढ़ियों का तिरस्कार करता है, फलत: नांदी, सूत्रधार, प्रस्तावना और
वर्णित विषयों को दिखाने वाले गर्भांक, प्रवेशक और विष्कम्भक अनावश्यक मान लिए
जाते हैं । भरतवाक्य का प्रयोग भी बाद में नहीं रहा । पश्चिमी अर्थ में संघर्ष का
भारतीय प्रयत्नावस्था या कार्यावस्थाओं से समन्वय कर संघर्ष को नाटकीय विकास

----

१ जगन्नाथप्रसाद शर्मा : 'प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन', पृ०३०८

के केन्द्र में रखा तथा कथावस्तु से अधिक महत्व चरित्र-चित्रण पर दिया । इसी तरह नवीनता के आग्रह में दृश्य योजना, अंक-विभाजन की पाश्चिमात्य पद्धति के साथ लम्बे भावुकतापूर्ण स्वगत कथन को नाटकों में स्थान मिलता है । भारतीय परम्परा में 'सूच्य' शैली का प्रयोग भी वे करते हैं और पाश्चिमात्य परम्परा में 'वर्जित दृश्यों' का प्रयोग भी । तात्पर्य यह कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों का अन्तरंग तो भारतीय परम्परा में पश्चिम के संघर्ष तथा चरित्र-चित्रण के समन्वय से रचे हुए रखा और उसके बहिरंग को अधिकांशत: बदल दिया । समन्वय के इस संघर्ष में वे सदा यह मानकर चले कि अपना सब कुछ नये के लिए छोड़ नहीं देना चाहिए, पश्चिम ने भी अपना सब कुछ खोकर नये को नहीं पाया । भिन्नताओं के संघर्ष में समन्वयात्मक दृष्टिकोण की स्थापना प्रसाद जी के नाटकों में आद्यान्त हुई है, जो एक प्रकार से युग के अत्यन्त प्रमुख प्रश्न का अत्यन्त सन्तुलित समाधान है । अकेले प्रसाद ही इस युग के सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार रहे । सूक्ष्म अनुभूति के व्यापक आयाम में वे सब को समाहित कर चलते हैं । उन जैसा कोई मननशील और अध्ययनशील लेखक नहीं हुआ जो अपने उद्योग से इस बुद्धिवादी युग, शिक्षित समुदाय के सामने कोई नवीन वस्तु रखता[1] । प्रसाद जी की ऐतिहासिक परम्परा से हटकर यथार्थवादी परम्परा में नाटक के नाम पर काफी लिखा गया पर जिसमें अधिकांशत: समाज का यथार्थ उपन्यास जैसी विस्तृतता और जटिलता के साथ प्रस्तुत हुआ है । इसी कारण वे नाट्य की दृष्टि से नितान्त असफल रचनाएं हैं । इन नाटकों में नाटक की कलात्मक आवश्यकता पर ध्यान नहीं दिया जाता । प्रसाद जी ने जिस आदर्शवादी और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को नाटकों में अपनाया था, उसका विरोध उन्हीं के समय के नाटककारों ने यथार्थ को प्रधानता देकर, सामाजिक कथानकों के आधार पर किया जो कि लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से अलग धारा का निर्माण करता है । मिश्र जी के प्रारम्भिक नाटक यद्यपि १९२९ -३३ के बीच प्रकाश में आ गये थे, पर अपनी अभिव्यक्ति तथा अभिव्यंजना में इस युग के नाटकों से मेल नहीं खाते, अत: उनका विवेचन प्रसादोत्तरकाल में किया जाना अनुचित न होगा । शेष नाटकों में समाज की उन विषमताओं का नाटकीय रूपान्तर करने का प्रयास है, जो नब्बे प्रतिशत शांतिप्रिय

---

१ डा०सोमनाथ गुप्त : 'हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास', पृ० २०६

नता को उद्धत था और ... में रहने के लिए बाध्य करता है।
किसानों की अपढ़ता, अदूरदर्शिता, कर्ज में डूबी उनकी दीन-हीन स्थिति, ... वर्ग का अन्याय, धार्मिक ... आदि विद्रूपताओं को लेकर महान् उपन्यासकार प्रेमचन्द ने 'संग्राम' (१९२२) लिखा। कहना न होगा अपने ... में यह एक लघु उपन्यास है, और प्रेमचन्द के उपन्यासों का विषय ... है। विधवा-विवाह अछूतोद्धार का समर्थन-असमर्थन करने वालों के बीच संघर्ष की कल्पना पर घनानन्द बहुगुणा ने 'समाज' (१९३०) तो लिखा पर जिसे ... को नाटकीय कहा जा सके, वैसे संघर्ष तत्व का अभाव यहां भी है। दोनों ही नाटकों में कुप्रवृत्ति वाले पात्र अन्त में क्षमा याचना करते हुए सद्प्रवृत्ति वालों से समझौता कर लेते हैं। 'प्रेम की वेदी' (१९३३) में प्रेमचन्द ने, अन्तर्जातीय विवाह के, जिस युग प्रश्न को नाटकीय परिकल्पना का आधार बनाया, उसमें उनका वैयक्तिक संघर्ष अवश्य ही उभर कर आया है। इस ... में उनका सुधारवादी हृदय जहां धर्म की रूढ़िवादिता और संकीर्णता को मूलतः मिटाने का प्रयास करता है, वहां उनका भारतीय संस्कार संकोच भी करता है। इसी कारण एक ईसाई लड़की की शादी वे हिन्दू लड़के से नहीं करवा पाते और त्याग का आदर्श रखकर अपनी बात अनिर्णीत छोड़ देते हैं।

भारतेन्दु युग में प्रहसनों की जो परम्परा चली थी वह इस युग में भी जीवित रहा। जी०पी० श्रीवास्तव, बद्रीनाथ भट्ट, बेचन शर्मा 'उग्र' ने सामाजिक कुरीतियों, शिक्षा के कुप्रभाव, भोग आदि कुप्रवृत्तियों को व्यंग्यात्मक रूप में प्रहसनों में प्रस्तुत किया। 'गड़बड़झाला' (१९१९) में व्यक्ति की कामुक प्रवृत्ति पर व्यंग्य है। 'विवाह विज्ञापन' (१९२७) में नाटककार, नाटकीय व्यंग्य के रूप में खूबसूरत दुल्हन को घर लाकर, बुढ़िया दिखाकर, वृद्धों की विवाह लालसा और कामुक प्रवृत्ति का हास्य उड़ाता है, तो 'मिस अमेरिकन' में पश्चिमी सभ्यता एवं आचरण के प्रति उपहास रूप में अपनी प्रतिक्रिया को प्रकट करता है। सम्पादक, अध्यापक, सुधारक एवं प्रचारक की मनोवृत्तियों के प्रति विद्रोह, 'चार बेचारे' में स्थान पाता है। सुदर्शन के 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' (१९२९) में अल्पबुद्धि, अशिक्षित एवं सरकारी पिट्ठू आनरेरी मैजिस्ट्रेट का स्वार्थ सिद्धि के लिए न्याय का गला घोटना नाटकीय परिकल्पना का आधार है। इस युग के अन्य अनेक प्रहसनों में विधुर और वृद्ध की विवाह कामना, वकीलों तथा डाक्टरों के

धनोपार्जन के कुत्सित ढंग, नये फैशन के प्रेमी-प्रेमिका, ब्राह्मणों का पाखण्ड,साधुओं का व्यभिचार आदि वस्तु का आधार बने ।
ये प्रहसन प्राय: रंगमंच के लिए लिखे गए थे और रंगमंच किसी गम्भीर वस्तु को प्रस्तुत करने की स्थिति में नहीं था । यह सत्य है कि ये सभी प्रहसन सामाजिक स्थिति के प्रति नाटककार की प्रतिक्रिया था, उसका सर्जनात्मक संघर्ष था, ~~पर नाटक में~~ ~~संघर्ष पर~~, पर नाटक में सर्जनात्मक संघर्ष के साथ नाटकीय संघर्ष की भी अपेक्षा होती है । केवल रंगमंच पर सुरुचिहीन वर्ग का मनोरंजन कर इस युग के ये नाटक समाज का जितना यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हैं,संघर्ष की दृष्टि से उतना ही उसको प्रायः छ देते हैं । रंगमंचीय होने के कारण इनमें केवल नाट्य सम्भावना का संघर्ष है,जिसे अतिरंजित स्थितियों तथा विस्फोटक उतार-चढ़ाव से व्यक्त किया जा है ।

प्रसाद के अत्यन्त उदात्त नाटक और प्रहसनों आदि की यह शैली ,दोनों नाट्य रूप साथ-साथ चलते रहे । इन दोनों नाट्य रूपों से सम्पृक्त,किन्तु किन्हीं अर्थों में परिष्कृत नाट्य का एक नया रूप विकास के लिए संघर्षरत होता है । देखा जाय तो यह नाट्य रूप भारतेन्दुकाल के ही यथार्थवादी नाटकों से प्रेमचन्द आदि के यथार्थवादी भावुकतापूर्ण नाटकों से गुजरता हुआ, लक्ष्मीनारायण मिश्र और उनके परवर्ती नाटकों में निश्चित रूपाकार लेने के प्रयत्नात्मक प्रयास की शृंखला है । जो युग चेतना के व्यापक आयाम को ग्रहण कर अभिव्यंजना के परिप्रेक्ष्य में भी नयी शिल्पविधि के विकास में प्रयत्नशील होता है ।

<u>प्रसादोत्तरकाल</u>

प्रसाद युग की प्रवृत्ति राष्ट्रीय जागृति के साथ सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदेश को लेकर चली थी, जिसमें आदर्श का इतना महनीय चित्र आंका गया कि वह यथार्थ जीवन से भिन्न हो गया, और राष्ट्रीयता की ऐसी प्रबल सरिता बही कि सामाजिक यथार्थ लुप्त प्राय: होकर रह गया । राष्ट्र प्रेम जगाने तथा मानवता का संदेश देने का वह अभियान, प्रसादोत्तर काल से उन स्थितियों को प्रस्तुत करने में व्यस्त हो जाता है, जिनके कारण हमारी वर्तमान दशा हुई । धीरे-धीरे जगत का सारा संघर्ष स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद दो मुख्य रूपों-- आर्थिक--राजनीतिक, और सेक्स-- में अन्तर्भुक्त हो

जाता है । युग-समाज का यह संघर्ष ,नाट्य [illegible] में,व्यक्ति और समाज के संघर्ष का आधार लेकर अनेक आयामों में प्रस्तुत होता है । समाज और व्यक्ति इस युग में आकर एक-दूसरे के प्रति सम्पूरक न रहकर संघर्ष का कारण बनते हैं । यहाँ तक आते-आते वे सारी समस्याएं जो धीरे-धीरे पुनर्जागरण काल से उभर रही थीं,सामाजिक संघर्ष को जटिल और गहन बनाती हैं । नई शिक्षा के परिणाम दृष्टिगोचर होने लगते हैं,आर्थिक विषमता तीव्र से तीव्रतर होता जाता है और राजनीतिक वैषम्यपूर्ण अन्तरंग सामने आता है । उस समय युग दृष्टि भी किन्हीं परिवर्तनों के उपक्रम से गुजर रही थी । साहित्य की अन्य विधाओं में छायावादी रोमाण्टिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन या मार्क्सवादी विचार-धारा में परिवर्तन हो रहा था । स्वच्छन्दता,एकता,भ्रातृत्व के आदर्श महत्वहीन सिद्ध होने लगे थे, फलतः व्यक्तिगत राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति में,रोमाण्टिक प्रवृत्ति से ,व्यक्ति की समस्याओं को आदर्श के परिप्रेक्ष्य में सुलझाने का प्रयास बेकार तथा अव्यवहारिक सिद्ध होता है । स्वप्न लोक के त्याग और यथार्थ की भूमि के स्पर्श से वैज्ञानिक मान्यताओं की आवश्यकता महसूस की जाती है ।दूसरी ओर पाश्चात्य विद्वानों तथा वैज्ञानिक खोजों, सामाजिक [illegible] तथा बौद्धिक चेतना के कारण जीवन मूल्यों की खोज करने के लिए तर्क संगत वैज्ञानिक आधार खोजे जाते हैं । इसी समय नैतिक आदर्शों का पोस्टमार्टम हो रहा था । प्राचीनता के प्रति विद्रोही आवाज उठाने वाले जान स्टुअर्ट मिल ने जीवन की नई व्याख्या प्रारम्भ की । बुद्धि और तर्क से जीवन मूल्यों को परखने और नारी की वकालत करते हुए उसके लिए पुरुषोचित अधिकारों की मांग का प्रस्ताव रखा । डार्विन का विकासवाद, मार्क्स का भौतिक द्वन्द्ववाद,हीगेल का सौन्दर्यवाद,फ्रायड का यौन विश्वास,नीत्शे,शापेनहॉवर का व्यक्तिवाद,जीवन की नई परिभाषाएं प्रस्तुत कर रहे थे । डार्विन ने सभी जीवों का एक ही प्राण शक्ति से विकास माना तथा 'सुयोग्य का पोषण' जैसे सिद्धान्तों की स्थापना की । पहले सिद्धान्त ने व्यक्ति के सारे विकास और विनाश का उत्तरदायी समाज को माना,क्योंकि मनुष्य की सफलता यदि वंश तथा वातावरण पर निर्भर है तो ये दोनों बातें सामाजिक पहलू हैं । दूसरे सिद्धान्त ने ईश्वर की सत्ता पर सन्देह और अविश्वास प्रकट किया ।यदि

कुछ कुरूप था, असंगत था, पीड़ा एवं वैषम्य का प्रतीक था उस पक्ष को लिया तथा जीवन के सौन्दर्य पक्ष को छोड़ दिया । जीवन से दूर प्रस्तुत किये जाते सत्य व के विषय में इनका कहना था कि यदि प्रेक्षक रंगमंच पर हम यथार्थ को नहीं देखना चाहते तो उन्हें पहले समाज को बदलना होगा । इस युग के नाटककार का चिंतनात्मक अन्त, मानव जीवन तथा समाज की विकृतियों से युद्ध का अनुसन्धान तथा उसके समाधान के रूप में जीवन की नयी मान्यताओं का आकृति-प्रकृति का है । जीवन की चहारदीवारी के चारों ओर घूम आना नाटककार का अभीष्ट नहीं रहा, वरन् उसके भीतर घुसकर जो यथार्थ है, उसे प्रकट करना ही उसका ध्येय है[1] । नाटककार ने इस युग में यह अनुभव किया कि व्यक्ति के जीवन पर देश और काल की समस्याओं का या संघर्षों का जो प्रभाव पड़ता है, उसको ऐतिहासिक के महान् चरित्रों के माध्यम से व्यक्त नहीं किया जा सकता[2] । इसी कारण उसने ऐसे चरित्रों की अवतारणा की जिनके हृदय की धड़कन हमारे हृदय की धड़कन के साथ मिल सके[3] । यथार्थ के आग्रह से प्रभावित नाटककार अधिक-से-अधिक उपयुक्त माध्यम की तलाश में नित नवीन प्रयोग करता है । पारम्परिक नाट्य सिद्धान्त इस स्वरूप के अनुपयुक्त मानकर छोड़ दिये जाते हैं तथा गीत, स्वगत आदि का प्रयोग अस्वाभाविक मानकर परित्याग कर दिया जाता है । यथार्थ के आग्रह का कारण इन नाटककारों ने किसी क्रान्ति को जन्म देना नहीं माना, बल्कि जो कुछ वे अनुभव करते हैं या देखते हैं, उस यथार्थ को ज्यों-का-त्यों ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करना ही अपना उद्देश्य माना है[4], अथवा कोई ऐसा नाटक लिखना, जिसमें कोई बदसूरत बेनकाब कर दी गई हो, कोई घिनौना नासूर साफ़ करके दिखा दिया गया हो[5] ।

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'राक्षस का मंदिर', पृ०७

२ ,, : 'सन्यासी' (भूमिका), पृ०२

३ ,, : ,, ,, पृ०२-३

४ ,, : ,, ,, पृ०७

५ लक्ष्मीनारायणलाल : 'पर्वत के पीछे' संग्रह की भूमिका

इसी तरह सामाजिक परिवेश में उठने वाली समस्याओं को यथार्थ के धरातल पर ग्रहण कर उनका बौद्धिक विश्लेषण प्रस्तुत किया जाने लगा । मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति ने व्यक्ति जीवन का आन्तरिक पक्ष प्रस्तुत कर व्यक्ति-मन के घात-प्रति-घातों को सामने रखा । जीवन और जगत को ग्रहण करने की यह दृष्टि लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से प्रारम्भ होकर आज तक चली आ रही है । पर इसमें संदेह नहीं कि समय-समय पर उसे किन्हीं नये जीवन दर्शनों ने भी प्रभावित किया और किन्हीं नये मान्यताओं की खोज में वह प्रयोगात्मक रूप अपना लेता है । यह भी तथ्य है कि यथार्थ का अपेक्षाकृत अधिक आग्रह उसे नित नवीनता की ओर प्रेरित करता है और इस गतिक्रम में अपने सारे अन्तस् को वह सीधे-सरल ढंग से अभिव्यक्त कर सन्तोष नहीं पाता । यथार्थ चित्रण अपने किसी चरम पर पहुंच कर प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत होता है, जिससे बोध के लिए ये नाटक दोहरे आयाम में युग-संघर्ष तथा नाटककार के द्वन्द्व को प्रकट करते हैं और अपनी व्यंजकता में एक ही युग में अनेक अर्थ देते हैं । सिद्धांतत: हिन्दी नाटक-लेखकों ने पश्चिम के यथार्थवादी आंदोलन से प्रभावित होकर नाटकों में भावुकतापूर्ण, काल्पनिक और आदर्शवादी वातावरण का विरोध तो कस कर किया, पर आगे हम देखेंगे कि अपनी इस प्रतिक्रियात्मक घोषणा को वे कहां तक निभा सके । हिन्दी नाट्य-साहित्य के सन्दर्भ में एक बात जो विशेष रूप से खटकती है, वह यह कि हमारे यहां अपनी आन्तरिकता की पहचान का प्रयास नाटककारों ने नहीं किया। उनकी दृष्टि पश्चिम के विभिन्न आन्दोलनों की रचनात्मक शक्ति और समस्या की गहरी पैठ की ओर नहीं गई, फलस्वरूप उनका स्थूल रूप ही यहां व्यक्त हो सका । यही कारण है कि यथार्थवाद का तीव्र आग्रह भी अपने यहां अधकचरा, भावुकतापूर्ण रूप लेकर ही प्रस्तुत होता है । इसी तरह पश्चिम के अन्य कुछ आन्दोलन का अनुकरण भी यहां बाह्य स्तर तक ही रहे । सम्भवत: अपनी परम्परा में से किसी गहरी कलात्मक चेतना के विकास की स्थिति, अनेक अनुकरणों के बावजूद भी, अधिक सशक्त हो पाती है ।

नाटक में संघर्ष की दृष्टि से प्रसाद तक के नाटकों में मुख्य रूप से आपसी द्वेष तथा संघर्ष की प्रधानता थी, व्यक्ति का व्यक्ति से अनेक प्रकार का संघर्ष था, किन्तु

आज के नाटकों में मुख्यरूप से समाज के विरुद्ध परम्पराओं और आस्थाओं के विरुद्ध व्यक्ति के आक्रोश को प्रधानता दी गयी । पूर्व-प्रसाद नाटककार, का संघर्ष युग-परिवेश में मनुष्य को एक शान्ति में बांधना, समाज की नयी समस्याओं को सुलझाना और किन्हीं भावात्मक आदर्शों की स्थापना, नैराश्यपूर्ण जीवन में किसी आशा का संचार करना था । प्रसादोत्तर नाटककार का संघर्ष, समाज, संस्कृति, सभ्यता की जड़ों को खोखला कर रहे सिद्धान्तों के परिष्कार तथा व्यक्ति-मन की कुंठाओं के विश्लेषण का है । समाज का साधारण व्यक्ति या मध्य निम्न वर्ग ही युगों के घात-प्रतिघातों से उद्वेलित होता है, अतः प्रसादोत्तर हिन्दी नाट्य साहित्य मुख्यरूप से इसी वर्ग के संघर्ष का नाटकीय आयोजन है । मानसिक संघर्ष, वैयक्तिक विशिष्टताओं या अन्तर्विरोधों में जीता व्यक्ति, इन नाटकों में वैयक्तिक विशिष्टताओं के साथ प्रस्तुत होता है । किन्तु इधर के नये नाटकों में व्यक्ति-स्वतन्त्र पात्र, किसी एक वर्ग के प्रतिनिधि रूप में सामने आते हैं । किन्हीं भोगों की अनुभूति भोगे जीवन या किन्हीं आस्थाओं के विश्वास-अविश्वास से उत्पन्न तनाव, आधुनिकतम नाटकीय परिकल्पना का आधार बनता है । देखा जाये तो प्रसाद के बाद से आज तक लगभग १९३० से ७० तक के इस विस्तृत काल का नाट्य साहित्य विभिन्नताओं और प्रयोगों का प्रतीक है । वे ही समस्यायें, वे ही प्रश्न अपने अधिक जटिल रूप में प्रत्येक युग में उभरते हैं तथा विघटनकारी परिणामों का संकेत देते हुए अपने साथ कुछ अन्य प्रश्नों को भी ले लेते हैं । सोमनाथ गुप्त ने लिखा -- "देश की राजनीतिक जागृति केवल देश-प्रेम की भावना का प्राधान्य इस समय नहीं रहा, उसके मूल कारणों का ज्ञान और अपनी परवशता को दूर करने के उपायों की बात भी उसमें सम्मिलित हो गई । देश की आर्थिक स्थिति, समाज का पुनर्संगठन, वर्ग विभाग का विषय, वैज्ञानिक उन्नति, व्यक्ति का प्रश्न, स्त्री की स्वतन्त्रता, स्त्री-पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध ये सभी विषय एक-दूसरे से इतने सम्बन्धित हो गये कि इन्हें अलग रखना असम्भव हो गया । जब धर्म, समाज सभी राजनीति का अंग बन गये तो हमारे नाटकों में यथास्थान सभी प्रकार के पुटों का समावेश नाटककार की मूल समस्या हो गया ।"[१]

---

१ डा० सोम गुप्त : "हि०ना०सा० का इति०", पृ० २४५

तात्पर्य यह कि प्रसादोत्तर नाट्य-साहित्य किसी एक संघर्ष या किसी प्रश्न की द्वन्द्वात्मक स्थिति को लेकर नहीं चलता वरन् उससे सम्पृक्त या अन्तर्निहित संघर्षों के व्यापक आयाम को भी परिकल्पित करता है। फिर भी इस तीस चालीस वर्षों की युग संवेदना की समग्रता में कुछ बातें स्पष्ट उभरती हैं, एक तो आर्थिक विषमता से उबरने के लिए संघर्ष, जो वर्गगत पूंजीपति तथा सर्वहारा संघर्ष को जन्म देता है। आर्थिक वैषम्य के प्रति नाटककार का आक्रोश उभरता है और इस स्थिति की प्रतिक्रिया उसके नाटकों में उभरती है। यह वर्गगत संघर्ष, स्वतन्त्रतापूर्व किसी संगठन, किसी विद्रोह के उपक्रम में उलझा हुआ है तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध व्यावहारिक रूप में क्रियाशील हो उठता है। अपने स्वत्व तथा अधिकार की रक्षा में सजग निम्नवर्ग या मजदूर वर्ग पूंजीपति वर्ग की एक तरफा नीति के विरुद्ध आवाज उठाता है तथा युग की इस अनुभूत विशिष्ट जटिलता को नाटककार नाटकों में नियोजित करता है। शिक्षा के व्यापक प्रचार से जन जागरण हो रहा था और इसी क्रम में नारी पुरुष के सम्बन्धों में अनपेक्षित संघर्ष उत्पन्न होता है। अशिक्षित तथा शिक्षित के द्वन्द्व के साथ शिक्षित और शिक्षित का संघर्ष, मुक्तभोग या सेक्स के प्रश्नों की विविधा नाटककार के लिए चुनौती का प्रश्न बनते हैं। नवीनता के आग्रह में स्वतन्त्रता की कामना करने वाली और सुख के लिए प्यार का स्थायित्व चाहने वाली, भारतीयता से कहीं न कहीं जुड़ी नारी, तथा ऊपरी चमक-दमक से प्रभावित, उसके लिए आत्मत्याग पर अपने परम्परित मूल्यों से चिपका पुरुष, दोनों अपनी-अपनी विविधामयी स्थिति और सम्बन्धों के तनाव में जीते हुए अनेक संघर्षात्मक प्रश्नों को जन्म दे देते हैं। आज जीवन की इन दो प्रमुख द्वन्द्वात्मक स्थितियों के साथ कुछ अन्य प्रमुख युग प्रश्न भी इनके साथ-साथ युग-संवेदना में अन्तर्निहित रहे। राष्ट्रीय साहित्य के नाम पर यथार्थ के आग्रह में राजनीतिक प्रश्नों को नाटककार लेता है। (चीन, पाकिस्तान आक्रमणों के समय देशभक्ति और बलिदान की गाथा दुहराई जाती है।) स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष तथा उसके समाधान में भावात्मक एकता का पिष्टपेषण हुआ। इसके साथ ही राजनीति क्षेत्र की उन सारी अन्तर्मुक्त विसंगतियों तथा अव्यवस्थाओं का नाटक में रूपान्तर होता है, जो धीरे-धीरे अर्थ संघर्ष से जुड़ जाती है।

युगों की इन सम्भाव्य स्थितियों में नाटककार यह अनुभव करता है कि ये संघर्ष समाज की नींव को खोखला बना देंगे और यदि स्थितियां विषम होती गईं तो न केवल सामाजिक संक्रान्ति और विघटन होगा अपितु परिवार और व्यक्ति भी टूटते हुए सम्बन्धों एवं व्यक्तित्व के प्रतीक बन जायेंगे । निरन्तर पराजय व्यक्ति को नष्ट कर रख देगी तथा समाज रोगग्रस्त होकर पतनोन्मुख हो जायेगा । अतः कहीं तो नाटककार की दृष्टि व्यक्ति और समाज की इस सम्पूर्ण विषमता में किसी समन्वय,सन्तुलन को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है और कहीं नारी स्थितियों का प्रदर्शन मात्र कर नाटकीय आयोजन में तनाव तथा संघर्ष को प्रस्तुत करता है ।

प्रसादोत्तर से पूर्व स्वतन्त्रता तक / प्रसादोत्तर काल से स्वतन्त्रता प्राप्ति पूर्व तक का युग तनावों तथा संघर्षों का युग है । व्यक्ति और विशेषरूप से नारी संघर्षों की ओर नाटककार आकर्षित होता है । शिक्षा और सुधार प्रचार आन्दोलनों के कारण युवा वर्ग की जागृति अभी तक चल रहे पुरातन नैतिक विधानों एवं मान्यताओं के कारण बाधित हो रहा था । अपने में नवीन जागृति लिए भी इस युवा पीढ़ी को परम्परित रूढ़ियों,मान्यताओं या कुंठा मान-मर्यादाओं के सामने घुटने टेक देने पड़ते हैं,क्योंकि वह जागरूक होते हुए भी लाचार है । यह लाचारी संस्कारों और संस्कृति के कारण है, जिसको अवहेलना करना उतना सहज नहीं, जितना सहज उसकी कल्पना करना है । यह विवशता उस कर्तव्य के कारण भी है,जो हमारे त्याग,स्नेह और ममता की मांग करता है । यह संघर्ष एक ओर नारी की उन्नति की कामना का है तो दूसरी ओर उसपर अंकुश रखने का। यूरोप में इब्सन तथा शॉ ने भी अपने-अपने नाटकों में स्त्री की स्वतन्त्रता(डाल्स हाउस) या क्रूरपति से सम्बन्धविच्छेद होने की स्थिति में उसकी दशा (घोस्ट्स) अथवा वैवाहिक जीवन के अन्य संघर्षों को (वाइल्डडक तथा 'मैन ऐंड सुपरमैन') प्रस्तुत किया था । अपने परिवेश में नाटककार का द्वन्द्व किसी समाधान की खोज का है । उसके सामने एक चित्र परम्परित नारकीय जीवन को जीने वाली भारतीय नारी का है,जो अपने चारों ओर बुने गए पुरुष समाज के यंत्रणा भरे जाल में फंसी तड़पती है और दूसरा चित्र पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता की तितली,लज्जाहीन,मुक्तभोगी नारी

ता है, जहाँ पुरुष उसका उपकोता नहीं होता है । नारी की उन्नति और स्थिति-सुधार की कामना करते हुए भी नाटककार पश्चिम आदर्श को ग्रहण नहीं कर पाता । वह मानता है कि बाहर से आकर्षित, स्वच्छन्द जीवन का सुनहरा सपना बुनने वाला यह आदर्श अन्दर से खोखला और रुग्ण है, क्योंकि 'प्रेम और विवाह के भिन्न-भिन्न रूप, बंधन तथा कर्तव्य की मिथ्या भावनाएं प्रेम की बाढ़ अपने पीछे जो कीचड़ छोड़ जाती है, मनुष्य की सारी जिन्दगी उसी दल-दल में फंसी रहती है[१] । किन्तु नाटककार भारतीय प्रताड़ित तथा नीरस, नारी जीवन का भी समर्थन नहीं कर पाता है । वह सम्पूर्ण [illegible] विचारों से भारतीय परिवेश के अनुकूल किसी समाधान को या आदर्श को खोजने का प्रयत्न करता है । इसी प्रयास में उसका ध्यान सबसे पहले शिक्षा की ओर जाता है । क्योंकि वह मानता है कि शिक्षा का कुप्रभाव समाज के लिए हितकर न होकर अहितकर ही हुआ है । इस शिक्षा ने व्यक्ति को संस्कारहीन बनाया है । इस विचार में वह शिक्षा का विरोध नहीं करता, पर उन प्रवृत्तियों का विरोध करता है, जो व्यक्ति को प्रदर्शन और छल के संसार में ले जाती है । वह इन्हीं आडम्बरों का पर्दाफाश कर अन्दर का खोखलापन प्रस्तुत करता है तथा ऐसी शिक्षा की कामना करता है, जो व्यक्ति को संस्कार बनाये, स्वाभिमान और आत्मविश्वास के साथ व्यापक ज्ञान तथा समाज-सेवा का भाव भरे ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने 'सन्यासी' (१९२९-३०) तथा 'राजयोग' (१९३४) में सह-शिक्षा से उत्पन्न असहिष्णुता तथा दाम्पत्य असन्तुलन के संघर्ष को लिया । 'सन्यासी' में उन्होंने सहशिक्षा की महत्वपूर्ण शर्त सहिष्णुता को माना और बताया कि उसका नियन्त्रण 'मार्शल ला' से नहीं किया जाना चाहिए । 'राजयोग' में यही संघर्ष कालेज के प्रेम और फिर विवाह न हो पाने की स्थिति में उसके परिणामों को प्रस्तुत करता है कि दूसरी जगह विवाह होने पर असन्तुलन में व्यक्ति हीनकुंठाओं का शिकार होता है । समाधान स्वरूप नाटककार ने अतीत

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'मुक्ति का रहस्य', (भूमिका)

को भूलकर वर्तमान से समझौता करने का आदर्श रखा । उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने 'स्वर्ग की झलक' (१९४०) में शिक्षा द्वारा प्रदत्त प्रवृत्तियों का उद्घाटन कर प्रश्न उठाया कि " ये अभिजात वर्ग की पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ । शिक्षा का जो घातक प्रभाव हमारे यहाँ की स्त्रियों पर दिन-प्रतिदिन पड़ रहा है, यह उन्हें किधर ले जायगा और उनके साथ हम गरीबों को भी ।चाहिए तो यह कि ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिक शिक्षित होता जाये वह अधिक संस्कृत,अधिक सौम्य,अधिक गंभीर ...."[1] हो, पर वस्तुस्थिति यह है कि नारियां यदि 'चमकदार मोती' हो गई है तो पुरुष के पास भी वह दृष्टि कहां जो असली-नकली को पहचान कर ले । शिक्षित व्यक्ति को अच्छे-बुरे की पहचान न कर पाने की दुविधामयी स्थिति को पृथ्वीनाथ शर्मा ने 'दुविधा' (३८) की नाटकीय वस्तु में लिया तथा 'साध' (४४) में विवाह को बन्धन मानने वाली और माँ बनने से इन्कार करने वाली स्त्री की स्थिति को परिकल्पित किया । शिक्षा के प्रभाव में नारी ने पश्चिमी अनुकरण पर जिस स्वतन्त्रता की कामना की थी ,उससे उसका जीवन उच्छृंखल हो उठा तथा मिश्र जी ने इस उच्छृंखलता में वासना की अभितृप्ति की कामना को माना है । 'आधीरात' (१९३७) में स्वतन्त्रता और भोगवाद के प्रश्न को वे प्रस्तुत करते हैं । पश्चिम से नये विचारों का तुफान लेकर आने वाली मायावती के जीवन में जब प्रेमियों की कतार लगजाती है तो वह आत्महत्या कर लेती है । उसका अनुभव बताता है कि शिक्षा से उसका स्त्रीत्व बिगड़ गया और हासिल कुछ भी नहीं हुआ ।

हिन्दू विवाह संस्था और दाम्पत्य जीवन के संघर्षों की जटिलता इस युग में भी व्याप्त थी,जो नाट्य परिकल्पना में स्थान पाती है । इस सन्दर्भ में लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों का संघर्ष किसी आगत का प्रस्तुतीकरण है या किसी मुट्ठी भर वर्ग का ,पर तत्कालीन युग का नहीं । उन्होंने आध्यात्मिक प्रेम से भौतिक प्रेम को सत्य माना और उसमें एकनिष्ठता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया । यह माना जाता है कि मिश्र जी पश्चिम के बुद्धिवाद से प्रभावित थे और समस्त प्रश्नों को उन्होंने बुद्धि से ही सुलझाना चाहा । किन्तु मिश्र जी इस बुद्धिवाद में इस

---

१ उपेन्द्रनाथ अश्क : 'स्वर्ग की झलक',पृ०५२

तरह भ्रमित लगने लगते हैं कि उनकी भावुकता आरोपित बुद्धिवाद से प्रकट होने लगता है। इसी कारण (सम्भवत:) 'सन्यासी' के दोहरे द्वन्द्व को लेकर चलता है। प्रेम और दाम्पत्य को वे अलग प्रस्तुत करते हैं। मालती प्रेम करती है विश्वनाथ से और विवाह करती है रमाशंकर से, क्योंकि वह रोमांटिक प्रेम नहीं चाहती, बल्कि ऐसा प्रेम चाहती है जो समझदारी से निबाहा जा सके[१]। वह अपने रोमांटिक प्रेम को रक्षा(?) में, पति से यह कहते हुए कि हम प्रेम नहीं करेंगे, समझदारी से निर्वाह करेंगे, शरीर रमाशंकर को दे देती है और आत्मा विश्वकान्त को। मालती के लिए विवाह आवश्यक है, शरीर की भूख को अभितृप्त करने का माध्यम, किन्तु दूसरे पात्र किरणमयी के लिए विवाह मात्र सामाजिक संरक्षण है, अन्यथा एक होटल के वेटिंग रूम में ठहरे हुए दो अजनबियों का औपचारिक वार्तालाप है, जो वे मनबहलाव के लिए एक-दूसरे से कर लेते हैं। इस संरक्षण में वह अपने प्रेम को पति से अधिक मानती है नितान्त दो भिन्न चित्र हैं, एक अपनी स्वतन्त्रता को विवाह में बांधकर भौतिक जीवन से समझौता करती है, दूसरी विवाह के आवरण में स्वच्छन्द जीवन को अपनाती है। सम्भव है मिश्र जी किरणमयी की द्वन्द्वात्मक स्थिति से उसे स्वतन्त्र कर वृद्ध विवाह का विरोध करना चाहते हों और स्वच्छन्दता को रुचिनुकूल व्यक्ति से सम्बन्ध करवा कर संयमित देखना चाहते हों। 'राक्षस का मंदिर' (१९३१) में सेक्स की इसी द्वन्द्वात्मक स्थिति को व्यक्तिगत स्तर पर प्रवृत्ति और विवेक के द्वन्द्व के रूप में उठाया गया है। प्रवृत्ति शरीर की भूख है और विवेक शारीरिक भोग के पाप-पुण्य का विवेचक। इसमें इन द्वन्द्वात्मक स्थितियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है, अत: कोई समाधान नहीं दिया गया है। इससे कुछ अलग 'मुक्ति का रहस्य' (३२) में वे इस द्वन्द्व को सामाजिक परिवेश में, नैतिक-अनैतिक के सन्दर्भ में लेते हैं। यहाँ वे नायिका आशादेवी द्वारा 'प्रथम पुरुष और अन्तिम पुरुष' का सिद्धांत रखवाकर भौतिक सम्बन्ध में एकनिष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। इसके साथ ही व्यक्ति और समाज के संघर्ष का आयोजन भी हुआ है। पग-पग पर आशा देवी और उमाशंकर

----

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'सन्यासी', पृ०१६६

परम्पराओं,सामाजिक मूल्यों से विद्रोह करते चलते हैं,और सर्वत्र उनके व्यक्ति का विजय होता है । मिश्र जी,भोगवाद, उच्छृंखलता और असंयम को 'आधारात' की नाटकीय परिकल्पना में लेकर नारी स्वातन्त्र्य का समर्थन करते हैं तो 'सिन्दूर का होली' (३४) में विवाह के दूसरे प्रश्नों को प्रस्तुत करते हैं । शारीरिक सुख को सत्य मानकर चलने वाले मिश्र जी विधवा विवाह का समर्थन नहीं करते हैं,बल्कि विधवा को समाज की शक्ति मानकर उसके आदर्श का प्रतिष्ठा करते हैं । चन्द्रकला तो मरते हुए पुरुष के हाथों सिन्दूर को स्पर्शमात्र करवा कर सधवा और विधवा बनती । बुद्धिवाद का यह कौन-सा स्वरूप है, समझ में नहीं आता । इस नाटक में प्रस्तुत समाधान तर्क के आधार पर भी ग्राह्य नहीं हो पाते,और मिश्र जी के सभी पात्र जैसे किसी विवशता में कोई समझौता कर लेते हैं । भोग में स्वनिष्ठता की बात तो समझ में आती है,क्योंकि मुक्त भोग 'आधी रात' की मायावती को किसी आध्यात्मिक प्रयोग से भी सुख नहीं दे पाता और उसका परिणाम आत्महत्या होता है, पर वे जो यह मानकर चलते हैं कि चाहे जिस भी दशा में, जो पुरुष पहली बार किसी नारी के शरीर पर अधिकार कर ले,उससे विवाह कर लेना चाहिए, भोगवाद के संघर्ष का कोई उचित समाधान नहीं लगता, क्योंकि वैज्ञानिक आधार पर भी बलात्कार को समर्पण नहीं समझा जा सकता । बुद्धिवाद के चक्कर में मिश्र जी भावुकता और आदर्श का कोई विश्वसनीय समाधान नहीं दे पाते हैं । उनके सभी नाटकों को देखें तो लगता है कि उनके मन में नारी स्वातन्त्र्य और भारतीय आदर्शों को लेकर एक द्वन्द्व अन्त तक बना रहता है और वे स्वयं में स्पष्ट नहीं हो पाते या स्वयं को स्पष्टता से प्रकट नहीं कर पाते हैं,जैसे यूरोप में इब्सन ने किया था । 'डल्सहाउस' के प्रदर्शन के बाद, नोरा को घर से भगा देने के निश्चय की स्थिति से, उसे जिस सामाजिक विरोध का सामना करना पड़ा था,उसकी प्रतिक्रिया में 'घोस्ट्स' लिखकर,इब्सन ने यह प्रतिपादित कर दिया था कि नोरा को लज्जा और अनास्था, पीड़ा और प्रताड़ना का जीवन जीने के लिए बाध्य किए जाने पर,उसकी दशा श्रीमती एलविन की-सी हो जायेगी,जो दाम्पत्य जीवन की सारी विसंगति को लिए,संघर्ष में जीती हुई नष्ट हो जायेगी । युग-यथार्थ को सूक्ष्मरूप से अनुभव करने वाले मिश्र जी का साथ उनका बुद्धिवाद नहीं दे पाता और इस तरह वे अपने ही

समकालीन अत्यन्त सक्षम नाटककार भुवनेश्वर से कहीं पीछे रह जाते हैं । भुवनेश्वर ने आदर्श नैतिक और यथार्थ के बीच समन्वय करने का प्रयास नहीं किया और पूरी साहसिकता से उस आगत के प्रति प्रतिक्रिया को भोगा । उनकी कल्पना में उस नारी का चित्र था,जो या तो आनन्द करती है या न करने के लिए पछताती है । नारी पुरुष के सम्बन्ध को उन्होंने आर्थिक या कामुक माना । उनकी नारियां उन पुरुषों के साथ फ्लर्ट करती हैं,जो उनसे विवाह नहीं करते हैं और उन पुरुषों के साथ विवाह करती हैं,जो उनके साथ फ्लर्ट नहीं करते । भुवनेश्वर ने अनुभव किया कि पश्चिमी शिक्षा और संस्कारों से प्रेरित होकर हमारी नारियां जिस पथ पर चल रही हैं,उसका चरम श्यामा,प्रतिभा,अथवा मिसेज सिंह ही हो सकेंगी । सारी संघर्षमयी सम्भावनाओं का आयोजन उन्होंने अपने नाटकों में किया ।'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना' में नारी पुरुष के दिखावटी सम्बन्धों का अनुभूत संघर्ष है । यहां पत्नी केवल पत्नीत्व' का धर्म निबाहती हुई प्रेमी को गोपनीय भी नहीं रखती और पुरुष स्वयं से थका-हारा उसकी सहानुभूति पाना चाहता है ।'प्रतिभा का विवाह' में धन, विवाह और प्रेम के द्वन्द्वात्मक रूप को वे प्रस्तुत करते हैं ,और 'तांबे के कीड़े' में अन्दर से खोखले हो चुके सम्बन्धों का चित्रण करा व्यक्ति के दोहरे व्यक्तित्व को ढोते जाने के संघर्ष को व्यक्त करते हैं । भुवनेश्वर के नाटकों में संघर्ष ऊपरी या प्रत्यक्ष दृष्टव्य नहीं है, किन्तु पात्र और विचार दोनों में अन्तर्निहित है, नाटकीय सम्भावना में है और उसकी आन्तरिक रचना में है । इस दृष्टि से वे

अपने युग से आगे रहे । आने वाले कल के युग की कलुषता की कल्पना कर कहीं भावुक या आदर्शवादी वे नहीं हुए । अपनी तीक्ष्ण दृष्टि और नाटकीय स्वरूप के कारण उनको उन नाटकों का जन्मदाता कहा जा सकता है, जो पश्चिम में 'एबसर्ड रंगमंच' नाम से जाने गये हैं, और अपने यहां जो अभी विकास की ओर अग्रसर हैं। युग यथार्थ की जटिलता को उन्होंने जिस सूक्ष्मता से अनुभव किया, उससे भी गहरी प्रतिक्रिया में सारी विसंगतियों को कल्पित किया । उनका यह सूक्ष्म अन्तर्मन्थन नाटकीय तनाव के गहरे अनुभव में प्रस्तुत हुआ और इसी कारण भुवनेश्वर अपने युग से अपनी अनुभूति के स्तर पर सबसे अलग खड़े हैं,सम्भवत: इसीलिए सबसे अधिक उपेक्षित और भी । अपने

युग से आगे के संघर्षों को इस परिकल्पना से अलग अन्य नाटक, युग यथार्थ के संघर्षों को लेकर किसी सन्तुलित समाधान को प्रस्तुत करते हैं । उदयशंकर भट्ट ने पौराणिक कथा के परिप्रेक्ष्य में हिन्दु-विवाह पद्धति से विद्रोह करने वाली जागरूक नारी के संघर्ष को 'विद्रोहिणी अम्बा' (१६३८) में प्रस्तुत किया । नारी के विद्रोह को अम्बा में केन्द्रित कर, वे उसे प्रतिशोध के परिणाम तक ले जाते हैं । क्योंकि एक नारी का अनादर यदि महाभारत का कारण है तो दूसरी का अनादर भीष्म जैसे कर्मरथी की मृत्यु का कारण हो सकता है[१] । भट्टजी इस तरह नारी विद्रोह की चरम परिणति की सम्भावना में भावुकता से बचे रहने का प्रयास करते हैं । वृद्ध विवाह के विरुद्ध प्रतिक्रिया 'कमला' (३६) में प्रकट होती है । इस प्रथा की शिकार नारी के लिए नाटककार समाज-सेवा का व्रत लेने का आदर्श रखता है, किन्तु पुरुष का अविश्वास नायिका कमला को आत्मघात करने के लिए बाध्य करता है । इस रूप में सम्भवत: नाटककार स्वयं अपने सामाजिक यथार्थ को एक तीखे प्रश्न सदृश अनुभव करता है ।

नारी की जागृत स्थिति में, समाज से उसका संघर्ष और परिणाम भिन्न स्तरों पर नाटककार को उद्वेलित करता रहा है, जिसे उसने भिन्न रूपों में नाटकीय परिकल्पना में संयोजित किया है । इस संयोजन में युग तथा नाटककार का संघर्ष जितना स्पष्ट है, उतना नाटक की आन्तरिक रचना का संघर्ष नहीं ।

पश्चिम ने राजतंत्र के माध्यम से सम्पूर्ण भारतीय जीवन को जो चुनौती दी था, उसका प्रत्युत्तर केवल राष्ट्रीय भावना से दिया जा सकता था, जिसने अपने जन्म में उत्प्रेरक प्रतिनिधि के रूप में, चिन्तन तथा विचारों में, मौलिक परिवर्तन प्रस्तुत किये थे[२] । मगर भारतीय के इतिहास में राष्ट्रीय भावना का जन्म एक क्रान्तिकारी घटना थी । इस घटना के फलस्वरूप कई सक्रिय क्रान्तिकारी और राजनीतिक दलों का जन्म हो चुका था । क्रान्तिकारी दलों द्वारा हिंसात्मक कृत्यों से ब्रिटिश शासन को अचम्भे में डाला जाता, लूटमार, तोड़-फोड़, हत्यायें की जाती, किन्तु राजनीतिक दलों द्वारा (विशेषत: कांग्रेस) 'असहयोग आन्दोलन,' 'सविनय अवज्ञा', 'सत्याग्रह', 'उपवास' आदि साधनों

---

१ उदयशंकर भट्ट : 'विद्रोहिणी अम्बा', पृ०८८

२ बी०जी० गोखले: 'द मेकिंग आफ इनडियन नेशन', पृ०२०६

से राजतंत्र के विरुद्ध जनशक्ति का संचय किया जाता । १६२६ के 'साइमन कमीशन' से देश भर में अंग्रेजों के लोमहर्षक अत्याचार बढ़ गये थे और साथ ही जनता का आक्रोश भी । 'इरविन गांधी समझौता' तथा सन् ३५ के 'भारत विधान' ने भारतीयों को शासन सम्बन्धी सुविधाएं दी थीं तथा आश्वासन दिया था कि कार्यकारिणी अपने अधिकारों का प्रयोग न्यायपूर्ण तथा समझौते के अनुसार करेगी । इस आश्वासन को पाकर कांग्रेस ने चुनाव कराए किन्तु निर्वाचित मन्त्रियों ने द्वितीय विश्वयुद्ध के समय अपने पदों से त्यागपत्र देकर ब्रिटिश राज्य की उस कार्यवाही को चुनौती दी, जिसके अन्तर्गत अचानक भारत में भी युद्धकाल की घोषणा कर दी गई थी ।अपने अपदस्थ पद पर लौटने पर भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने अन्तिम संघर्ष में प्रवृत्त होती है । फासिज़्म तथा नासिज़्म के विरुद्ध अपनी स्थिति को स्पष्ट कर नाज़ियों के विरोध का,गुलामी की दशा में,दृढ़ असमर्थन किया गया तथा कांग्रेस ने भारत को स्वतन्त्र करने की मांग के रूप में पहला ठोस कदम स्वतन्त्रता संघर्ष की दिशा में रखा । ब्रिटिश शासन ने उस समय संवैधानिक समस्याओं पर बहस से इन्कार कर दिया तथा विश्व युद्ध के बाद किसी समझौते का आश्वासन दिया, जो भारतीय राष्ट्रीयता को सन्तुष्ट करने में असफल रहा । सन् ४२ से 'भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द होता है । देखा जाय तो सन् ४० से सन ४७ तक का समय देश के लिए चोटों,तड़पनों और कराहों का रहा है । युद्ध,भूकम्प,अकाल,अत्याचार,मुकदमे आदि एक तरफ थे और दूसरी ओर आजादी की हुंकार से भरा, अपने भाइयों के बलिदान के प्रतिशोध में जलती सामुहिक चेतना की शक्ति,'भारत छोड़ो','वन्दे मातरम','जयहिन्द' आदि नारों में प्रकट होती है । इस संघर्ष के साथ हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष भी तीव्र होता है १८५७ की महान् जन-क्रान्ति से वे किसी खामोशी में जी रहे थे और शासन करने वाली यह जाति अल्पसंख्यक जाति बन गई थी । १६०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना से इस्लामिक आन्दोलनों का भी जन्म हुआ जो १६४७ में अलग होकर रहा । लाहौर अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने अलग राज्य की मांग की तो उसका जोरों से स्वागत

---

१ बी०जी० गोखले : 'द मेकइन्ग आफ़ इनड्यिन नेशन', पृ०१५८

कियागया । उसी पूर्व शासन में चुनाव की हार तथा अन्य कारणों को पीड़ा जातीय संघर्षों में बदल गई । हिन्दुओं का आक्रोश भी औरंगजेब के समय से विशेष रूप में चला आ रहा था । आपसी वैमनस्य धार्मिक आधार पाकर बढ़ रहा था । ~~आपसी वैमनस्य धार्मिक आधार पाकर बढ़ रहा था~~ । जब तब हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष उठ खड़े होते । अंग्रेजों की चालबाजी भी थी, अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए वह दोनों धर्मों को प्रतिस्पर्धा में जीने रहने देना चाहती थी[1] ।

इस जटिल संघर्षमयी राजनीतिक स्थिति में नाटककार के सम्मुख दो प्रमुख प्रश्न आते हैं-- एक हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष और दूसरा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष ।ब्रिटिश साम्राज्य के अंकुश में वह सारे संघर्ष को मनमाने रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकता था, अत: उसने उन दूसरी द्वन्द्वमयी स्थितियों को नाटकीय परिकल्पना का आधार बनाया जो इस अंकुश से अलग हो सकता था ।

हिन्दु-मुस्लिम संघर्ष की फैलती आग और उसके परिणाम की कल्पना में जिस अंतर्द्वन्द्व को हरिकृष्ण प्रेमी ने भोगा, वह उनके कुछ ऐतिहासिक नाटकों में अभिव्यक्त हुआ है। जातिगत या धर्मगत संघर्ष की पृष्ठभूमि में वह समझौते तथा एकता का स्वप्न संजोता है[2] । वह मानता है कि राष्ट्रीय एकता सांस्कृतिक एकता के अभाव में सम्भव नहीं है । यह सम्भव भी तब हो सकता है जब एक-दूसरे के धर्म,सभ्यता और संस्कृति के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया जाय । जातिगत संघर्ष की इस खाई को पाटने के लिए वह यही उदार दृष्टिकोण लेकर चलता है । 'रक्षा बंधन' (१९३४) में जातिगत संघर्ष और उसके समाधान का यही पूर्ण विचार हिन्दू कर्मवती द्वारा मुसलमान हुमायूं को राखी भेजने तथा ईश्वर और खुदा को एक ही मानने[3] के सिद्धांत में परिकल्पित है । नाटककार ने इन दोनों पात्रों के माध्यम से यह बताना चाहा कि हिन्दु और मुसलमान दोनों नाम धोखा है, अलग करने वाली दीवारें हैं । इन्सानियत का यही सिद्धांत वह 'स्वप्नभंग' (१९४०)में जाति एवं धर्म के संघर्ष को मिटाने के लिए उदार-हृदय दारा के माध्यम से प्रतिपादित करता है । मानवता की घोषणा करवाता है और मनुष्य को

१द्रष्टव्य- 'कांग्रेस का इतिहास', 'द मेकइन्ग आफ इनडयन नेशन'

२ ,, - हरिकृष्ण प्रेमी की भूमिका 'स्वप्नभंग'

३ हरिकृष्ण प्रेमी 'रक्षाबन्धन' पृ०५३ तथा १०३-१०४

केवल मनुष्य बनकर रहने की राह बताता है, जिससे ये संघर्ष समाप्त हो सकें । 'आहुति' (४०) में वह इस संघर्ष की समाप्ति के लिए मानवता के सिद्धान्त का पुन: पिष्ट-पेषण करता है और 'शिवासाधना' (३५) में शिवाजी के जीवन के उद्देश्य को दरिद्रता की जड़ खोदना, ऊँच-नीच की भावना और धार्मिक सामाजिक असहिष्णुता का अन्त करना, राजनीतिक, सामाजिक दोनों प्रकार की क्रान्ति करना बताकर[1] मजहबी संघर्ष की समाप्ति की कल्पना करता है ।

व्यक्ति और समाज अपनी विकृतियों के कारण, अपने स्वार्थ और वासना के कारण एक विचार नहीं हो पाते हैं । व्यक्ति के विचार-वैभिन्य तथा समाज के विकार के कारण युद्ध होते हैं या किसी प्रकार के संघर्ष । अत: आवश्यक है कि व्यक्ति में मानवता की भावना तथा विवेक को उद्बुद्ध किया जाय । इसी स्थिति को ऐतिहासिक आधार पर उदयशंकर भट्ट ने 'शक विजय' (४८) की नाटकीय आयोजना की । जातिगत और धर्मगत संघर्ष की समाप्ति के लिए मानवता और भारतीयता को महत्वपूर्ण माना। देश को सुदृढ़ तथा शक्तिमान् बनाए रखने के लिए एक दृढ़ राष्ट्रधर्म की कसौटी, एक-दूसरे के प्रति उदार तथा सहिष्णु होना बताया है[2]। इस युग के अन्य नाटककारों ने भी हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के संघर्ष को मानवता के नाम पर एक करने की इन्हीं प्रक्रिया में नाटकों को जन्म दिया । चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने 'रेवा' (१९३४) में तीन संस्कृतियों के आपसी विचार वैभिन्य से उत्पन्न संघर्ष को प्रस्तुत किया । मिश्र जी ने सांस्कृतिक उत्थान तथा संस्कृतियों की एकता के प्रयास में 'गरुड़ध्वज' (१९४८) लिखा, जिसमें जिस धरती के अन्नजल से व्यक्ति पला हो उस धरती के धर्म में स्वयं को ढाल लेने[3] का आदर्श रखा । 'नारद की वीणा' में धार्मिक, सांस्कृतिक संघर्ष की एकता के लिए उन्होंने धर्म(४६) को व्यक्ति और जाति का बाध नहीं माना । संस्कृति की महानता में समन्वय, एकाकार की विशेषता को प्रतिपादित किया ।

युग के राजनीतिक संघर्ष का एक अध्याय वह है जो कांग्रेस द्वारा चुनाव के बाद शासन में भारतीय नेताओं को पद दिलाता है । बसन्त में पुन: हरे हुए पेड़ों की

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : 'शिवासाधना', पृ० १६

२ उदयशंकर भट्ट : 'शक विजय', पृ० ३३

३ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'गरुड़ध्वज', पृ० ७८-७९

तरह एक बार फिर कांग्रेस के दफ्तरों और उनके घरों पर कांग्रेस का झंडा फहराने लगता है । नौकरशाही अनुभव करती है कि उसने कुछ खो दिया है । किन्तु सत्तारूढ़ होकर कांग्रेस कार्यकर्ताओं में हो स्वार्थ प्रवृत्ति भरती गई । नेताओं की इस स्वार्थपरता और अवसरवादिता के प्रति नाटककार जिस विरोध से भर उठता है,उसका नाटकीय रूपान्तर उसने तथ्यों के उद्घाटन से किया । मिश्र जी 'मुक्ति का रहस्य' (३३) में पद प्राप्ति और फिर पदाधिकारी के रूप में स्वार्थ हित के लिए अवैध साधनों को अपनाने की प्रवृत्ति का उद्घाटन कर उमाशंकर जैसे सच्चे सेवा-वृत्ति की विजय दिखाते हैं । इस परियोजना में सम्भवत: उनकी यह कामना रही है कि जनसाधारण को अपना मतदान सावधानी से करना चाहिए । एक विद्रोही की भांति वे कल्पना करते हैं कि एक दिन देश का भूखा-नंगा वर्ग क्रान्ति करेगा और तब उस क्रान्तिको रोकना सम्भव नहीं होगा । परोक्ष रूप से अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उसका आक्रोश 'सन्यासी' में उभरता है,जहां वे अंग्रेजी सरकार के मातहत सरकारी अफसरों के असहयोगी होने की कल्पना कर किसी क्रान्ति का आह्वान करते हैं[१] ।वृन्दावनलाल वर्मा ने 'धीरे-धीरे' (३६) में कांग्रेस मंत्रिमण्डल बन जाने पर छुटभैया नेता लोगों की स्वार्थ और द्वेषपूर्ण प्रवृत्ति का उद्घाटन कर राजनीति में उत्पन्न होती विषमता को प्रस्तुत किया । राष्ट्रीय इतिहास का यह सत्तारूढ़ अध्याय विशेषरूप से सेठ गोविन्ददास के नाटकों में झलकता है । इसका बहुत सम्भव कारण है यह हो सकता है कि वे स्वयं कांग्रेस के एक कार्यकर्ता रहे हैं । राजनीति विषमता के कारणों के उद्घाटन में गोविन्ददास ने पूंजीपति वर्ग को दोषी ठहराया,क्योंकि धनाभाव के कारण नेता और राजनीतिक दल तक इनकी मुट्ठी में थे और वे मनमाना कार्य उनसे करवाते थे । पूंजीपति वर्ग के प्रतिक अनास्था का यही भाव स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के नाटकों में प्रमुख संघर्ष का रूप लेता है । किन्तु इस विकट संघर्ष का अनुभव नाटकीय रूपान्तर में अत्यन्त साधारण स्तर का हो जाता है, क्योंकि इस संघर्ष का उनके पास एक ही समाधान है, गांधीवाद का अनुकरण,जिसे उन्होंने येन केन प्रकारेण अपने नाटकों में स्थापित करना चाहा । फलस्वरूप अन्त:-बाह्य संघर्ष के समर्थक सेठजी के

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र :'सन्यासी',ब

नाटक प्रचार नाटक बन कर रह जाते हैं और नाटकों में प्रस्तुत संघर्ष स्थूल तथा आरोपित सा लगता है । गांधीवाद और समाजवाद के द्वन्द्व को लेकर सेठ जी ने 'त्याग या ग्रहण' नाटक लिखा । गांधीवाद, व्यक्तिवादी, ग्राम पर आधारित तथा कर्म में विश्वास करने वाला तथा नैतिक आदर्शों को मानने वाला दर्शन है । समाजवाद सामूहिक भावना है, अपने आयाम में अज्ञेयवादी तथा उद्देश्य में समतावादी है और समाज के परिवर्तनीय रूप को लेकर चलता है । उपरोक्त नाटक में उन्होंने किसी भी प्रवृत्ति के प्रति त्यागमय होने का आदर्श रखा । यह त्याग परोक्ष रूप से गांधीवाद का ही समर्थक है । चुनाव, पद और दलबन्दी के मूल में धन या पूंजीपति वर्ग के कारण उत्पन्न भ्रष्टाचार से द्वन्द्वात्मक स्थिति का पुन: प्रचारात्मक समाधान 'महत्व किसे' में है । 'सन्तोष कहाँ' (४०) में कांग्रेसी शासन की असफलता के कारणों तथा चतुर्दिक संघर्ष से दु:खी व्यक्ति का बड़ा ही यथार्थवादी उद्घाटन है । नाटककार बताना चाहता है कि यह शासन मंत्रियों की स्वार्थ नीति के कारण कलुषपूर्ण हो गया था और इस वातावरण में जाकर कोई साफ नहीं बच सकता । इसी संदर्भ में 'गरीबी या अमीरी' (४७), 'सुख किसमें' (४६) में वे दो विकल्पों को प्रस्तुत करते हैं, एक तो यह कि राष्ट्र का वास्तविक विकास पूंजी के विकास में सम्भव है, दूसरा कि व्यक्ति के असाध्य जीवन क्रम में राष्ट्रीय विकास सम्भव है। ~~दूसरा कि व्यक्ति के असाध्य जीवन~~ नि:सन्देह वे गांधी जी द्वारा बताये गए रचनात्मक कार्यक्रम को ही वास्तविक सुख और उन्नति का साधन बताते हैं । अनुभूति की ईमानदारी के बावजूद उनके नाटकों की अनाटकीयता संघर्ष के आरोपण के कारण है । युग संघर्ष के सन्दर्भ में नाटककार की प्रतिक्रिया के द्वन्द्व की दृष्टि से इनके नाटकों का महत्व नगण्य नहीं है ।

युग की आर्थिक विषम परिस्थितियों द्वारा प्रस्तुत संघर्ष जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अर्थ-युग के रूप में संघर्ष को जटिल बनाता है, इस युग में आगत की नींव बनाता है । शोषक, अभाव के संघर्ष में जीता हुआ मकान से झोपड़ी, झोपड़ी से फुटपाथ पर आकर दम तोड़ता है, तो पूंजीपति छल-कपट से ऐशो-आराम के अधिक से अधिक साधन उपलब्ध करता है । यद्यपि इन दोनों वर्गों के परोक्ष संघर्ष की परिकल्पना इस युग के नाटकों में नहीं है, पर अन्दर -ही -अन्दर वह प्रकट होने की प्रक्रिया से

गुजरती है । नाटककार केवल दोनों के बढ़ते संघर्ष के कारणों की खोज में रहता है । यूं भी इस युग की सवैदनशीलता में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन महत्व प्रश्न था जिसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का द्वन्द्व भी अन्तर्निहित था । नाटककार भी देशोद्धार की सम्भाव्यता पर दृष्टि रखकर आन्तरिक विसंगतियों को सुधारने का प्रयास करता है । आर्थिक विषमता भी अन्तरंग सुधार की अपेक्षा कर रही थी, कहीं नाटककार 'राक्षस का मंदिर' (लक्ष्मीनारायण मिश्र) में वेश्यावृत्ति अपनाने का कारण धनाभाव बताता है तो वहीं 'सिन्दूर की होली' में निरन्तर अपराध शृंखला के मूल में धन को मानता है । यहां वह युवा पीढ़ी के माध्यम से पारिवारिक सम्बन्ध विच्छेद कराकर धन लोलुप व्यक्तियों के प्रति तीव्र आक्रोश को प्रकट करता है । हरिकृष्ण प्रेमी 'स्वप्नभंग' में निर्धन के दुःखों की आहों में अन्दर ही अन्दर विद्रोह की कामना को कल्पित करते हैं, जिसका अनुभव नाटक के पात्र प्रकाश के कथन से होता है[1]। और दुर्बल वर्ग का आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त होता है " आपके हाथों में शक्ति आ गई है, इसलिए आप सारे गरीबों की इज्जत आबरू को अपने मनोरंजन का साधन बनाना चाहते हैं[2]।" सेठ जी ने अपने नाटकों में बताया कि पूंजीपति और मजदूर वर्ग के बीच संघर्ष आज की देन है, पहले तो ऐसा नहीं था । इन कारणों की खोज सेठ जी ने भिन्न नाटकों, 'प्रकाश' , 'बड़ा पापी कौन' , 'हिंसा या अहिंसा' 'गरीबी या अमीरी' आदि में की तथा बताया कि आज का यह पूंजीपति वर्ग स्वार्थी और असहिष्णु हो गया है । वह न तो स्वयं ईमानदार है न दूसरों को ईमानदार रहने देता है ।'हिंसा और अहिंसा' में उन्होंने इस द्वन्द्व का एक और कारण बताया कि" एक ही रोजगार का पैसा जब किसी एक फ़िरके के पास बहुत ज्यादा और दूसरे के पास कम आने लगता है तब उपद्रव हुए बिना नहीं रह सक सकता[3] । मालिक-मजदूर के बीच संघर्ष के कारण, सम्पत्ति को विध्वंस लीला से बचाने के लिए सेठ जी मालिक, मजदूर के बीच स्नेह तथा अहिंसात्मक सम्बन्ध के सिद्धांत का

---

१ हरिकृष्ण प्रेमी : 'स्वप्नभंग' ,पृ०२८

२ ,, : ,, पृ०६३

३ सेठ गोविन्ददास : 'हिंसा या अहिंसा' ,पृ०२३

प्रतिपादन करते हैं । अपने एक अन्य नाटक 'गरीबी या अमीरी' में रूस के 'निहलिस्ट आन्दोलन' से प्रभावित होकर उन्होंने पूंजीपतियों द्वारा सम्पत्ति को जनहित के लिए ट्रस्ट करवाने का आदर्श प्रस्तुत किया । 'छाया' (१९४१) में हरिकृष्ण प्रेमी ने प्रकाशक और साहित्यकार के संघर्ष के रूप में वर्गगत द्वन्द्व की कल्पना की । साहित्यकार की दयनीय स्थिति प्रस्तुत कर वे रुपए पर अपना आक्रोश उतारते हुए कहते हैं कि "रुपए को अपने सिर न चढ़ने दो मनुष्यो । रुपये को मनुष्य का सुख न छीनने दो मनुष्यो । रुपये को मनुष्य का अपमान न करने दो मनुष्य ![1]"

इन सभी नाटककारों में विद्रोह भरा है पर उनका यह विद्रोह नाटकीय स्तर पर क्रियाशील नहीं हो पाता, किन्तु विषय-निरूपण में अवश्य ही नाटककार किसी क्रान्ति, किसी तीव्र क्रियात्मकता की कामना करता है जो रूस की लाल क्रान्ति भले ही न हो, पर अपने अन्तर्दहन, पीड़ा-व्यथा से ऐशो-आराम की दुनिया में जीने वालों के लिए चुनौती बन जाये । यदि किसी संघर्ष की कल्पना भी ये नाटककार करते हैं तो उनके सामने ऐसे नेता की कमी प्रस्तुत होती है, जो ईमानदारी से इस वर्ग का मार्ग प्रदर्शन कर सके । क्योंकि जिनके सामने मेहनत-मजदूरी कर खाने का आदर्श है, वे भी जीवन-संघर्ष से टूट कर धन की ओर लपकते हैं[2]। वर्गगत संघर्ष अपनी पूरी तैयारी से स्वातन्त्र्योत्तर नाट्य साहित्य में प्रकट होता है ।

युग संघर्ष का नाटकीय प्रस्तुतीकरण, नये माध्यमों और परिष्कृत विन्यास तन्त्र को भी जन्म देता है । पश्चिम का प्रभाव विशेषकर दृष्टिगोचर होने लगता है । लक्ष्मी-नारायण मिश्र द्वारा प्रसाद जी के भावुकतारंजित वातावरण के विरोध में, जिस यथार्थवादी और बौद्धिक वातावरण का निर्माण होता है, वह स्वातन्त्र्योत्तर नाटकों में विशेष विकास पाता है । प्रसाद के नाटकों की परम्परा समाप्त नहीं हो गई थी, और अभी भी उसी स्वरूप का अनुसरण कर नाटक लिखे गये । सम्भवत: मिश्र जी का विरोध असमय था, क्योंकि बाद में वे स्वयं भी प्रसाद जी की परम्परा की ओर प्रवृत्त होते हैं । पर इसमें सन्देह नहीं कि इस युग के नाटककार की संवेदना में यथार्थ के

----

१ हरिकृष्ण प्रेमी : 'छाया'

२ सेठ गोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी'

नाटकीय प्रस्तुतीकरण का आग्रह है अवश्य । उन सारी भाव प्रवण स्थितियों के प्रति विद्रोह का भाव है, जो अब तक के नाटकों में किसी कल्पना लोक और रोमांटिक वातावरण का निर्माण करती थीं । संघर्ष की परिकल्पना नाट्य-सम्भावना में प्रकट होती है और व्यक्ति को उसके पूर्ण परिप्रेक्ष्य पर देखा जाता है । सामाजिक आधार पर लिखे गये नाटक ,नाट्य विधान में अन्तर्निहित,समन्वयात्मक प्रवृत्ति को पीछे छोड़ आते हैं । रस की परम्परा,अर्थ प्रकृतियाँ और कार्यावस्थाओं का विधान,विदूषक और भावुकतापूर्ण स्वगत कथन भाषा शैली की क्लिष्टता,गीत तथा काव्यात्मक पद्य आदि अतीत की बातें हो जाती हैं । (ऐतिहासिक पौराणिक पृष्ठभूमि पर लिखे गये नाटकों को छोड़कर) 'मुक्ति का रहस्य' नाटक की भूमिका में मिश्र जी ने लिखा कि "हमारे अधिकांश लेखक जिन्दगी की ओर से आँखें बन्द कर,कल्पना और भावुकता का मोह पैदा कर जिस नये जगत का निर्माण कर रहे हैं,उसमें जिन्दगी की धड़कन नहीं है । मनुष्य की आत्मा की बात कौन कहे, वहाँ तो मनुष्य का रक्त माँस भी नहीं मिलता ।"[1] इसी बात को ध्यान में रखकर उन्होंने जो प्रयोग किया, वह उन्हीं के अनुसार 'मुक्ति का रहस्य' में पूरा हुआ । नाटक की सफलता अपेक्षाकृत संक्षिप्तता तथा रंगमंच की स्वाभाविकता में मानी गई । प्राय: नाटकों में तीन अंक हैं(प्रसाद परम्परा वाले नाटकों में भी) तथा उनमें दो या तीन, और कभी पांच या छ: दृश्य हैं । लेकिन अनावश्यक विस्तार से बचने के प्रयास के बावजूद भी नाटकीय कथा में शैथिल्य है । वस्तुत: एक ही नाटक में अनेक संघर्षों को लेकर कथा-निर्माण के कारण यह दोष इस युग के प्राय: सभी नाटकों में है । नाटकों में स्वाभाविकता की रक्षा में अश्राव्य,नियतश्राव्य तथा स्वगत की परम्परा को रूढ़ि मानकर छोड़ दिया गया । किन्तु कहीं-कहीं अन्तर्द्वन्द्व के उद्घाटन में स्वगत को अनिवार्य मानकर ले लिया गया[2] । सेठ गोविन्ददास ने अपने नाटकों के प्रारम्भ तथा अन्त में उपक्रम और उपसंहार रखने का नया प्रयोग किया,जो कहीं-कहीं अपनी प्रतीकात्मकता में सशक्त बन आया है । पात्र-योजना पर विशिष्ट ध्यान दिया गया । यह मानकर कि "चन्द्रगुप्त और अशोक, बोनापार्ट और कैसर के दिन चले गये । अब उस रोशनी की जरूरत नहीं ... जरूरत है

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र : 'मुक्ति का रहस्य' (मैं बुद्धिवादी क्यों हूं),पृ०१४
२ "मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि अश्राव्य और नियत श्राव्य स्वाभाविक तरीके से लिखा जा सकता है,और उसके बिना कुछ आन्तरिक भावों एवं अन्तर्द्वन्द्वों का ठीक प्रकाशन कठिन ही नहीं असम्भव है ।"
-- सेठगोविन्ददास : 'गरीबी या अमीरी' ,पृ०७(भूमिका)

उस रौशनी की जिसका सहारा लेकर हम कुछ आगे बढ़े[1]।" इस अवधि का नाटककार पात्रों को उनके उच्चासन से साधारणता के स्तर पर ले आता है । इन नाटकों के नायक तथाकथित अर्थ को खोने की प्रक्रिया में है और अब कोई भी पात्र कथा वहन करता हुआ किसी भी दूरी तक जा सकता है और यह भी आवश्यक नहीं कि वो नाटकीय कार्य-व्यापार में आये हो । जैसे 'सिंदूर की होली' का रजनीकान्त एक बार भी रंगमंच पर नहीं आता,किन्तु कथा उसके इर्द गिर्द घूमती है ।

पाश्चात्य प्रभाव में नाटकों में रंग संकेत या रंग निर्देश की प्रणाली को ग्रहण किया गया । यह पद्धति अभी प्रारम्भिक प्रयोगात्मक स्तर पर थी ।अतः जहां आवश्यकता पड़ी है,वहीं नाटककार ने कथा,पात्र,स्थान आदि से सम्बन्धित सूचनाओं को दे दिया। रंग संकेतों की योजना से नाटक सच्चाई के निकट आ गये हैं, आज केवल सत्य का भ्रम ही उत्पन्न नहीं करते,पर सत्य का उद्घाटन भी करने लगे हैं ।

इस युग में रंगमंच यद्यपि विकसित नहीं हुआ था, पर फिर भी रंगमंच की कल्पना और अभिनेय नाटकों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी । रंगमंच की दृष्टि से नाटकीय आयोजन अभिनेयता की ओर प्रवृत्त होता है,फलस्वरूप संक्षिप्तता,संगठित कथानक,कार्य व्यापार,संघर्ष,कौतूहल और तनाव, चरित्र-चित्रण,संक्षिप्त सरल अर्थ गर्भित कथोपकथन आदि पर सैद्धान्तिक रूप से बल दिया जाता है । अपनी समग्रता में नाटकीय शिल्प विषय के अनुकूल सम्भेय अर्थों के निर्माण की प्रक्रिया में,नये प्रयोग करता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर से सन् १९६९तक

स्वतन्त्रता मिली और विभाजन हो गया । भारत में ब्रिटिश शासन के अन्त ने भारतीयों को इतिहास के उस रंगमंच पर प्रस्तुत किया,जहां से उन्हें स्वयं अपनी कहानी का निर्माण करना था । स्वतन्त्रता प्राप्ति से राजनीतिक क्रान्ति का वह अध्याय समाप्त हो जाता है, जिसकी संवेदना राष्ट्रीयता के बोध को लेकर चली थी । यह बोध स्वतंत्रता के बाद आर्थिक तथा सामाजिक मूल्यों के पुनर्गठन में द्वन्द्वरत होता है । नवोदित राष्ट्र की प्रथम कुछ वर्षों तक तो अपना सारा ध्यान स्वतन्त्रता के दृढ़ीकरण तथा

---

१ लक्ष्मीनारायण मिश्र :'संन्यासी'-'अपने आलोचक मित्र से',पृ०२-३

शरणार्थियों को बसाने में लगाना पड़ता है । उसके बाद वह देश के अन्तरंग को समृद्ध बनाने में अन्तरत होता है । वाह्य सुरक्षा के लिए कांग्रेस सरकार ने अपनी विदेश नीति में सह अस्तित्व, पंचशील तथा तटस्थता के सिद्धांतों को रखा तथा विश्वशांति के लिए क्रियाशील हुआ ।इसी आधार पर अपने दुश्मन की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया । राष्ट्र की आन्तरिक व्यवस्था के नवीनीकरण के लिए राष्ट्रीय सरकार के सामने दो सिद्धान्त थे-- गांधीवाद तथा समाजवाद । समय-समय पर इनकी व्याख्या के प्रयास में जो समन्वयात्मक सिद्धांत सामने आया, वह गांधीवादी समाजवाद का था। राष्ट्र की उन्नति के लिए समाजवादी आर्थिक व्यवस्था पर जोर दिया गया, क्योंकि यही एक ऐसा प्रारूप था, जो औद्योगिक तथा आर्थिक क्रान्ति ला सकता था[1] ।नवभारत के निर्माता जवाहरलाल नेहरू ने जिस राष्ट्र का स्वप्न देखा था, वह इन शब्दों में प्रकट हुआ-- "हमारी परम्परित आर्थिक तथा सामाजिक पद्धति ने आवश्यकता से अधिक समय तक अपने प्रभुत्व को बनाये रखा है । आज हमारे सभी देशवासियों को भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख-शांति और उन्नति के लिए किसी ऐसी नवीन व्यवस्था की शीघ्र आवश्यकता है जो प्राचीन का नवनिर्माण कर सके । हमें एक ऐसे जीवन दर्शन को लक्ष्य में रखना है जो आर्थिक सामाजिक ढांचे का मूल ही परिवर्तित कर सके । ऐसे समाज का निर्माण करना है, जिसका नेतृत्व वैयक्तिक स्वार्थ तथा निजी लाभ की भावना नहीं करेगी । जिसमें राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों का बराबर तथा सन्तुलित वितरण होगा । हमारा उद्देश्य वर्गहीन समाज का है, जो सहकारी प्रयत्नों पर आधारित सब के लिए सुअवसर दायक होगा और ऐसा करने के लिए हमें शांतिपूर्ण तरीकों को प्रजातांत्रिक रूप से प्रयोग में लाना होगा[2] ।" इस तरह राष्ट्र के सामने जो नया लक्ष्य आया, वह वर्गहीन, शोषण मुक्त समाजवादी समाज की स्थापना का था । इसी प्रयास में एक ओर तो, राज्यों के विलीनीकरण, जमींदार प्रथा का अंत, अस्पृश्यता निवारण बिल, भूमि सुधार, सहकारी खेती, पंचवर्षीय योजनाएं, तलाक बिल

१.जी० गोखले : 'द मेकिंग आफ इनडियन नेशन', पृ० २०६

२ ,, : ,, ,, पृ० २०६-२०७

हिन्दू कोट बिल, दहेज विरोधी बिल आदि एक-के-बाद-एक राष्ट्रीय उत्थान के कदम उठाये गये । दूसरी ओर आधुनिकतम तकनीकी साधनों को अपनाने तथा बड़े-बड़े कारखानों को बनाने की आवश्यकता को अनुभव किया गया ।[1] पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत करोड़ों रुपया खर्च कर देश में यांत्रिक सुख-सुविधाओं का जाल बिछाया गया । प्राइवेट तथा पब्लिक सेक्टर के अन्तर्गत देश में उद्योग-धंधों के छोटे-बड़े कितने ही नये व्यापार तथा निर्माण कार्यों का उद्घाटन हुआ, पर फिर भी देश गरीब पर गरीब ही होता चला गया है । जनसाधारण की दशा में कोई विशेष अन्तर नहीं आया । समाजवाद का नारा लगाने वाली सरकार भूखे-नंगे लोगों को कुछ उपलब्ध न करा सकी ।इसका एक कारण जहाँ तीव्र गति से बढ़ती जाती जनसंख्या है, वहाँ पूंजीपति वर्ग का भ्रष्टाचार और काला बाजार भी एक प्रमुख कारण है । आन्तरिक फूट, साम्प्रदायिक झगड़े प्रांत तथा भाषा को लेकर द्वन्द्व, आन्तरिक वर्गहितों और स्वार्थों तथा विरोधी विचारों का टकराव, अतिवृष्टि या अनावृष्टि जैसी दैवी प्रकोपों आदि अवरोधों में परस्पर संघर्ष का जीवन आज हो गया है । इस अनेक मुखी संघर्ष में जीवन प्रवाह कभी अवरोधों से पराजित होकर स्थिर हो जाता है, और कभी रुक कर अपनी ही घुटन और कुंठाओं में घिरा अनास्थाशील संशयग्रस्त विघटनशील और विकृत होता है । आज जीवन जिस संक्रान्ति से बीत रहा है, वह जीवन मूल्यों के विघटन और पुनर्मूल्यन की है । व्यक्ति किन्हीं मूल्यों की प्राप्ति के लिए संघर्षशील नहीं है, पर वह मूल्यों को लेकर द्वन्द्वरत है । नये राष्ट्र की कल्पना में, स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद से द्वन्द्वरत देश जिस संघर्ष को भोग रहा है, उसमें वह अनास्था, कुंठा, संशय, घुटन, उच्छृंखलता, झूठा दम्भ, दिखावा, स्वार्थपरता व्यक्तिवादिता, अनैतिकता, आदि से ग्रस्त विघटन की स्थिति से पीड़ित है ।सर्वत्र एक दौड़, प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्द्धा और फिर पराजय की अनुभूति से मन में भरता वैषम्य, संत्रास, कुंठा, उदासी, अपने होने के एहसास का अवसाद, शस्त्र युद्ध और अर्थ युद्ध से उभरते नये प्रश्न और आयाम, दोहरेपन के आवरण को ओढ़े किसी राह भूले

----

[1] जी०गोखले : 'द मेकिंग आफ इनडियन नेशन', पृ०२०७

राहगीर की सदृश व्यक्ति अपनेआप को जैसे दिशाभ्रान्त अनुभव कर रहा हो,सबसे कटा हुआ अलग-थलग । अपनी चतुर्दिक उन्नति तथा निर्माण के बाद भी इस शताब्दी के चल रहे दशक तक आते-आते व्यक्ति के पल्ले पड़ता है,पराजय,असन्तोष,जितना वह भौतिक जगत में पाता जाता है,उतना ही आध्यात्मिक जगत में खोता जाता है ।युग की पूर्ण जटिलतायें हमारे वैयक्तिक तथा सामाजिक सम्बन्धों में एक अन्तर्विरोधी गुत्थिमय,अन्तर्द्वन्द्व समा गया है ।

धीरे-धीरे नाट्य साहित्य का भाव बोध भी बदल रहा है । जो आज की परिस्थिति से उद्भुत मानवीय वास्तविकता की समग्र चेतना और भावबोध का प्रतिरूप है । यह चेतना और भावबोध सामयिक जीवन और अस्तित्व के आन्तरिक प्रश्नों से जो निश्चित नहीं,गतिमान हैं-- संयुक्त एक व्यापक संवेदनशीलता की उपज है । यथार्थवाद आज भी नाट्य साहित्य में प्रभुत्व सम्पन्न है पर अपने अति यथार्थ रूप में प्रतीकात्मक अभिव्यंजनात्मक,भाषागत परिधानों और माध्यमों से परिष्कृत हो नवीन रूप में प्रस्तुत होता है । इस नाटकीय यथार्थ का एक रूप समाज और राष्ट्र की स्थितियों का चित्रण करता है,दूसरा व्यक्ति और परिवार का । पहला यथार्थ युग में समाज की बदलती स्थितियों का चित्रण करता है,जिसमें यथास्थितिशील वर्गों के विरुद्ध संघर्ष है । इस परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत नाटकों का द्वन्द्व समाज में घर कर चुके कुत्सित संस्कारों,भ्रष्टाचारों, चरित्रहीनता, धन-संचय की प्रवृत्ति और अवैध साधनों का प्रयोग,भोगवादी और भौतिकतावादी प्रवृत्तियों का मन्थन और चीरफाड़ से प्रकट कर उनके नाश की कामना का है,जिसमें किसी सुखद भविष्य की और संकेत भी है । इसके साथ श्रमिक जनता की एकता और उसका सगठन,बढ़ती हुई साक्षरता और शिक्षित असन्तुष्ट भूखे नवयुवकों की बढ़ती हुई संख्या ,जागृत किसान और मजदूरों का विद्रोह प्रकट कर, इन आन्दोलनों या क्रान्तियों से नाटककार निष्क्रियता और निराशा के नाश की कल्पना करता है,पूंजीपतियों की सर्वेसर्वा होने की स्थिति को खोखला करना चाहता है । दूसरा नाटकीय यथार्थ रूप सम्बन्धों को विघटनकारी, अनास्थाहीन,स्थिति को लेकर चलता है, जिसमें व्यक्ति सामाजिक और वैयक्तिक परिवेश से उलझा हुआ जीवन जी रहा है । नारी स्वातन्त्र्य और उसके परिणामों की नाटकीय परिकल्पना भी हुई । साठोत्तरी भूमि का स्पर्श करते-करते नाटककार मध्यवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों के खोखलेपन की और प्रवृत्त होता है । तथा

सम्पूर्ण संवेदनशीलता से उसी परिप्रेक्ष्य को रूपायित करने के प्रयास में जुट जाता है । इस तरह जीवन के सन्दर्भ में अन्तर्मन की भाव-उर्मियों के आरोह-अवरोह का दिग्दर्शन एक और है, दूसरी ओर सामाजिक स्थितियों से अनिश्चित और व्यापक उलझनमय समाज के जन्म का प्रस्तुतीकरण । यह समाज प्रतिदिन अपना स्वरूप बदल रहा है, प्राचीन और निरर्थक सांस्कृतिक परम्पराओं के लिए, शिथिल, प्रवंचनामय संस्कार और परिवर्तित मूल्य का यह युग, एक पृष्ठभूमि देता है जिसमें व्यक्ति-मन के विघटन, विशृंखलता और टूटन का बोध निरन्तर विकसित हो रहा है और इसी रूप में वह नाटकीय प्रारूप में प्रस्तुत होता है । हर सम्बन्ध टूटता-सा संकटग्रस्त है या वह नये परिवेश के अनुकूल नवीनीकरण की पीड़ा को फेल रहा है । अपनी असमर्थता और अनुपयोगिता से पीड़ित व्यक्ति की विघटनशील मनोवृत्ति को नाटककार अपनी अन्तर्दृष्टि से नाटकीय प्रारूप देने का प्रयास करता है । अपने इस निर्माण को वह जीवन सत्य स्वीकार करने का आग्रह भी करता है । इसके साथ ही व्यक्ति के जीवन को कुंठित करने वाली विषम परिस्थितियों के प्रति जागरूकता को सर्वजन संवेद्य बनाकर हर बाधाओं के बावजूद नये जीवन को गढ़ने के लिए दृढ़ संकल्पशील आस्थावान्, संघर्षरत एवं क्रान्तिकारी मानव की प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील है । व्यक्तिवादी और सामाजिकतावादी धाराओं का संघर्ष ही स्वातन्त्र्योत्तरकाल से चल रहे छठें दशक तक अनेक रूपाकार में प्रस्तुत हुआ है । इस युग ने हमें सार्त्र, कामू, काफ़्का, सैमुअल ब्रेख्ट, पिरन्देलो, बर्नोल्त बेकट, आइनस्को, इडमाव, जीन जेने, विलियमटेनसीन, लार्का जैसे महान विचारकों तथा नाटककारों के माध्यम से नये जीवन दर्शन को परिचय करवाया । जीवन को बोझ मानकर चलने वाले इन नाटककारों ने जीवन के प्रति अनासक्ति व्यक्त की । तथा उसे अनिच्छापूर्वक ढोते जाने का आस्थाहीन, तीव्र संघर्षपूर्ण, जिसमें पराजय की सम्भावना अधिक है, कार्य व्यापार माना । सत्य की खोज वे अव्यवस्था, आकारहीनता, विरोधात्मक स्थिति तथा निरर्थकता में करते हैं, जो प्रतिदिन के अस्तित्व का बोध देती है[1] ।" जीवन में

---

१ आस्कर जी० ब्रोरवट : 'द थियेटर : एन इन्ट्रॉडक्शन', पृ०३४१

नाथिंगनेस का बोध लेकर चलने वाला यह दर्शन मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन जीने के लिए स्वयं ही मूल्यों की खोज करना होगी, पर उसमें इतना साहस होना चाहिए कि वह इस बात का सामना कर सके कि उसके मूल्य एबसर्ड हैं। नारी और पुरुष यहां अयुग्म हैं, सिर्फ एक-दूसरे से ही नहीं, पर अपने-आप से भी। अपने-आपको अनेकरूप होने पर भी, एक ही रूप में जानना, उसकी सबसे बड़ी विडम्बना है और इसी विडम्बना में जीता हुआ वह मात्र एक स्थिति या घटना अथवा दुर्घटना से अधिक कुछ नहीं है। किसी आशा, सुख की सम्भावना में संघर्ष को भोग जाना ही जीवन की सार्थकता है। फिर भी व्यक्ति अपने में यही आशा लिए है कि अवश्य ही ऐसी ज़िन्दगी उदय होगी, जिसमें सुखद क्षणों का महत्त्व होगा। वह भले ही उस जीवन को भोगने के लिए न रहे पर उसके लिए वह जी रहा है। इस संघर्ष में अपने अस्तित्व का सुख है। जीवन की उदासी और एकरसता से उत्पन्न ऊब से छुटकारा पाने के तन्मय चित्रण में एक ही हाव-भाव या स्थिति का बार-बार दुहराया जाना, या किसी प्रकार के शॉक देना इस विचार दर्शन को लेकर चलने वाले नाटकों में उभरा है[1]।

इस एबसर्ड रंगमंच से प्रभावित, जगत के सम्पूर्ण विघटन तथा विक्षाति के माहौल से अपने यहां भी इस शताब्दी के छठें दशक में एक नया नाटक जन्म लेता है, जिसमें घटनाओं संयोगों, कथाओं और कल्पना का आधार नहीं है, पर जीवन-प्रक्रिया के बीच, संवेदना के सूक्ष्म तन्तुओं पर आघात करते हुए एक सम्पूर्ण अनुभव के किन्हीं क्षणों का चित्रण है। इसलिए यह कथामय नाटक न होकर अनुभव से स्वत: गुजरने का नाटक हो जाता है। संशयग्रस्तता, व्यर्थता, संत्रास, अजनबीपन, अकेलापन, जीवन की निरर्थकता, जीवनजगत के आदि यथार्थ को, नाटककार ने अपनी अनुभूति की संवेदनशीलता के साथ रूपायित करने का प्रयास किया है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का नाटक, अपनी समग्रता में एक और परम्परित नाट्य रूप, जीवनगत यथार्थ का अनुभूतिपरक चित्रण कर किसी समाधान की खोज करता है, दूसरी और परम्पराओं के मध्य से नये जीवन की प्राप्ति के द्वन्द्व को नाटकीय रूप देने के

---

१ एसलिन, मारटिन : 'द थियेटर आफ़ एबसर्ड', [2]

संघर्ष को व्यक्त करता व्याख्यायित करता है । विषय के अनुरूप किसी उपयुक्त माध्यम की सृजनात्मक खोज उसे नये प्रयोगों की ओर प्रवृत्त करता है । अपने स्वरूप में चाहे जिस मौ मिथ को या रूपविधान को लेकर आज का नाटक प्रस्तुत हो, पर इतना कहा जा सकता है कि इस युग का नाटक अधिक-से-अधिक रंगमंच के निकट आने के संघर्ष में जो रहा है । रंगमंचीय रूढ़ियों की क्रिया-प्रतिक्रिया में, किसी अयथार्थवादी नाट्यशैली को ग्रहण करने की प्रवृत्ति इधर आ रही है । पाश्चात्य नाट्य साहित्य तो इस दृष्टि से कई आयाम पार कर चुका है, पर अपने यहाँ अभी प्रयोग हो रहा है । आज का नाटक साहित्यिक तथा रंगमंचीय इन दो रूपों का एकता से नये मुल्यों की खोज में प्रवृत्त है । अभिव्यक्ति तथा अभिव्यंजना में किसी अनुभूतिपरक स्थिति का रंगमंचीय रूढ़ियों से निरपेक्ष नाटकीय स्वरूप, प्रेक्षक के प्रेक्षाभाव में कलात्मक सक्रियता और जागरूकता की नई रूढ़ियों को लिए, अपेक्षाकृत जीवन सत्य के अधिक निकट होने की प्रक्रिया में जी रहा है । जिसकी द्वन्द्वात्मक स्थिति में नाटककार किसी भविष्य के सर्जन में व्यस्त है । अपनी अव्यवस्था में व्यवस्था को खोजते हुए द्वन्द्वात्मक गहरी अनुभूति को भोगते हुए आज का नाटक युग-संवेदना को कहीं गहन और सूक्ष्मरूप से अनुभूत कर चला है ।
अव्यवस्था की ओर अग्रसारित युग का प्रारम्भ जनतंत्र की स्थापना से होता है । देश की सरकार राष्ट्र की उन्नति में व्यस्त हो जाती है । गरीबी स्वाधीनता से दूर नहीं होती थी । अत: अनेक योजनायें बनायी जाती हैं, किन्तु बड़ी-बड़ी योजनाओं पर करोड़ों रुपया खर्च करने के बाद भी गरीबी दूर नहीं हो पाती है । और स्वतंत्रता के बाइस-तेइस वर्षों के बाद भी सरकार समाजवादी व्यवस्था लाने में कृतरत है । एक ही वर्ग निरन्तर सम्पन्न होता गया । समाजवाद के नाम पर पूंजी का असन्तुलित वितरण व्यंग्य बनकर रह गया है । एक ओर लाखों अरबों डालर खर्च कर व्यक्ति चन्द्रमा पर विजय का ध्वज फहरा आया है, दूसरी ओर भूख व्यक्ति पर हावी होती जा रही है । अपने ही यहाँ यह असमानता एक और निन्यानवे की है । नाटककार के सामने प्रश्न है कि आखिर इतनी असमानता क्यों है । स्वतन्त्रता के बाद का नाटक इस 'क्यों' के उत्तर की द्वन्द्वात्मक स्थिति का परियोजना है और किसी समाधान की खोज का संघर्ष प्रस्तुत करता है । नाटककार अनुभव करता है कि अन्तहीन व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए जनहित की बलि हो जाती है और देश की उन्नति का

नारा लगाने वाले तिजोरियों में दौलत भरने लगते हैं । व्यक्ति में सम्पन्नता का भाव इस तरह सर्वत्र बिखर रहा है कि वह अपने अन्दर या बाहर तटस्थ एवं भाव-प्रेरित होकर कुछ निर्माण नहीं करना चाहता, वरन् भोगना ही भोगना चाहता है । भोग की यह प्रवृत्ति, स्वार्थ और अन्याय को अपना अधिकार मानकर चलने वाले पूंजीपति वर्ग में घर कर गई है । अधिकारों और स्वत: की मांग में सर्वहारा वर्ग सजग है । इनके संघर्ष को लेकर युग-परिवेश की संवेदनात्मक अनुभूति नाटकीय परिकल्पना में नियोजित हुई है, जिसमें पूंजीपति वर्ग के काले कारनामों का उद्घाटन हुआ है तथा सर्वहारा वर्ग के तीव्र आक्रोश को वाणी मिला है । ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया जगदीशचन्द्र माथुर का नाटक 'कोणार्क' (५१) युवा पीढ़ी में अतीत के सारे अत्याचारों के प्रति क्रोध को लेकर प्रस्तुत होता है । इस नाटक में केवल वर्गगत संघर्ष ही नहीं प्रस्तुत हुआ है, वरन् सृजनशील विशु और विद्रोही धर्मपद के द्वन्द्व में दो पीढ़ियों का संघर्ष भी व्यंजित है । राजनीतिक, आर्थिक संघर्ष यदि युग संवेदना का प्रतिफलन है तो संस्कृति को प्रस्थापना नाटककार का चिरन्तर संघर्ष। नाटककार कामना करता है कि जो व्यवस्था आज है, उसे बदलना ही होगा, विनाश की ओर अग्रसर समाज के खण्डहर पर ही कोई नया रूप जन्म लेगा । विनोद रस्तोगी का 'आजादी के बाद' (५३) सामाजिक पृष्ठभूमि पर वर्गगत तथा पीढ़ीगत संघर्ष को प्रस्तुत करता है । युवापीढ़ी का आक्रोश अपनी कुंठा यातनाओं के विरोध में खड़ा है । फिर चाहे वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और विवाह के लिए हो अथवा ऐसी स्थिति से जहां 'धन से मनुष्य का मूल्य आंका जाता है' । यह युवा पीढ़ी नाटककार के इसी आक्रोश को वहन करते हुए कहती है -- "..... आपके इस धन से, जो निर्धनों और बेबसों का रक्त चूस-चूस कर एकत्र किया है, मैं एक पैसा नहीं लेना चाहता ।"[1] इससे आगे बढ़कर वह अनुभव करता है कि जब तक शोषित वर्ग को शोषक वर्ग के चंगुल से बचा नहीं लिया जाता, उसके लिए स्वतन्त्रता कोई महत्व नहीं रखती और उसका सारा संघर्ष इन शब्दों में व्यक्त होता है --" हमें अभी स्वतन्त्र होना है उन पशुओं से जो मनुष्य के रूप में रहकर देश तथा राज्य के साथ विश्वासघात करते हैं, हमें स्वतंत्र

---

१ विनोद रस्तोगी : 'आजादी के बाद',

होना है भूख की ज्वाला से, निर्धनता के शाप से, बेकारी के पाश से, स्वयं अपनी दुर्बलताओं से और वह होगी हमारी वास्तविक स्वतन्त्रता।[1]' देखा जाय तो यही संघर्ष नाटककार का अपना है और युग संघर्ष में वास्तविक, जिसे किसी न किसी रूप में प्राय: सभी नाटककारों ने नाटक में नियोजित किया। कहीं वर्गगत रूप में, कहीं व्यक्तिगत रूप में। यही संघर्ष चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'न्याय की रात' (५८) में है, और यही संघर्ष रेवतीसरन शर्मा के 'चिराग की लौ' (६२) में है। दोनों नाटक स्वार्थी, भ्रष्टाचारी पूंजीपति तथा आदर्शवादी ईमानदार कर्मवीर नवयुवक के बीच संघर्ष को प्रस्तुत कर इसी सामाजिक संघर्ष को अभिव्यक्त करते हैं। 'चिराग की लौ' में नाटककार भावावेश में किए गए प्रेम-विवाह के फलस्वरूप दाम्पत्य जीवन में उत्पन्न असंतुलन के मूल में भी धन को मानता है। स्वतंत्रता के वास्तविक अर्थ को लाने के संघर्ष में शील ने 'तीन दिन तीन घर' (६१) में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के संघर्ष का नाटकीय रूपान्तर किया। यह नाटक एक ही गली के परिवारों की तीन दिन की गतिविधि को समूचे समाज की संवेदना में बदल देता है। हर बड़ी मछली छोटी मछली को निगलने के लिए तत्पर है तथा इसके लिए बड़ी मछली हर सम्भव-असम्भव मार्ग को अपनाती है। इनके विरोध में सक्रिय प्रभात, चन्दु और उसके सहयोगी पूंजीपति वर्ग की साजिशों का उद्घाटन कर शक्तिशाली मोर्चा लेते हैं। षड्यन्त्रकारी पकड़ लिए जाते हैं, विरोध काबू कर लिया जाता है, नाटक समाप्त हो जाता है। किन्तु नाटककार जानता है ऐसी स्थिति बार-बार आयेगी और हर बार जनता को ही मोर्चा लेना होगा। लक्ष्मीनारायणलाल के 'रातरानी' (६२) में श्रम और पूंजी का संघर्ष है। नाटककार मानता है, कि अर्थ युग में मनमानी कैंची नहीं चलाई जा सकती। सन्तुलन के लिए पूंजीपति को सहृदयतापूर्वक अपने कर्मचारियों के अधिकारों की रक्षा करनी होगी। किन्तु नारी के माध्यम से कल्याण की भावना का जो रूप वह प्रस्तुत करता है, वह भाव जगत का है, यथार्थ का नहीं। इससे भिन्न भगवतीचरण वर्मा ने 'रुपया तुम्हें खा गया' (५५) नाटक में व्यापारी वर्ग की भोग प्रधान प्रवृत्ति के कारण सामाजिक रचनात्मक प्रवृत्तिहीनता में मानव के अन्तरंग संघर्ष की कथा को लिया। तथा यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि धन व्यक्ति की आन्तरिक ममता, दया, करुणा और त्याग पर हावी होकर

---

१ द्रष्टव्य -- विनोद रस्तोगी : 'आजादी के बाद'

उसके अन्तस् को नीरस और कठोर बना देता है । कुछ ऐसा ही आधार लेकर मध्यवर्ग की सर्वजनीन संवेदना के अनुरूप अश्क ने 'बड़ा बेटा' ('५०) लिखा । जिसमें उन्होंने बताया कि युवा पीढ़ी की धनलोलुपता धनाढ्य और धनहीन पिता के साथ कैसा व्यवहार करती है ।

जनतन्त्र की स्थापना के बाद राजनीतिक हिंसात्मक आन्दोलनों के वे चित्र भी नाटकीय परिकल्पना में नियोजित होते हैं, जिनकी चर्चा ही ब्रिटिश शासन में अवैध मानी जाती थी । भगत सिंह, दत्त, नेता जी, आजाद प्रभृति क्रान्तिकारियों ने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए जो संघर्ष, बलिदान त्याग से किया था, वही अपने प्रकार के एक ही उल्लेखनीय नाटक 'क्रान्तिकारी' ('५३) में नाटकीय रूप पाता है । भट्ट जी ने इस नाटक में क्रान्तिकारियों का उद्देश्य 'शत्रुओं से मातृभूमि का उद्धार' बताकर उनके जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों को प्रस्तुत किया । क्रान्तिकारियों के संघर्षमय जीवन को एक व्यापक फलक पर नरेश मेहता ने 'सुबह के घण्टे' ('५६) में प्रस्तुत किया । व्यक्ति और राजनीति के द्वन्द्वात्मक फलक पर राजनीतिक और सामाजिक कमियों का उद्घाटन वह करता है । अपने स्वरूप में वैसे यह नाटक एक लघु उपन्यास माना जा सकता है । नाट्य साहित्य के नाम से स्वतन्त्रता पूर्व की क्रान्तियों को लेकर बहुत से नाटक लिखे गए जो अपने स्वरूप में नाटक नाम से विभूषित तो हैं पर उसकी सक्रियता को पोषित नहीं करते ।

देश-विभाजन के बाद शरणार्थी-समस्या भी देश के संघर्ष की प्रमुख स्थिति थी, किन्तु इस युग-द्वन्द्व की ओर नाटककारों ने विशेष ध्यान नहीं दिया । यहाँ-वहाँ उनकी स्थिति की चर्चा अवश्य हुई । अश्क ने 'अंधी गली' ('५६) में शरणार्थियों के प्रश्न को उठाने का प्रयास किया । यह नाटक भी है और इसका प्रत्येक अंक एकांकी भी । इसी समय देश के सम्मुख जमीन्दारी उन्मूलन कानून के लागू हो जाने पर जमीन्दारों की स्थिति का प्रश्न भी था । जमीन्दारी समाप्त तो हो रही थी, पर उसके भग्नावशेष बने हुए थे । 'जिनकी जमीन्दारी गयी थी, उनका व्यामोह अभी टूटा नहीं था । तथापि मुर्दे के घर से उठ जाने पर भी घर वाले कभी-कभी रोते दिखाई देते हैं और न जाने कब तक ऐसे ही रहते हैं'[१] । कुछ ऐसी ही स्थिति इन उजड़े जमीन्दारों की हो रही थी । कर्ज और भय की नींव पर अपनी हुकूमत का

---

१ उदयशंकर भट्ट : 'नया समाज', भूमिका

गर्व और खोखली स्थिति पर वैभव का आवरण चढ़ाये, खंडहर हो रही परम्परा को अपने से चिपकाये नये युग के साथ चलने में असमर्थ, अपनी कुंठाओं से ग्रस्त थे ज़मीन्दार अपनी समस्याओं सहित नाटकीय परिकल्पना में प्रस्तुत हैं । इस परिप्रेक्ष्य में उदयशंकर भट्ट का 'नया समाज' ('५५) , विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' ('५७) तथा नरेश मेहता का 'खंडित यात्रायें' ('६२) सामने आते हैं । इन सभी नाटकों में नाटककारों ने युग संघर्ष को पीढ़ीगत संघर्ष के रूप में प्रस्तुत किया । बुढ़ुवा पीढ़ी जो अपने संस्कारों से दबी, असहनीय विषम स्थिति में भी अपने परम्परित जीवन को बनाये रखना चाहती है और नयी पीढ़ी सारे आडम्बरों, ढकोसलों, वैभव और शान के झूठे मोह को त्याग कर युग के साथ चलने को उत्सुक है । प्रथम दो नाटकों में इसी आधार पर प्रेम और विवाह गत मूल्यों के संघर्ष की प्रस्तुति है । दोनों ही नाटककार अपने-अपने नाटकों में बीती पीढ़ी को , अपने अधिकार दम्भ को छोड़कर नयी पीढ़ी को नये समाज के निर्माण का अवसर देने का सुझाव देते हैं । नरेश मेहता के नाटक में पीढ़ीगत संघर्ष से नई पीढ़ी का ही दो विरोधी प्रवृत्तियों का संघर्ष अधिक है । पुराने पूंजीपति और नये संस्कारहीन पूंजीपति, पीढ़ीगत संघर्ष और व्यक्ति की नई पीढ़ी की अनिश्चयात्मक स्थिति का द्वन्द्व एक साथ ऐसे वातावरण का निर्माण करता है, जिसमें आज व्यक्ति अपनी परम्परा से विद्रोह करके भी बार बार अपने में उलझता, संघर्ष करता उसी पर लौटकर आता है । अपनी असमर्थता में अपने ढहते हुए जीवन के साथ और भी बहुत कुछ सिर्फ टूटने दे सकता है ।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का संघर्ष पहले से भी जटिल हो गया है । दाम्पत्य जीवन संघर्ष की जटिलता में आज संक्रान्ति स्थल पर खड़ा नवीनीकरण या किसी नयी दिशा की कामना कर रहा है । नारी के अन्तर्मन की जितनी व्याख्या, विश्लेषण होता है, उतने ही और गूढ़ अर्थ जुड़ जाते हैं । आज नारी वर्ग को स्थूल रूप से विभिन्न मान्यताओं वाले वर्गों में रखा जा सकता है । एक वर्ग वह है जो या तो पुरानी रूढ़ियों और संस्कारों से इस तरह ग्रस्त है कि उनका साथ छोड़ देने में भी उसे उतनी ही पीड़ा है जितनी कि उसे निभा ले जाने में । वह अपमानित , तिरस्कृत होकर भी विद्रोह के लिए सिर नहीं उठाती और इसे अपना भाग्य समझकर सन्तोष कर लेती है।

दूसरा वर्ग इन रूढ़ियों ,संस्कारों को तोड़ना तो चाहता है पर ऐसा करते हुए या तो आत्महत्या कर लेता है या आत्महत्या के प्रयास में पंगु हो जाता है ।(यह आत्महत्या मानसिक स्तर को भी हो सकती है।) एक तीसरा वर्ग वह है जिसने पश्चिमी अनुकरण की दौड़ में जबरदस्ती कुंठा और संत्रास को जीवन में न्यौत लिया है । पुरुष का अधिकार दम्भ और नारी के विद्रोह के बीच सन्तुलन की कामना में नाटककार नारी को सहचरी,संगिनी के रूप में रख कर सामाजिक मान्यताओं से उन्मुक्त है । वह किसी ऐसे समाधान की तलाश करता है, जो दाम्पत्य जीवन में सुख,शान्ति और स्थायित्व को ला सके । अपने परवर्ती नाटककारों की तरह इस युग का नाटककार भी भारतीय संस्कारों की महत्ता में पश्चिमी संस्कारों के विलयीकरण का प्रयत्न करता है । इस परिप्रेक्ष्य में वह व्यक्ति स्वतन्त्रता और आत्मिक उत्थान पर बल देता है । समाज और व्यक्ति के द्वन्द्व में मानव-मन को उद्वेलित करने वाले अवचेतन संघर्ष को लेता है,जिसमें उन्मुक्त प्रेम,यौन समस्याएं तथा दाम्पत्य जीवन का संघर्ष निहित है ।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने प्रेम,विवाह और दाम्पत्य के संघर्षों को लिया । 'अलग अलग रास्ते' (५०), 'क़ैद' (५०), 'उड़ान' (५५) तथा 'भंवर' (५५) इन्हीं संघर्षों के विकास का क्रमशः आयोजन है । अपनी स्थिति के सुधार और पुरुष के समानाधिकार समाज में प्रतिष्ठा पाने के द्वन्द्व को लेकर 'अलग अलग रास्ते' की रानी सामने आती है । स्वाभिमान के बल पर वह धन-लोलुप पति, और प्राचीन संस्कार के हेतु नरक तुल्य पति-गृह में वापिस भेजने के आग्रही पिता का घर छोड़कर वह युवा पीढ़ी के प्रतीक भाई पूरन के साथ मार्ग निर्माण के लिए चली जाती है । इसी नाटक में दूसरी नारी राज है, जो सभी कुछ सहकर अपने संस्कार से चिपकी हुई है ।इन दो नितान्त भिन्न आदर्शों वाली नारी के संघर्ष से उद्वेलित स्वयं नाटककार दोनों की स्थिति को व्यापक रूप में 'क़ैद' और 'उड़ान' में नाटकीय आयाम देता है ।'क़ैद' की अप्पी अपने सपनों के खण्डहर पर,मानसिक कुंठाओं से घिरी, सामाजिक रूढ़ियों से आबद्ध चट्टानों पर सिर पटकती हुई धीरे-धीरे टूट जाती है ।'उड़ान' की माया पुरुष की प्रवृत्ति से संघर्ष कर 'असहाय' और 'दासी' की तरह न रहकर अपने मार्ग को स्वयं निश्चित करने चलती है । ऐसे मार्ग को जो अन्तर्विरोधों,विकारों और

पतनसे अलग हो । यही नारी 'भंवर' में प्रतिमा के रूप में अपनी स्वतन्त्रता के परिणाम स्वरूप जीवन संघर्ष को भोगती है । वह अनायास ही अपने जीवन में ऐसी दुरूहता, उलझन और बौद्धिकता को भर लेती है कि औरों के लिए नहीं, स्वयं अपने लिए उसका व्यक्तित्व एक प्रश्नचिन्ह-सा बन जाता है । इस तरह इन भिन्न नाटकों में नारी के द्वन्द्व को अश्क जी ने अनुभूति की सूक्ष्मता के साथ नाटकीय प्रारूप दिया । उनके सामने यदि एक प्रश्न है कि नारी को मुक्त किया जाय तो दूसरा प्रश्न इस मुक्ति के सन्दर्भ में प्रस्तुत हो जाता है कि आखिर इसकी दिशा क्या हो । मार्ग निर्माण के लिए तो वह चल सकती है, पर इस निर्माण में उसका भविष्य सुखद ही होगा, यह नहीं कहा जा सकता । नाटककार के पास कोई समाधान नहीं है । असफल प्रेम की कुंठा को लेकर वृन्दावनलाल वर्मा ने 'खिलौने की खोज' ('५०) नाटक दिया । सरूपा मानसिक रोग की शिकार होकर चिड़चिड़ी और रोगी हो जाती है । इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में नाटककार मनोबल को सबल बनाने का आदर्श रखता है विष्णु प्रभाकर मनोबल की बात से कुछ आगे बढ़कर पुरुष के तिरस्कार को चुनौती के रूप में लेकर नारी के संघर्ष को 'डाक्टर' ('५८) की नाटकीय परिकल्पना में संजोते हैं । मानसिक द्वन्द्व के माध्यम से पूर्ण नाटक का विकास कर वे कर्तव्य और प्रतिशोध में जलती डा० अनीला को कर्तव्य के सहारे विजय पाने का आदर्श देते हैं और इस तरह परित्यक्त मधुलक्ष्मी डाक्टर के रूप में, अपने ही पति की दूसरी पत्नी को जीवन दान देकर उस चुनौती का प्रत्युत्तर देती है । किन्तु लक्ष्मीनारायणलाल 'अंधा कुआं' ('५६) में त्यागमयी नारी के प्रति प्रताड़ना से उपजे क्रोध और क्षमा, विद्रोह और समझौते की द्वन्द्वात्मक स्थिति में उसके क्षमा शील और त्यागमय रूप को अपनाते हैं । डा० दशरथ ओझा ने इस नाटक को आधुनिक समाज की समस्याओं से प्रांत मानव की मानसिक दुविधा, अस्थिरता आदि के स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण की नवीन चेतना से प्रभावित[१] माना, किन्तु सूका अपने निश्चय में अपने मंगेतर के साथ भागती है, पकड़ायी जाकर घर वापिस लौटने पर आत्महत्या के लिए भी असफल

---

१ डा० दशरथ ओझा : 'हिन्दी नाटक उद्भव और विकास', पृ०४३२

प्रयास करती है । भगौती से बंधी वह उस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रहती है,जो उसके मंगेतर की कमजोरी के विरुद्ध थी । तीसरी बार भगौती से अपने प्रतिशोध को, अपनी सौत को उसके मंगेतर के साथ भगाकर पूरा कर लेती है । और अन्त में अपनी दुर्दशा के हेतु इन्दर से प्रतिशोध लेती है,पति के प्रति सहानुभूति दिखाकर और उसकी रक्षा में प्राण देकर । परम्परित दाम्पत्य जीवन पर अनास्था और नयी राह की खोज के द्वन्द्व को लक्ष्मीनारायणलाल मादाकैक्टस(५६) के माध्यम से प्रतीकात्मक अर्थ में नाटकीय प्रारूप देते हैं । नारी उनके लिए पहेली भी है, स्ट्रिंडबर्ग के नारी विचार की प्रतीक भी, पर फिर भी निरीह और बेचारी । वे दाम्पत्य जीवन के परम्परित रूप से विरोध करते हुए नारी पुरुष को मित्र रूप में जीवनयापन करने का सुगम सुझाव देते हैं और अपने सुझाव को खण्डित भी करते हैं । सम्भवत: वे जिस मैत्रीय सम्बन्ध की कल्पना करके चलते हैं,बाद में उसे अस्वाभाविक और सारहीन मानकर उसपर अनास्था भी व्यक्त करते हैं । इस रूप में नाटककार का अपना द्वन्द्व, जो दाम्पत्य जीवन को मैत्री रूप में स्थापित करने की स्थिति पर आस्था-अनास्था का है, भी अभिव्यक्त होता है ।

इन सभी नाटकों के माध्यम से युग संघर्ष के साथ नाटककार के तीव्र होते संघर्ष को भी नाटकीय अभिव्यक्ति मिली है,क्योंकि स्वयं किसी निश्चय के अभाव में वह ब भिन्न नाटकों में भिन्न प्रकार से एक ही प्रश्न को उठाता है ।

इस युग में आकर नाटककार इन प्रश्नों को भी उठाता है,जो दो-दो महायुद्धों के बाद उठे थे । उन युद्धों की विभीषिका ने यूरोप को नया चिन्तन और नया बोध दिया था और अपनी नृशंस विध्वंस लीला के बाद व्यक्ति को निराशा और अनास्था का बोध देकर युग चेतना में निराशा और अविश्वास के रूप में व्याप्त हो गया था । धर्मवीर भारती ने युद्ध सभ्यता के काल में उत्पन्न वाह्य और आन्तरिक मानवीय संकटों की अनुगूंज को 'अंधायुग' (५६) के नाटकीय आयोजन का आधार बनाया । व्यक्ति इन युद्धों के परिणाम देख सोचता आया है कि आखिर युद्ध क्यों? और इन युद्धों की उपलब्धि क्या है ? इस प्रश्न के लिए वह महाभारत की ओर उन्मुख होता है । महाभारत के ऐतिहासिक सन्दर्भ में युग के व्यापक विघटन की आहों का- मानवीय सत्य तथा ह्रासोन्मुख व नैतिक मानदण्डों का अत्यन्त सूक्ष्म

प्र तुलीकरण है । किन्तु समाज की कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अंधापन, सत्य की इन दुर्लभताओं और विनाशात्मक स्थितियों से संसार के मृत होने की कामना वह नहीं करता, अपितु जीवन के इन व्यापक सत्यों में से किसी उदीयमान मर्यादा को स्थापित करता है । जीवन के संघर्ष और उससे सर्जन के सत्य की उदात्त अनुभूति को अभिव्यंजित करता है । 'युद्ध क्यों' उत्तर मिलता है 'शान्ति के लिए ।' लेकिन फिर युद्ध होते हैं, महायुद्ध होते हैं, युद्धों की शृंखला कभी टूटती नहीं । प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, और फिर शीघ्र ही विश्वशांति एवं मानवीयअधिकारों के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ । वह भी समाप्त हुआ और फिर नये-नये विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण होने लगा है.... लगता है जैसे शान्ति के नाम पर फिर महायुद्ध होगा, लेकिन क्या तृतीय विश्वयुद्ध के बाद संसार में शान्ति स्थापित हो जायेगी ?..... आखिर युद्ध होते ही क्यों हैं? उनका समाधान क्या है ?.... "सृष्टि की सांझ" (५४) में डा० शिवनाथ कुमार ने इन प्रश्नों की अभिव्यक्ति दी । प्रत्येक युद्ध के बाद व्यक्ति कामना और आशा करता है कि और युद्ध नहीं होंगे अब पर उसका मिथ्याभिमान दूर हो जाता है । इस आरोह-अवरोही स्थिति के अन्त में एक बार पुनः नाटककार आशामय आयाम की कल्पना करता है । पन्त जी ने भी अणु बम के बाद नवीन मानवता के निर्माण संघर्ष को 'ध्वंस शेष' में नियोजित कर किया । उन्होंने बताया कि राजनीति और अर्थनीति की दुरभि संधि ही अणुयुग का कारण है और जब इसके विरुद्ध जनता उठेगी तभी 'ज्योतिर्मयी नवल आध्यात्मिकता नव चेतना' का उदय होगा । अध्यात्मवाद और आत्म ऐक्य से जगती में नवमानवता और विश्वमंगल का उदय होगा ।

अभी नाटककार युद्ध क्यों और शान्ति क्यों नहीं के प्रश्नों से ही जूझ रहा था कि छठें दशक के प्रारम्भ में ही दो-दो आक्रमणों की वीभत्सता के काले बादल मंडराये, बरसे और चले गए । चीन का सन् १९६२ में उत्तरी पूर्वी सीमाओं पर यकायक आक्रमण हमारी सोयी हुई निश्चिन्त चेतना को झकझोर गया, और सन् १९६५ में पश्चिमी सीमाओं पर पाकिस्तान के आक्रमण ने हमें अपनी क्रोधभरी हुंकार के साथ गरजने का

अवसर दिया । इस दशक में इन युद्धों की पृष्ठभूमि पर लिखे जाने वाले नाटक आक्रमण के कारणों या युद्ध काल की किन्हीं संवेदनाओं को प्रस्तुत करने के उद्देश्य को लेकर चले हैं । चीन के आक्रमण ने हमारी भावनाओं को गहरी ठेस पहुंचाई था । यह आक्रमण केवल सीमाओं तक ही सीमित नहीं था, पर चीन अपने झूठ, फ़रेब और जालसाजी से हमारे घरों में भी घुस आया और जहां चाहा मनमानी लूटकर, हत्या के नृशंस उदाहरण रखे । एक ओर जहां भारतीय जवानों के अद्भुत शौर्य और साहस की

कहानियां मैदानों तक आईं, वहीं दूसरी और ऊंची-नीची हिम-शृंखलाओं में बसे उन आदिवासियों का आश्चर्यजनक प्रतिरोध, अपनी बर्फीली घाटी की रक्षा के दृढ़ संकल्पों की अग्नि से प्रखर, देवदूतों जैसे आदिवासियों के शौर्य की कहानियां भी आयीं । सजग नाटककार अपनी संवेदना में विभिन्न अनुभूतियों की तीव्रता को पाले चीनियों की बर्बरता और भारतीयों की शूरवीरता के संघर्ष को प्रस्तुत करता है । इस संघर्ष के नाटकीय प्रस्तुतीकरण का सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक 'नेफा की एक शाम' (६३) माना जा सकता है । इसमें चीनियों की सशक्त तैयारी के साथ मुट्ठी भर इन आदिवासियों का संघर्ष प्रस्तुत है । माताई का यह दुहराना कि 'अभी तो शुरुआत है, शुरुआत' संघर्ष की संवेदना को तीव्र करता है । मनुष्य जब राष्ट्रीय हितों की वेदी पर अपनी व्यक्तिगत भावनाओं की बलि देता है, तो उसे घोर मानसिक और भावात्मक संघर्ष और उन्ताप की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है । युद्ध पृष्ठभूमि पर व्यक्ति के इसी मानसिक संघर्ष को रेवतीसरन शर्मा ने 'अपनी धरती' ('६३) नाटक में परिकल्पित किया । बेटे के लिए रोने वाली किसान की बेटी जब यह समझ पाती है कि दुश्मन हमारी धरती चाहता है, तो यही मां दृढ़कर होकर अपने दर्द को भुलाना चाहती है, क्योंकि 'धर्म कई होते हैं, एक आदमी को बेटे को लड़ाई पर भेजने का होता है, एक उसपर क्या बीत रही होगी, यह सोच-सोच के मोम और लाख की तरह गलने का होता है[१] ।' मां के संघर्ष की यह मनोव्यथा व्यापक आयाम में दूसरे नाटकों में प्रस्तुत हुई । शिवप्रसाद सिंह के नाटक 'घाटियां गूंजती हैं' ('६५) की नाटकीय परिकल्पना में व्यक्ति और समूह के मानसिक मनोमन्थन में संघर्ष

----

१ रेवतीसरन शर्मा : 'अपनी धरती', पृ०७४

की मूल शक्ति,जो अमानुषिक कृत्यों के प्रति अपनी अबाध प्रतिक्रिया में साकार हुआ करती है,का संयोजन ह । स्थूल सत्य घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्मा में उभरने वाले भावों और संवेगों को ही लक्ष्य में रखकर उनके संघर्ष का मनुलीकरण है । नाटक में सारा घटित अपने कुकृत्यों के साथ फैलकर,अदृश्य में ही,पात्रों के लिए संघर्ष का आयाम देता है । नाटककार यह प्रश्न उठाकर कि "... मनुष्य मनुष्य के साथ ऐसा खिलवाड़ कब तक करता जायेगा, क्या हम हमेशा पशुओं की तरह या उनसे भी गिरी हालत में,एक दूसरे के अस्तित्व को मिटाने के लिए ही लड़ते-भिड़ते रहेंगे ?"[१] एक चिरन्तन संघर्ष की ओर इंगित करता है, जिसका समाधान न युग के पास है न नाटककार के पास,सिवाय इसके कि धर्मवीर भारती की तरह वह इस संघर्ष और विनाश को रचनात्मक हेतु मान ले । भारत -पाक संघर्ष को आधार बनाकर ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'वतन की आबरू' (६५) में सशक्त नाट्यात्मक अनुभूतियों को प्रस्तुत किया । सच्चा युद्ध साहित्य स्वयं युद्ध की भावनाओं को नहीं उभारता ,वह जीवन के किन्हीं महत् आदर्शों की रक्षा के लिए किए गए द्वन्द्व का प्रतिरूप होता है,पर इसमें भी सन्देह नहीं कि उसमें आदर्श की स्थापना हो जाती है,क्योंकि युद्ध की कहानियाँ आदर्शों की कहानियाँ हुआ करती हैं । 'वतन की आबरू' में अग्निहोत्री ने एक और यदि साहित्यकार के इस समय के उत्तरदायित्व की बात प्रस्तुत की है तो वृहत् परिवेश में भारत-पाकिस्तान के इस युद्ध,सीमा,भूमि,जातीयता,धर्म सम्प्रदाय से इतर निश्चित मानव मूल्यों,नैतिकता और मानवता के प्रगतिशील इतिहास के दमन तथा रक्षा के युद्ध को भी प्रस्तुत किया है ।

प्रत्येक युद्ध किन्हीं मूल्यों का निर्माण करता है,परोक्ष या अपरोक्ष रूप से समाज पर अपना प्रभाव डालता है, जो यदि तत्काल दृष्टिगोचर नहीं होता तो कालक्रम में अनुभव किया जाता है । साठोत्तरी भूमि का स्पर्श कर आज समाप्ति की ओर अग्रसर यह एक दशक,अपनी विभिन्नताओं तथा प्रयोगों क में हिन्दी नाट्य साहित्य का विशिष्ट दशक माना जा सकता है । इस दशक के नाटक साहित्यिक होने के साथ

---

१ शिवप्रसाद सिंह : 'घाटियाँ गूँजती हैं',पृ०१२५

साथ ही रंगमंचीय होने के संघर्ष को वहन करते हैं । अभिव्यक्ति में युग-संवेदना की गहरी पकड़ और अभिव्यंजना में नये आयामों की खोज का दोहरा संघर्ष प्रस्तुत होता है । जीवन की जिन समस्याओं को सुलझाने के लिए निरन्तर प्रयास होते रहे, वही इस दशक तक आते-आते और भी जटिल हो गये । देश की राजनीति में अनास्था, भय, भूख और दिशाहीनता का अदृश्य कोहरा धीरे-धीरे जीवन को निगलता जा रहा है, और जीवन एक दुखान्त नाटक बनकर रह गया है । आज़ादी तो मिली थी, पर इस दशक तक आते-आते सुखद भविष्य की कल्पना का मोहभंग हो जाता है । अंग्रेजों के चले जाने के इतने वर्षों के बाद भी उनकी शासन-पद्धति, अत्याचार, बर्बरता स्वार्थ, भौतिकतावाद या पश्चिम के दूसरे संस्कार उनकी धरोहर के रूप में हमसे चिपके रहते हैं और उन्हें उतार फेंकना हम अपमान समझते हैं, स्वयं को उनसे अलग सोचने में निर्वसन होने की लज्जा से आतंकित हो उठते हैं । अपने शुभ और सुन्दर को हमने उनके भोग और ऐश्वर्य प्रियता में समाप्त हो जाने दिया । अंग्रेजों ने जातिगत, धर्मगत भिन्नता का जो बीज बोया था, वह साम्प्रदायिक रोग बनकर हमारी नींव को खोखला कर रहा है । एकता के बदले स्वतन्त्रता के बाद देश प्रान्तीयता, जातिवाद, साम्प्रदायिक, अराष्ट्रीयता के तत्वों से घिर गया है । देश के नवाबों, राजाओं के चंगुल से छुड़ाकर एक राष्ट्र के लिए सरदार पटेल ने जो संघर्ष कियाथा, आज वह छोटे-छोटे प्रान्तों में बंटा अट्टहास कर रहा है । राष्ट्र की चेतना जाति, प्रान्तों, भाषा में बिखर गई है । उसे पुन: एक संगठन के नीचे लाने की छटपटाती अनुभूति का नाटकीय आयोजन लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्त कमल' ('६२) में अयथार्थवादी रंगशैली में प्रस्तुत किया । नाटक के भीतर नाटक की कल्पना और उस भीतरी नाटक के लिए जो 'टूटे फूटे दीमक के खाये खानों का, धूल भरे, गन्दे कागज-पत्रों में लिपटा ... रीढ़ झुकाए अस्तव्यस्त कूड़ा कचरा' देश है, उस को, वाणी[1] देने के लिए वह अयथार्थवादी नाटकीय माध्यम अपनाता है । सारे संघर्ष की प्रतिक्रिया में वह आज के नवयुवक को कापालिक और अगस्त्य के रूप में देखना चाह कर मृतप्राय देश को जाग्रत करने, स्वार्थ, द्रोह, विश्वासघात, विघटन और मूल्यहीनता के क्षुब्ध, विषाक्त समुद्र को सोखने की कल्पना करता है । जिससे मनुष्य का विलुप्त प्रकाश उसकी समानता, एकता और गौरव वापिस मिल सके । इसी युगद्वन्द्व

---

१ लक्ष्मीनारायण लाल : 'रक्त कमल', पृ०४०

-राष्ट्रीय विघटन-को कृष्ण किशोर श्रीवास्तव ने 'गांव की दरारें' (६४) में, संयुक्त परिवार के विघटन के प्रतीक में प्रस्तुत किया । तीन भाई गांव के मकान का बंटवारा करते हैं और बंटवारे के बाद मां, जो भारत मां का प्रतीक है, के केन्द्रीय कमरे की चिन्ता नहीं करते । बरसात में दीवार धंस जाती है और मां दब मरती है । प्रसिद्ध रेडियो नाटककार चिरंजीत के 'अभिमन्यु चक्रव्यूह में' (६४) नाटक का प्रधान स्वर निजी स्वार्थपरता का सार्वजनिक सेवाओं पर हावी होने से उत्पन्न स्थिति को प्रस्तुत करता है । व्यक्तिगत स्वार्थ कैसे विस्तृत कर्तव्य दृष्टि को धुंधलाता है और वह दृष्टि अकेली होने के कारण अविश्वस्त मान ली जाती है । संघर्ष वहां उत्पन्न होता है, जहां वह अकेली दृष्टि एक नियुक्ति के सम्बन्ध में दृढ़ और निष्पक्ष है, किन्तु उसे डिगाने के लिए हर दिशा से पत्नी, मित्र, गुरु आदि की ओर से दबाव डाला जाता है, यहां तक कि जातीयता और प्रान्तीयता के आधार पर भी देश की राजनीति के परिप्रेक्ष्य में। 'शुतुर्मुर्ग' (६८) समय बोध और देशकाल से उपजे आक्रोश, हताशा और असन्तोष और तटस्थ सम-सामयिकता का व्यंग्यात्मक प्रस्तुतीकरण है । व्यवस्था और जनसाधारण की आकांक्षाओं के द्वन्द्व के बीच राजनीतिक हथकंडों के साथ सर्वहारा के शोषण को नाटकीय संघर्ष में उभारा गया है । सीमा संघर्ष के नाम पर आन्तरिक संघर्ष व और आर्थिक दुर्व्यवस्था को छिपाये रखने की शासन की नीति का उद्घाटन करता है, तथा देश की महत्वपूर्ण समस्याओं की खोज-बीन और उनकी नई व्यवस्था आज की स्थितियों पर व्यंग्य है । शुतुर्मुर्गीय प्रवृत्ति के आवरण में वह शासकों की स्वार्थनीति का उद्घाटन करता है, किन्तु यह नाटक अपने प्रतीक की स्तरीयता में केवल सम-सामयिक स्थिति का नाटकीय वर्णन ही करके रह जाता है । इसकी सामयिक तटस्थता का एक प्रमाण यह है कि कमलेश्वर के अनुसार दो बड़े शहरों में इसकी मंच प्रस्तुति ने दो विभिन्न व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं[१]।

----

१ "कलकत्ता में यह नाटक क्रान्ति का सूत्रपात करता है कि एक जाति समाज विद्रोह के कगार पर पहुंच गया है और वह विध्वंस होना चाहता है । सत्ता और राज्य भीतर से खोखले हो गये हैं और अब इन्हें सहन नहीं किया जाना चाहिए । बम्बई के प्रस्तुतीकरण ने दर्शक को दूसरा बोध दिया कि 'हमारे चारों ओर एक षड्यंत्र व्याप्त है । विभिन्न शक्तियां हम पर हावी हो रही हैं । सत्ता तथा राज्य कुछ अपने षड्यन्त्रों का शिकार है और कुछ अन्य शक्तियों के षड्यन्त्रों में जकड़ता जा रहा है । इससे निस्तार का रास्ता है-- परिवर्तन की क्रियात्मक आकांक्षा"।
--कमलेश्वर का लेख : 'तटस्थता और समसामयिकता' --'धर्मयुग' २६मई१९६८

'आधुनिक अन्योक्ति' के रूप में लिखित पौराणिक कथा के माध्यम से जगदीशचन्द्र माथुर ने आज की राष्ट्रीय समस्याओं को अपने भोगे हुए युग यथार्थ को, 'पहला राजा' ('६६) में अभिव्यक्त किया । नाटक के अन्त में 'पृष्ठभूमि' में अनेक युग प्रश्नों का जो विवरण प्रस्तुत किया है, उन्हीं की रचनात्मक स्थिति को नाटक में स्थापित करने का प्रयास वे करते हैं । ये मूलभूत प्रश्न--कर्म में उपलब्धि से अधिक उपचार खोजने वाली स्थिति, आदमी और प्रकृति के आपसी सम्बन्धों का संघर्षमय ड्रामा, समाज के विकास में वर्ण संकरता की देन, समुदाय और राजसत्ता के बीच सम्बन्धों की बुनियाद, महत्वाकांक्षी पुरुष में कर्म की स्फूर्ति और काम की लालसा का सहज अस्तित्व - नाटकीय परिकल्पना में एक साथ ही नियोजित करने का प्रयास उनका रहा । प्रतीक मर्मस्पर्शी न हो पाने के कारण और भाषा की असमर्थता में पात्र भी कठपुतली से लगते हैं । इस नाटक में माथुर जी ने शिल्प का अवश्य ही एक नया रूप प्रस्तुत किया है ,जिसमें लोक नाटकों की शैली पर नट-नटी का समावेश किया गया है, जो हर क्षण नाटक के नाटक होने का एहसास देते हैं । उस वक्त जब कि विश्व में नाट्यशिल्प के नये आयामों की खोज का संघर्ष तीव्र हो रहा है, माथुर जी का यह प्रयोग नई दिशा का संकेत कर महत्वपूर्ण कार्य करता है ।

देश,समाज जिन स्थितियों से गुजर रहा है,उसके परिप्रेक्ष्य में व्यक्ति चेतना की एक अलग धारा का प्रवाहित हो लेना अस्वाभाविक नहीं लगता । व्यक्ति स्वयं को पाने की अन्तर्गुहाओं में भटकता हुआ,स्वयं को तराशने की पीड़ा में जा रहा है । आज जीवन के चतुर्दिक उद्वेलन का सामना कर व्यक्ति और परिवार टूटते सम्बन्धों की अनुभूति का बोध देते हैं । सम्बन्धों के टूटने की प्रक्रिया तो कुछ नाटकों में तभी से झलक जाती है, जहां से समाज नारी को घर बाहर दोनों सीमाओं में समान रूप से देखने की कामना करता है और इससे आगे बढ़ आकर वैवाहिक जीवन की किसी घुटन से छुटकारा पाने के लिए 'मादा कैक्टस' के प्रतीक में किसी ऐसे जीवन की कामना करता है,जहां प्रेरणा हो, गति हो, अण्डरस्टैंडिंग और सिम्पैथी हो, मुक्ति हो, बंधन नहीं । आज जो स्थिति धीरे-धीरे व्यापक आयाम बना रही है,उसकी यह पूर्वपीठिका है । स्वयं में टूटना नहीं पर टूटने की प्रक्रिया का प्रारम्भ । आस्था-अनास्था,स्वीकार-अस्वीकार के बीच से उत्पन्न बाध्यता के परिणामस्वरूप,एक संशय

एक तनाव, एक दरार का एहसास होने लगता है । फिर भी वहां कुछ भ्रम बाकी रह जाते हैं,कुछ आस्थायें रह जाती हैं,जो टूटने नहीं देतीं, टूटते हुए भी किसी एक भावात्मक स्थिति की तलाश करती हैं ।

इस विघटन की ओर प्रवृत्त,दिशा-भ्रम की स्थिति में,व्यक्ति के प्रश्न हैं कि वह क्या है, क्यों है, किसलिए है, किसी एक स्थिति परिस्थिति में उसका क्या रोल है । मानव जीवन का सच्चा स्वामी कौन है, मनुष्य स्वयं या धर्म या ईश्वर लक्ष्मीनारायण लाल ने जीवन की सार्थकता पाने के लिए व्यक्ति के इस द्वन्द्व की नाटकीय परिकल्पना 'दर्पण' ('६४) में की । अपने अस्तित्व की सार्थकता समझने के लिए व्यक्ति को सत्य की खोज करनी पड़ती है, ऐसे सत्य की खोज जिसमें आस्था रखी जा सके जो जीवन के प्रवाह के साथ बहकर ही सम्भव हो सकता है । कोई बना-बनाया धर्म या पूर्व निश्चित मार्ग उसे मुक्ति नहीं दे सकता । रूढ़ियों संस्कारों का दिया हुआ ज्ञान उसके काम नहीं आ सकता । पूर्वी के माध्यम से नाटककार व्यक्ति के इसी द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है । व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व ही उसे सर्जनशील कार्य की ओर प्रवृत्त करता है, यह सर्जन चाहे जिस भी क्षेत्र का हो । सर्जन की प्रक्रिया में नाटककार ऐसे ही द्वन्द्व की खोज किया करता है । आस्था-अनास्था का वह द्वन्द्व युग में व्यक्ति को शक्ति देता आया है, अपनी हताश स्थिति में आस्था को विस्तार देता आया है और स्वयं संघर्ष की अदम्य पीड़ा सहकर संयमित हो उठता है । मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' ('५८) का नाटकीय आधार है ।कालिदास मल्लिका,विलोम तीनों क्रमश: इस संघर्ष प्रक्रिया और विस्तार के प्रतीक हैं । कालिदास का ही द्वन्द्व उनके दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' ('६३) में नन्द के माध्यम से नया रूप लेता है । भोग और मुक्ति के द्वन्द्व को व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में भोगता है,किन्तु उचित -अनुचित का निर्णय नाटककार स्वयं नहीं कर पाता है[1] ।और तब वह सामाजिक यथार्थभूमि पर उतर आता है,जहां समाज का विघटन व्यक्ति के आन्तरिक विघटन में परिवर्तित हो चुका है । मन का अधूरापन जो कहीं,किसी दशा में पूरा नहीं हो पाता और उसमें उलझा व्यक्ति न तो सर्जन कर पाता है, क्योंकि वहां आस्था नहीं है, न ही वैराग्य ले पाता है,क्योंकि मोह भंग होने की ि

---

१ [illegible] '[illegible]' २८ [illegible] १९६८ ।

भी साथ बने रहने का मोह बाकी है । 'आधे-अधूरे' (६९) व्यक्ति के इसी संघर्ष को मध्यवर्गीय टूटते परिवारों की [illegible]त्मक चेतना से अभिव्यक्ति देता है । नाटककार जीवन के उस संघर्ष की गहरी अनुभूति की अभिव्यंजना करता है जो आज व्यक्ति का संघर्ष नहीं, समूह का है । एक जाति -- नर और मादा -- का प्रतिबिम्ब है । जिन्दगी की इस भयंकरता में अतिरंजना भले ही लगे पर इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, जो आज महानगरों का मध्यवर्ती परिवार झेल रहा है । मां-बाप की कलहपूर्ण ज़िन्दगी, उसमें विपथगामी होते बच्चे, अनिश्चय की स्थिति में आक्रोश और घृणा को अपने साथ लिए जा रहे हैं । पारिवारिक जीवन के इसी सन्दर्भ में मन्नू भंडारी ने 'बिना दीवारों के घर' (६५) नाटक लिखा । आज के मध्यवर्गीय भारतीय परिवारों के घरों की दीवारों की झुलसी आत्मा को उन्होंने देखा और नये जमाने से इन टूटते सम्बन्धों को बनाये रखने की मांग की है । स्त्री-पुरुष के पारिवारिक सम्बन्धों के परिवर्तित समाज में नये सन्तुलन की मांग शान्ति मेहरोत्रा 'एक और दिन' (६८) में करती हैं । नाटकीय संघर्ष की घनीभूत अभिव्यंजना इस कथन में होती है--"पापा है, तुम्हारे और हमारे बीच है कोई ऐसा तार जो एक साथ झनझनाता हो ।" जो एक उद्वेलनमय प्रश्न बनकर एक और दिन के बीत जाने की विवशता बनकर रह जाता है । कोई अब आदर्श इस नीरस जीवन को जीने का, क्या 'घुट घुट कर मर जाने का है ? लाश की तरह ठंडे हो जाने ?' का है, कोई विकल्प लेखिका नहीं देती ।

युग-संवेदना के तीक्ष्ण बोध और स्थिति की सूक्ष्म अनुभूति से उपजा इधर का नाटक आन्तरिक यथार्थ की खोज का नाटक है । परम्परा से अपने को काटकर चलने की स्थिति है, जिसमें भावनात्मक या भावुकता या आस्थाओं के प्रति आग्रह, अनाग्रह अथवा व्यंजना के प्रति सम्पृक्तता का भाव नहीं है, अपितु अनुभव का, जो कल्पना-सनेस जनित नहीं है, यथार्थ का है, जो एक ईकाई है खंड-खंड नहीं, का रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुतीकरण है । यह नाटक 'आधुनिक' या नया तो है और परम्परा से विलग भी, किन्तु पश्चिमी एबसर्ड रंगमंच का समानुपातक नहीं । वह नाटक जीवन

---

१ 'नटरंग' वर्ष १, अंक २ में प्रकाशित

की विध्वंस लीला ,विघटन से उदित संत्रास,कुंठा,भय,अजनबीपन आदि शब्दों का अर्थापत्ति में व्यंजित होकर एक ऐसा जीवन-दर्शन है,जिसने व्यक्ति की स्थिति पर अनास्था प्रकट करते हुए भी किसी भविष्य-सुखद भविष्य-- के लिए उसे संघर्ष रत माना है । महायुद्धों की पृष्ठभूमि से उपजी घोर निराशा और क्रियाहीनता की दशा में अपनी अनुभूति को ऐसे माध्यम से व्यंजित करना जो ऊलजलूल होते हुए भी गहन,गंभीर और सूक्ष्म स्थितियों से व्यक्ति-संघर्ष का उद्घाटन करती हो, की विशेषता रही। इस रंगमंच को देखा जाय तो एबसर्ड रंगमंच का दर्शन अस्तित्ववाद के विरोध की उपज है । एबसर्ड रंगमंच से प्रभावित(?) किन्तु उससे भिन्न यह नाटक माध्यम पर अधिकाधिक निर्भर करते हुए युग यथार्थ की नितान्त आन्तरिकता की पहचान का नाटक है । आन्तरिकता की अभिव्यंजना की कशमकश है । विपिन अग्रवाल यह मानकर चले हैं कि" आज के अनुभव की जटिलता अगर ऐसी है कि उसे सुलझा कर अलग-अलग नहीं रखा जा सकता तो साधारण भाषा उसे अभिव्यक्ति देने में असफल होने लगी"[1] इसी कारण इस साधारण भाषा में वो हरकत की एक भाषा, जो लचीली है किसी एक इशारे में तनिक मोड़ से कई अर्थ व्यंजित करने लगती है और इसलिए नाटक के क्षेत्र में ऐसे घने गुथे अनुभवों को व्यक्त करने की क्षमता प्रदान कर सकती है"[2] को महत्वपूर्ण मानकर चलते हैं । भाषा के इस नये रूप में,हरकत और संवादों से अधिक महत्वपूर्ण , दो कथनों के बीच का अन्तराल है जो कार्य व्यापार की महत्ता पर बल देता है । जिससे संघर्ष नितान्त भीतरी होकर नाटककार का होकर नाटक में तनाव को बनाये रखता है । भुवनेश्वर के 'कारवाँ' और कुछ इधर-उधर प्रकाशित नाटकों से इस नाट्य-परम्परा का आरम्भ माना जा सकता है । यद्यपि भुवनेश्वर और विपिन के नाटकों में मूलभूत अन्तर यह है कि भुवनेश्वर के नाटक अव्यवस्था से उपजे अव्यवस्था के नाटक हैं, जब कि विपिन के नाटकों में सामाजिक विसंगति का एक क्रमिक प्रस्तुतीकरण है । एक के नाटकों में सारे कैऑस को नाटकीय रूप देने का प्रयास है,दूसरे के नाटकों में विसंगत स्थितियों को रचनात्मक भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति देने का प्रयास है ।

१,२ विपिन अग्रवाल 'तीन अपाहिज',पृ०२१८-२२०
विपिन के ग्यारह नाटकों का संग्रह 'तीन अपाहिज' ६६ में प्रकाशित हुआ है।

जिन्दगी है तनावों और घात-प्रतिघातों का अनर्थकता के बीच चित्रण विपिन के नाटकों में है 'तीन अपाहिज' में मानसिक बेकारी और पुराने मूल्यों को अपने निजी स्वार्थ के लिए अपनाने की वृत्ति पर कटाक्ष व्यंग्य है तो 'ऊंची-नीची टांग का जांघिया' राजनीतिक विषमता का व्यंग्यात्मक चित्र है । 'यह पूरा नाटक एक शब्द है' में 'मनुष्य के निजत्व की खोज' के प्रस्तुतीकरण का प्रयास है । 'एक स्थिति' में एक और पिछड़े हुए देश के प्रजातंत्र में सही अर्थों में शिक्षित व्यक्ति की हास्यास्पद स्थिति प्रस्तुत की गई है । तो दूसरी ओर पढ़े-लिखे, अधपढ़े और अनपढ़ के बीच आदान-प्रदान कर सकने वाली भाषा और उसकी असमर्थता को अभिव्यक्ति मिली है । 'अदृश्य व्यक्ति की हत्या' में देश की आन्तरिक स्थिति का उद्घाटन है, इसी तरह शेष नाटकों के माध्यम से उन स्थितियों को प्रस्तुत किया गया है जो युग के यथार्थ-बोध के आन्तरिक सत्यों को सामने लाता है । पारस्परिक सम्बन्ध सूत्रों का पुन: अन्वेषण और देश की विषमता को सत्य रूप में प्रस्तुत करने के संघर्ष में इन नाटकों की प्राणवत्ता निहित है । इसी आन्तरिकता की खोज में शम्भुनाथ सिंह ने 'दीवार की वापसी'[१] नाटक लिखा । वर्तमान युग में व्यक्ति अपनी आंख पर पट्टी बांधे हुए अपने जीवन की सबसे बड़ी हार को भोग जाता है, और उसे इसका एहसास भी नहीं होता । अन्तश्चेतना के क्षणों में जब यह भ्रम अनावरण होता है तो वह सभी पारस्परिक सम्बन्धों को पुन: जांचता-परखता है और तब जीवन की निस्संगता में अनुभव करता है कि सब-के-सब एक मुखौटा पहने हुए चल रहे हैं, जिसे वह पुन: भ्रमित समाधानों में विस्मृत कर देता है । युग-बोध के आन्तरिक यथार्थ को अपनी सूक्ष्म संवेदना के साथ राजकमल चौधरी ने 'भग्नस्तूप का एक अज्ञात स्तंभ' नाटक में अभिव्यंजना दी है, उन्हीं के अनुसार 'नाटक के अधिकांश पात्र नेपथ्य में जीते हैं और रंगमंच पर आते-आते मर मिट जाते हैं और बाकी पात्र रंगमंच पर जीते हुए भी नेपथ्य में ही अपनी रात अपनी नींद गुजारते हैं । पोशाक बदलने के लिए, कभी राजाओं और कभी बन्दरों का मुखड़ा

----

१ 'कल्पना' में प्रकाशित अब डा० सत्यव्रत सिन्हा द्वारा 'नटरंग' (७०) में संकलित ।

पहनने के लिए कभी भूले हुए अपने संवाद याद करने के लिए, नेपथ्य का उपयोग करते हैं।[1] और यही वह नेपथ्य है जो उन्हें नाट्य-रचना के लिए बाध्य करता है, नेपथ्य अर्थात् आन्तरिकता जो देश की है, व्यक्ति की है और युग की है। लक्ष्मीकान्त वर्मा का 'अपना-अपना जूता' युग यथार्थ के व्यापक आयाम पर नाटककार के तीव्र आक्रोश का चित्रण है। उसका प्रस्तुतीकरण भुवनेश्वर के नाटकों के निकट है।

स्वतन्त्रता के बाद देश में जो व्यापक रूप से सांस्कृतिक और कलात्मक पुनरुत्थान तथा नवजागरण की लहर आयी उसने रंगमंच को विशेष रूप से प्रभावित किया। भारतीय रंगमंच ने पिछले दो दशकों में लम्बी यात्रा का एक आयाम तय किया है, जिसमें रंगकर्मियों के सम्मिलित प्रयास से भारतीय रंगमंच अपनी एकता और समग्रता में, व्यक्तित्व की खोज, नाट्य लेखन तथा प्रदर्शन के विशिष्ट रूपों, शैलियों के अन्वेषण में संघर्षरत है। नाट्य लेखक नाटक को प्राचीन परम्पराओं के सारयुक्त तत्वों, कला मूल्यों और व्यवहारों को, रंगमंच के क्षेत्र में किये जाने वाले रचनात्मक कार्य के साथ सम्पृक्त करने में संघर्षशील है। किसी भी नवजागरण काल में सर्जनात्मक स्तर पर कलाकार अतीत के कलात्मक स्वरूप को नई दृष्टियों से देखता और सम-सामयिकता को नये संघर्षों के साथ जोड़ता है। इसी तरह परम्परा नया संस्कार पाती है और नये भाव-बोध से सम्पृक्त कुछ नवीन देती है। यह एक दशक विशेष रूप से साधारण रूप में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही से, रंगमंच के लिए अपने व्यक्तित्व की पहचान और एक विशिष्ट शैली की खोज का काल है। नेमिचन्द्र जैन ने नाटककारों को सम्बोधित करते हुए सन् १९६३ में एक पत्र लिखा था (अब 'ज्ञानोदय' विशेषांक ७० में संकलित है) कि हमें अभिनेय नाटक दो। सत्यदेव दुबे का ऐसा ही क्षोभ एक दूसरे पत्र में (धर्मयुग, ८ फरवरी ७० में प्रकाशित) प्रकट हुआ था कि हमारी रंगमंचीय प्रतिभा नष्ट हो रही है। सम्भवतः इन शिकायतों को दूर करने में आज का नाटककार प्रयत्नशील है।

----

१ 'नटरंग', पृ० २००

साहित्यिक रंगमंच के लिए यह आवश्यक है कि नाटक साहित्यिक विशेषताओं के साथ रंगमंचीय कार्य-व्यापार,घात-प्रतिघात,संघर्ष और नाटकीयता को लेकर चले । हिन्दी रंगमंच का नाटककार इस सत्य के प्रति सजग है और उसकी सजगता ही भविष्य की आशाएं देता है । भावाभिव्यक्ति के अनुरूप स्वाभाविक तथा उपयुक्त रंगशैली की खोज की कशमकश में जो शिल्प सामने आता है, वह नि:सन्देह नाट्य साहित्य की उपलब्धि है । नाटककार एक ओर तो आधुनिकता के सच्चे और तीव्र बोध के उपयुक्त शैली की खोज करता है तथा दूसरी ओर परम्परा के प्रति जागरूक है । आस्था और अन्वेषण के दोहरे स्तर पर वह रचनात्मक संघर्ष को अनुभव कर रहा है । इसी संघर्ष में उसने कथावस्तु के संगठन,कार्य व्यापार के घात-प्रतिघात, चरित्र-विश्लेषण के माध्यम से जीवन-संघर्ष की तीव्र अनुभूति, सम्यक् और चुस्त भाषा-प्रयोग,संकलनत्रय आदि का समुचित निर्वाह किया है,तो तीन अंकों,रंग निर्देश, कम पात्रों आदि बातों का भी ध्यान रखा है । शिल्पगत विशेषताओं के साथ परम्परा के नये प्रयोग कर नये अर्थों की स्थापना का महत्त्वपूर्ण कार्य भी उसने किया। इस दिशा में संस्कृत नाटकों का सूत्रधार और लोक शैली के नट-नटी का नवीनीकरण नये आयाम स्थापित करता है । 'मादा कैक्टस' में यह सूत्रधार नाटकीय भाव के उद्घोषक के रूप में आता है तो 'आधे अधूरे' में अपनी और हम सब की स्थिति की अभिव्यंजना, अपने द्वन्द्व,नाटक की सम्भावना के द्वन्द्व के पूर्व निर्माण के रूप में आता है । 'शुतुरमुर्ग' में सूत्रधार कठपुतली नृत्य दिखाने वाले सूत्रधार की कल्पना के निकट है तथा 'पहला राजा' में सूत्रधार और नटी आद्यांत नाटकीय व्यापार में सक्रिय है, आलोचक और सूचक है । 'कोणार्क' में नाटककार एक विस्तृत कथासूत्र को अत्यन्त कुशलतापूर्वक उपक्रम, उपकथन तथा उपसंहार के वाचक,वाचिका के माध्यम से संजोता गया है जो लेखक के अनुसार 'संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना और पाश्चात्य नाटकों के 'प्रोलोग' और 'एपिलोग' एवं कोरस' की झलक लिए है[१] । तीव्र और अविच्छिन्न गतिमय नाटक प्रारम्भ होने से पूर्व दर्शकों की मानसिक पृष्ठभूमि तैयार करना, अंकों के बीच उन्हें कथा-प्रवाह और भाव प्रवाह से अवगत कराना और समाप्त होते ही उनकी उद्वेलित और विशृंखल मानसिक दशा को संकलित करने,दर्शकों

---

१ 'कोणार्क' : परिशिष्ट एक,पृ०८४

को [illegible] को क्रमश: चढ़ाव और उतार का मौका देने का लक्ष्य कर रखकर वह इनका प्रयोग करता है[1]। लगभग ऐसा ही प्रयोग, धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' में किया। मंगलाचरण, कथा-गायन तथा पूरे नाटक के बीच दो प्रहरियों के वार्तालाप से वातावरण को गहनता मिलती है। भाषा यहाँ तक आते-आते अत्यन्त सशक्त हो उठती है और 'तीन अपाहिज' तथा 'नवरंग' के कुछ नाटक भाषा की रचनात्मकता पर अवलम्बित हो जाते हैं। अपनी विशिष्टता में वे अंक विभाजन के बिना भी एक नाटक का बोध देते हैं, क्योंकि "अनुभव अपने-आप में पूर्ण है, और रचनाकार उसे केवल पुन: अपने सामने रख देता है। अत: पूर्ण में बंटवारा नहीं हो सकता.... नाटक को इसलिए भी नाटक कहा कि प्रेक्षक जीवंत दृश्य-रचना को नाटक कहता है[2]।" इसके अलावा नाट्य लेखन के प्रयोगात्मक रूप में अनेक नाट्य शैलियां विकसित हुईं, जिनके बारे में बताते हुए लक्ष्मीनारायण लाल ने 'रक्त कमल' की भूमिका में उनकी गिनती कराई[3] तथा 'रक्त कमल' को नाटक के भीतर नाटक के रूप में अयथार्थवादी नाट्य शैली में प्रस्तुत किया। जीवनगत यथार्थ की जटिलता के प्रस्तुतीकरण में सरल शिल्प के स्थान पर प्रतीकात्मक माध्यम को अपनाया गया। कुछ नाटकों में फ़िल्म तकनीक के प्रभाव में नाटकीय अन्विति के लिए फ़्लैश-बैक का प्रयोग हुआ।

उपसंहार

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक विशिष्ट युग में युगानुभूति में प्रस्तुत जटिल समस्याओं का स्थूल या सूक्ष्म प्रस्तुतीकरण नाटककारों ने आत्मदृष्टि के आधार पर किया। किन्तु प्राय: नाटककार इस रचनात्मक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में यह भूल गये कि नाटक का विचार तत्त्व केवल प्रस्तुति नहीं, निर्माण की भी अपेक्षा रखता है। बाह्य यथार्थ की अनुभूति नाटक में आत्मा के यथार्थ की, किसी गहरी निष्ठा या

----

१ 'कोणार्क' - परिशिष्ट एक, पृ०८४

२ डा० सत्यव्रत सिन्हा : 'नवरंग', भूमिका

३ लक्ष्मीनारायणलाल : 'रक्त कमल', भूमिका

आस्था की अभिव्यक्ति की अपेक्षा रखता है, सार्थकता और प्रामाणिकता के अभाव में अनुभूति और अभिव्यंजना कोई रचनात्मक सार्थकता नहीं दे पाता। अनुभूति और अभिव्यक्ति यदि केवल दर्शक को तल्लीन रख पाने और उसका मनोरंजन करवाने में ही अपने उद्देश्य की इतिश्री कर लेता है तो नाटक किसी कलात्मक अनुभूति देने के बदले मात्र मनोरंजन का साधन बन जाता है। अत: युग संवेदना को गहरे स्तर पर अनुभव कर नाटककार जब उसे प्रामाणिकता और सार्थकता की कसौटी पर कस कर नाट्य रूप देता है तो वहां नाटक वाह्य प्रभावों से प्रेरित किन्तु आन्तरिक आवश्यकता से उपजता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रसादोत्तर नाट्य साहित्य यथार्थवाद का नारा लगाते हुए भी अयथार्थ और काल्पनिक आवरण में आवृत है, उसमें पश्चिम के यथार्थ की तरह सारी वस्तु स्थिति स को निर्ममता और बौद्धिक जागरूकता से देखने की चाह नहीं है। इन सभी नाटककारों की अधिकांश रचनाएं साधारण रूप में नाटक तो मानी जा सकती है, पर इनमें से कुछ ऐसी हैं, जो नाट्य नहीं और कुछ ऐसी हैं जो नाट्य हैं, पर उनमें अभिव्यक्त अनुभूति छिछली, सतही अथवा अप्रामाणिक और मिथ्या भावुकता से आक्रान्त लगती है। फलस्वरूप रंगमंच पर प्रस्तुत होने की पूर्व पीठिका में ही वे अपनी नाट्यात्मकता खो देती हैं। कुछ नाटकों में नाटककार ईमानदारी से प्र उस आन्तरिकता को, अनुभूति की यथार्थता को निर्ममता से प्रस्तुत करने का प्रयास करता है पर ऐसे नाटक कितने हैं, यह आगे देखना होगा।

युग संवेदना के परिप्रेक्ष्य में अपनी दृष्टि को अत्यन्त सीमित कर नहीं चला जा सकता है, क्योंकि एक नाटक जो अपने में असफल है, भी एक-दूसरे नाटक के लिए किसी-न-किसी आधार का, ऐतिहासिक या कलात्मक, निर्माण करता है। अन्तिम यह एक दशक अवश्य ही साहित्यिक और रचनात्मक नाटक प्रस्तुत करने में प्रयत्नशील रहा है। नाट्य संरचना के मूल में संघर्ष और नाटकीय तनाव को महत्त्व देकर चलने में व्यस्त है। और इस प्रयास में ही सकता है, कई स्तर या दृष्टिकोण पनपने लगे। आज रंगमंच भी अपनी समस्त कमियों और संघर्षों के बावजूद धीरे-धीरे लोकप्रिय हो रहा है। रंगमंच की लोकप्रियता रंगमंच प्रेमियों को नस्टकर्ने नई आशा देती है, न केवल रंगमंचीय नाटकों की, पर साहित्यिक नाटकों के पनपने की आशा भी, जो हिन्दी नाट्य साहित्य के लिए शुभारम्भ है।

चतुर्थ परिच्छेद : वस्तु निर्माण

संघर्ष के सन्दर्भ में वस्तु-निर्माण--सार्थक घटना-विन्यास

घटना-विन्यास के अनिवार्य तत्व

- नाटकीयता
- कारण-कार्य सम्बन्ध
- संयोजन में एकसूत्रता
- मुख्य और गौण घटनाएं
- पूर्ण विन्यास में नाटकीय भावना

वस्तु निर्माण के आयाम

- कार्य प्रधान
- समस्या प्रधान
- चरित्र प्रधान
- वातावरण प्रधान
- मिश्रित

उपसंहार

"अत्यन्त ध्यानपूर्वक देखने पर नाटक में कथावस्तु स्वयं में अत्यन्त दुर्ग्राह्य तत्त्व है, क्योंकि इसे पृथक् करना, वियुक्त देखना अत्यन्त कठिन है । यद्यपि अपने व्यापक अर्थ में यह सर्वाधिक विशिष्ट और अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है ।"

स्टार्क यंग के 'द थियेटर' से

चतुर्थ परिच्छेद

-o-

वस्तु निर्माण

संघर्ष के सन्दर्भ में वस्तु-निर्माण : सार्थक घटना-विन्यास

युग संवेदना के सन्दर्भ में हमने देखा कि नाटककार युग की अपनी अनुभूति की अन्तश्चेतना को व्यक्त करता है । यह प्रस्तुतीकरण [illegible] नहीं रहता है, पर कोई भी स्थिति, घटना या भावदशा सम्पूर्ण विकसित रूप में नाटककार की टिप्पणी रहती है । लेखक किसी-न-किसी स्तर पर जीवन से अपने उलझाव को प्रकट करता है । इसी कारण जो नाटककार जीवनगत या समाजगत सम्बन्धों और समस्याओं से गहरे स्तर पर साक्षात्कार करता है, वहाँ अपने नाटकों में भी उसी स्तर की गहराई, सघनता और अन्विति ला पाता है । नाटककार का यह भाव, प्रारम्भ, विकास तथा अन्त में विकसित होकर नाटकीय रचना को सम्भव बनाता है । कोई भी विचार या तथ्य स्वयं में न तो नाटकीय हो सकता है और न ही गत्यात्मक, उसे नाटकीय भावना और गतिशीलता स्थितियों और घटनाओं के माध्यम से मिलती है । नाटकीय वस्तु कथा के उस अर्थ से भिन्न होती है जो कहानी के पर्याय में व्यवहृत होता है । कथा एक उपाख्यान को उसके समस्त उपकरणों सहित प्रस्तुत करती है, किन्तु नाटकीय वस्तु उस उपाख्यान की विशिष्ट प्रभावोत्पादक स्थितियों का प्रस्तुतीकरण है । दूसरे शब्दों में नाटकीय वस्तु चयन की गई स्थितियों, घटनाओं का क्रमबद्ध बुद्धिगत संयोजन है[१] । स्थितियों का ऐसा संयोजन है, जो किसी सत्य का उद्घाटन करें, जिसके

---

१ जॉन गॉसनर के अनुसार 'नाटक स्थितियों का क्रमबद्ध प्रस्तुतीकरण है । जिसमें पात्र स्वयं को, अपने साथ घटित को, अपनी क्रियाशीलता या अक्रियाशीलता के माध्यम से व्याख्यायित करते हैं।' --प्रोड्यूसिङ्ग द प्ले' पृ० १३

माध्यम से कथा से सम्बद्ध पात्रों की अनुभूति के स्तर इस प्रकार खुलते जायें कि वे स्वयं तथा दर्शक भी अपने सच्चे स्वरूप की उपलब्धि करें। स्थितियों से तात्पर्य उलझाव के क्षणों से है, जो गॉसनर के अनुसार तब सम्भव होते हैं, जब दो या अधिक पात्र एक-दूसरे से उलझे हों, या कोई भी पात्र किसी बाह्य शक्ति से उलझा हो, अथवा पात्र के व्यक्तित्व का ही एक पक्ष दूसरे पक्ष से उलझा हो।[1] अर्थात् कोई भी ऐसा क्षण जिसमें दो विरोधी तत्व अपने पक्षों की रक्षा में क्रियाशील हों, किसी नाटकीय स्थिति को जन्म देते हैं। आसन्न परिवर्तनशीलता के क्षणों में स्थितियाँ तीव्र कार्यशीलता का कारण बनती हैं। इनके पूर्वापर सम्बन्ध से उत्पन्न एकसूत्रता में पाठक तथा प्रेक्षक की रुचि केन्द्रित रहती है, और वह जो अनुभूति ग्रहण करता है, वह स्थूल रूप से इस विन्यास के कारण ही सम्भव हो पाती है। अपने निकट सम्बन्ध में यह घटनाविन्यास नाटक की भाव-वस्तु को समुचित विस्तार देकर उसके लक्ष्य तक ले जाता है। नाटक का कार्य व्यापार भी मूलत: इस निर्माण पर अवलम्बित हो जाता है। पात्रों की रंगमंच पर सक्रियता के लिए भी यह आवश्यक होगा कि नाटक में प्रस्तुत घटनाएं किसी विरोध, तनाव या संघर्ष को व्यक्त करती हों; विरोध, तनाव और संघर्ष के आरोह- अवरोह में डूबते-उतरते पात्र गौण या मुख्य कर्मण्यता का परिचय देते हैं।[2]

इस तरह वस्तु-निर्माण में नाटककार को अत्यन्त कुशलता तथा बुद्धिमत्ता से नाटक के मूल विचार या कथ्य को नाटकीय वस्तु में परिवर्तन के लिए स्थितियों तथा घटनाओं का संयोजन करना होता है। एक ओर यह संयोजन पात्रों की सक्रियता और नाटकीय कार्य व्यापार को प्रभावित करता है और दूसरी ओर पाठक तथा प्रेक्षक की रुचि को केन्द्रित करता है। नाटकीय वस्तु वह घटना-विन्यास है, जिसपर पूर्ण नाटक का

---

१ जॉन गॉसनर : 'प्रॅड्यूसइन्ग द प्ले', पृ० १३-१४

२ 'नाटक स्थितियों की श्रेष्ठता पर निर्भर करता है ... यदि स्थिति किसी महत्ता को लक्ष्य नहीं करती, या लक्ष्य को प्रकट करने की क्षमता नहीं रखती तो वह नाटक के लिए अनुपयोगी सिद्ध होगी।'

फिलन्थब्रुक्स तथा राबर्ट हेलमैन : 'अॅनडरस्टैन्डइन्ग ड्रामा', पृ० २८

निर्माण होता है । दूसरे शब्दों में, नाटकीय वस्तु क्रमानुगत नाटकीय परिवर्तन है, जिसमें गौण और मुख्य स्थितियाँ और चरम बिन्दुओं, आघातों और रहस्योद्घाटनों का पूर्वापर सम्बन्ध में विस्तृत तथा क्रमानुगत गुम्फन रहता है । इस दृष्टि से वस्तु कहानी नहीं, स्थितियों, आघातों तथा घटनाओं का क्रमश: विकास है।[१] 'नाटककार का यह कर्तव्य है कि वह उनका निर्माण करे, नई कहानी का आविष्कार नहीं, किन्तु उनका नवीनीकरण करे, प्रगति के साधनों, चरित्र-चित्रण तथा रहस्योद्घाटन के द्वारा ।'

घटना-विन्यास के अनिवार्य तत्व

नाटकीयता — वस्तु-निर्माण में केवल घटनाओं का संयोजन ही पर्याप्त नहीं है, अपितु घटनाओं का किन्हीं विशिष्टताओं से विभूषित होना अनिवार्य है । घटना-विन्यास की पहली आवश्यक शर्त घटनाओं के नाटकीय होने की है । अर्थात् वे तनाव, संघर्ष, संक्रान्ति, कौतूहल, नाटकीय व्यंग्य आदि शर्तों में से किसी एक या अनेक को पूरा करती हों, या उनका निर्माण करती हों । कोई भी घटना-विन्यास इन शर्तों को पूरा करने वाली स्थितियों के अभाव में न तो स्थायित्व पा सकता है और न ही आद्यन्त रुचि को बनाए रखने में समर्थ हो सकता है । रंगमंच पर विवाह, समझौता, द्वन्द्व, पराजय या मृत्यु आदि घटनाएं हमें आकर्षित तो करती हैं पर अपने प्रभाव में मात्र समाचार या शुष्क आंकड़े हैं । ये घटनाएं नाटकीय तब ही सकती हैं, जब एक बार ध्यानाकर्षण के बाद वे एक स्थिति से दूसरी स्थिति में विकसित होती दिखाई दें । क्रमश: परिवर्तनशीलता का अनुसरण करते हुए ही हम किसी घटना या स्थिति की नाटकीयता को अनुभव कर सकते हैं । 'अंधायुग' में अश्वत्थामा द्वारा ब्रह्मास्त्र के प्रयोग की घटना, उसके अन्तर्द्वन्द्व की क्रमश: भिन्न किन्तु तीव्र से तीव्रतर होती स्थितियों के अनुसरण से ही नाटकीय रूप लेती है । 'आषाढ़ का एक दिन' में कालिदास के उज्जयिनी चले जाने की घटना का अनुसरण उस नाटकीय स्थिति में विकसित होता है, जो गांव लौटे कालिदास को मल्लिका के द्वार से ही लौट जाने को विवश करती है । कालिदास का द्वार से लौट जाना जिस तनाव और संघर्ष

----

१ '.... यह कहानी है ... सटीक नाटकीय क्रमबद्धता में ।'

स्टार्क यंग : 'द थियेटर', पृ० ५४

को जन्म देता है वह तृतीय अंक में घनीभूत होकर नाटक की त्रासदी को व्यंजित करता है ।

कारण-कार्य संबंध / स्पष्ट है कि रंगमंचीय घटना एक तथ्य है और स्वरूप में नाटकीय ,नाटकीय रूप-विधान के लिए किन्हीं स्थितियों को 'प्रारम्भ,विकास तथा रुचिपूर्ण अन्त'[१] के क्रम में रखना अनिवार्य है ,किन्तु यह क्रम कारण-कार्य सम्बन्ध के कारण ही विश्वसनीयता तथा आंतरिक अन्विति प्रस्तुत कर सकता है । कारण-कार्य सम्बन्ध की उपेक्षा करने पर घटनाएं एकता का निर्माण नहीं कर पाएंगी तथा वस्तु-निर्माण में शिथिलता स्पष्ट दिखाई देगी । साधारणतया रंगमंच पर प्रदर्शित होने पर ये असम्बद्ध घटनाएं अपनी असम्बद्धता में और भी स्पष्ट हो उठती हैं[२] । लक्ष्मीनारायण मिश्र या सेठ गोविन्द-दास के कुछ नाटक इस प्रकार की असम्बद्धता के कारण ही घटनाओं का गुम्फन मात्र लगते हैं । कारण-कार्य सम्बन्ध का यह तात्पर्य नहीं है कि कोई एक घटना सीधे ही मुख्य घटना से सम्बन्धित हो[३] । घटना 'क' घटना 'ड०' तक सीधे पहुंचे,यह आवश्यक नहीं और साधारणतया नाटकीय भी नहीं । 'क' से 'ड०' के बीच 'ख','ग','घ' की स्थितियां तो क्रमशः एक-दूसरे से विकसित होती हैं या अपने में पूर्ण होते हुए नाटक की पूर्ण स्थिति से जुड़ी हुई,हल्के-हल्के विरामों में वस्तु का निर्माण करती हैं । इसी सन्दर्भ में यह कहना आवश्यक हो जाता है कि साधारणतया घटनाएं दो तरह की हो सकती हैं । एक तो ऐसी घटनाएं जो अप्रत्याशित परिवर्तन के कगार पर खड़ी होकर एक विस्फोट के रूप में वस्तु को नया मोड़ दे देती है और दूसरी किसी विस्फोटक परिवर्तन को प्रस्तुत करने की उपेक्षा अपनी समग्रता में नाटकीय भाववस्तु की गतिशीलता को प्रभावित करती है । दूसरे रूप में इन्हें महत्व और छोटी घटनाएं

---

१ जे०एल० स्तयान : 'द एलिमेन्ट्स आफ ड्रामा', पृ० ६५
विलियम आर्चर नाटकीय वस्तु-निर्माण में समानुपातक सन्तुलित विस्तार तथा प्रतिबद्धता को अत्यन्त आवश्यक मानता है ।
'प्ले मेकिन्ग', पृ०३६

२ जॉन गॉसनर : 'प्रॅड्यूसिन्ग द प्ले', पृ०३४

३ ,, : ,, पृ०३४

के नाम से जाना जा सकता है । महत्व घटनाएं प्रतिबद्ध क्रमबद्धता में कारण-कार्य सम्बन्ध का निर्वाह करती है, जैसा कि प्रसाद जी के नाटकों या प्रायः [illegible] नाटकों में परिलक्षित होती हैं । इसके विपरीत छोटी घटनाएं प्रत्यक्षतः असम्पृक्तता का आभास देकर या तो पृष्ठभूमि के कारणत्व से या पात्रों के कारणत्व से प्रतिबद्ध रहती हैं । जैसे 'नेफा की एक शाम', 'घाटियां गूंजती हैं', 'शुतुर्मुर्ग' या 'आधे-अधूरे' नाटकों को देखा जा सकता है । कारण-कार्य सम्बन्ध अपने-आपमें सरल, पूर्ण या निरपेक्ष होगा, कहा नहीं जा सकता । विशेषरूप से यदि नाटक का कार्य किसी पात्र-विशेष या पात्रों में अन्तर्निहित हो । पात्रों में निहित कारणत्व सिद्धांत अनेक तथ्यों या विशेषताओं का जटिल समन्वय होता है । 'लहरों के राजहंस' में कार्य-व्यापार नन्द और सुन्दरी की मनःस्थिति के कारणत्व में है । 'आधे अधूरे' के पात्रों की जटिलता एक स्थिति के कारण नहीं है, पर अनेक स्थितियों के कारण है । इन पात्रों का ऐसा होना वस्तु निर्माण की स्थितियों को कारण-कार्य संबंध से जोड़ता है ।

संयोजन में एक-सूत्रता // नाटक का जटिल कार्य- व्यापार घटनाओं के कारण-कार्य सम्बन्ध के साथ ही उनके संयोजन में एकसूत्रता और आन्तरिक संगति की भी अपेक्षा करता है । आन्तरिक संगति के अभाव में कारण-कार्य - सम्बन्ध भी वाह्य लगने लगता है और नाटकीय एकसूत्रता को बनाए रखने में असमर्थ हो जाता है । एकसूत्रता नाटक के आन्तरिक गठन से सम्बन्ध रखती है । वस्तु - निर्माण में प्रस्तुत घटनाओं तथा नाटकीय विचार के संयोजन में एकता होनी चाहिए, निश्चित तथा सुसंगठित आयोजन होना चाहिए और वस्तु-निर्माण का पूर्ण आयोजन विश्वसनीय लगने वाले सूत्रों से होना आवश्यक है । हिन्दी के प्रायः नाटकों में यह दोष देखने को मिल जाता है, क्योंकि नाटककार एक ही नाटक में अनेक विचारों या समस्याओं को लेकर चलता है । परिणाम यह होता है कि सभी प्रसंगों को नाटकीय विकास देने में नाटककार की सामर्थ्य विजित होने लगती है और नाटकीय एकसूत्रता तथा आन्तरिक अन्विति उपेक्षित रह जाती है ।

मुख्य और गौण घटनाएं / वस्तु-निर्माण में घटना-विन्यास किसी एक घटना पर अवलम्बित नहीं रहता । नाटकीय भावना की रक्षा में वस्तु-विन्यास आसन्न परिवर्तनशील मुख्य घटनाओं तथा सहायक गौण घटनाओं के समन्वय से होता है । मुख्य घटनाएं वस्तु को नये आयाम देता हैं, और गौण घटनाएं दो मुख्य घटनाओं के बीच के अन्तराल को भरता हैं । गौण घटनाएं तो नाटक के लक्ष्य तक नहीं पहुंचती, पर मुख्य लक्ष्य तक पहुंचने वाला घटनाओं को निश्चित दिशा देती हैं । शायद ही कोई ऐसा नाटक होगा, जिसमें किसी-न-किसी रूप में मुख्य तथा गौण घटनाओं का अन्तर्गुम्फन न हो ।

पूर्ण विन्यास में नाटकीय भावना / नाटकीय भावना की रक्षा के लिए नाटककार को पात्रों के उलझाव, तनाव, संघर्ष, नाटकीय व्यंग्य, कौतूहल, आकस्मिकता, विस्मय आदि तत्वों का आश्रय लेना पड़ता है । कभी-कभी नाटक में प्रस्तुत एक लम्बी स्थिति को सपाट होने तथा नीरसता से बचाने के लिए नाटककार पात्रों को उलझा देता है । कथोपकथन के माध्यम से यह उलझाव शारीरिक द्वन्द्व में परिवर्तित होने से पूर्व ही समाप्त हो जाता है । उदाहरणार्थ 'अंधाकुआं' में सुका और भगौती, भगौती और अलगू के बीच में उत्पन्न तनाव, या 'नेफा की एक शाम' में देवल और नीमों का आपस में उलझना । कभी तो नाटककार पूर्ण स्थिति प्रस्तुत करने में इतनी सतर्कता से काम लेता है कि वस्तु प्रत्यक्षतः आगे न बढ़कर भी आन्तरिक विकास का बोध देती है, जैसे 'अंधायुग' का प्रथम अंक । वस्तु में इस तरह के या और अनेक तरह के तनाव नाटकीय भावना की रक्षा करते हैं । प्रेक्षक या पाठक की सम्भावना को निराशा में बदल कर कुशलतापूर्वक विस्मय तथा तनाव की कल्पना की जा सकती है । 'चिराग की लौ' में रानी का तारा के घर आना, उससे इतना मेल-जोल बढ़ाना, सैकड़ों रुपए के उपहार देना यह संभावना उत्पन्न करता है कि मिल-मालिक की पत्नी इनकमटैक्स आफिसर की पत्नी से मित्रता कर स्वयं किसी स्वार्थपूर्ति की सिद्धि करेगी । पर रानी खलनायिका न बनकर अन्त तक तारा की मित्र ही बनी रहती है । इससे कहीं सशक्त स्थिति 'आषाढ़ का एक दिन' में है । दूसरे अंक में दूर से आती घोड़े की टाप धीरे-धीरे समीप आती है और मल्लिका के साथ हमारा विश्वास भी कालिदास के प्रवेश पर टिक जाता है, किन्तु दो

क्षण ... की वह आवाज ज्यों-ज्यों पास से दूर होती जाती है,त्यों-त्यों निराशा हमें मल्लिका के साथ ही घेर लेती है ।

वस्तु निर्माण के आयाम

नाटकीय वस्तु-निर्माण के लिए नि:संदेह नाटककार को किसी एक तथ्य का चुनाव करना होता है । यह तथ्य कोई विचार,कहानी,समस्या अथवा चरित्रोद्घाटन(दूसरे शब्दों में चारित्रिक मनोविश्लेषण) हो सकता है,अथवा तीनों या किन्हीं दो का समन्वय भी । इनमें से नाटककार किसको अधिक महत्त्व देगा, यह उसकी अपनी अंतर्दृष्टि तथा रुचि पर निर्भर करता है । सुविधा के लिए वस्तु-निर्माण पर विचार करते हुए उसे निम्न आयामों में रखकर देखा जा सकता है --

(क) कार्य प्रधान

(ख) समस्या प्रधान

(ग) चरित्र प्रधान

(घ) वातावरण प्रधान (व्यापक परिवेश को महत्त्व देने वाला)

(ङ) मिश्रित

(क) कार्य प्रधान / जहां नाटककार कार्य को प्रमुख मानकर चलता है,वहां हमारी रुचि नायक के चरित्र अथवा किसी सैद्धान्तिक अर्थापत्ति में दीर्घ काल तक अविच्छिन्न रूप में बंधी नहीं रह पाती,जितनी कि द्रुतगति से विकसित स्वयं कहानी में । कथा के तीक्ष्ण कार्य तथा तीव्र गति से विकास के कारण कुछ क्षणों के लिए प्रेक्षक या पाठक जीवन की उस जटिलता को विस्मृत कर देता है,जो कि नाटक में प्रस्तुत है । इस उत्कट कार्य की एकाग्रता में हम उन स्थितियों को भी भूल जाते हैं,जो जीवन में चुनाव की सम्भावना देती हैं । शीघ्र तथा निरन्तर चलने वाले कार्य में घटनाएं इस तीव्रता से सम्पृक्त और गतिशील रूप में घटती हैं कि रुक कर किसी भी घटना और कार्य पर विचार अथवा प्रश्न करने का अवसर नहीं मिल पाता है[1] । नाटककार महत्त्वपूर्ण घटनाओं का चुनाव कर समस्त वस्तु को निश्चित

---

१ सम्पा० ज्यूडह वेरमैन : 'ड्रैमेट्क इक्सपोज़िशन्स्', पृ० १८-१९

आयाम की ओर ले जाता है । घटनाओं की प्रमुखता में संयोजित नाटक प्राय: पूर्ण कार्य की किसी ऐसी स्थिति से प्रारम्भ होते हैं, जो कि मुख्य कार्य और आसन्न परिवर्तनीय स्थिति के निकट हो, या पूर्ण कथा के मध्य में हो । शेष कार्य सम्पृक्त घटनाओं के निकट संयोजन से निश्चित अन्त की ओर विकसित होता है । इसप्रकार कार्य-व्यापार को महत्व देकर चलने वाले नाटक मुख्यरूप से बाह्य कार्य-व्यापार पर अवलम्बित हो जाते हैं । यदि नाटककार इस कार्य-व्यापार को नाटकीय रूप में नियोजित करने में अपनी कुशलता का परिचय नहीं देता है तो नाटक अत्यन्त साधारण कोटि का हो जाता है । तीव्र कार्य-व्यापार के मध्य एक छोटी-से-छोटी घटना भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठती है । बहुत सम्भव है, उस एक घटना के निकाल दिए जाने पर वस्तु का प्रस्तुत कंकाल असन्तुलित हो जाये या कारणत्व के अभाव में घटनाएं नाटकीय भावना की रक्षा न कर सकें । 'स्वप्नभंग' में राजमहल की मालिन एक फूलमाला पहले जहांनारा को देती है और दूसरी माला बाद में रौशनारा को। राजनीतिक युद्ध के इस नाटक में यह बड़ी साधारण-सी घटना है, पर इसका अनुसरण करने पर यह नाटक में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थिति लगती है । यहीं से रौशनारा की ईर्ष्या प्रतिशोध की भावना में बदल जाती है, यही भावना औरंगजेब की सहायता में दारा के विरुद्ध क्रियाशील होती है । वस्तु-निर्माण में यह स्थिति अत्यन्त सशक्त नाटकीय आयाम दे सकती थी, किन्तु अनावश्यक प्रसंग, विस्तारों और समस्याओं को भी ले लेने के कारण घटनाएं सुसंगठित वस्तु का निर्माण नहीं कर पाती हैं । प्रथम दृश्य से छठे दृश्य तक नाटककार सभी प्रमुख पात्रों की स्थिति, उनके सिद्धांत और चरित्र का उद्घाटन करता है । प्रत्येक दृश्य एक-दूसरे से असम्बन्धित है, प्रत्येक दूसरी स्थिति नवीन निर्माण है, प्रथम का विकास नहीं । केवल रौशनारा का क्रोध और उसके फलस्वरूप कासिम खां को दारा को धोखा देने की स्वीकृति एक-दूसरे से संबंधित है और नाटक के विकास का मुख्य आधार भी । इसी तरह दूसरे अंक के सात दृश्यों में प्रमुख विस्तार को आगे बढ़ाने वाली दो ही घटनाएं हैं--प्रथम पराजय के बाद दारा का स्वयं युद्ध में जाने का निश्चय और रौशनारा का खलीलुल्ला खां को दारा के विरुद्ध करना । रौशनारा की यह चाल दारा को तीसरे युद्ध में प्रवृत्त करती है । तीसरे अंक के सात दृश्य अन्य प्रसंगों के साथ दारा की तीसरी और चौथी पराजय के

बाद उसे बन्दी रूप में प्रस्तुत करते हैं और अन्त में उसकी मृत्यु की सूचना मिलती है । दारा और औरंगजेब के इस संघर्ष की कथा के साथ ही वस्तु गरीब-अमीर और हिन्दु-मुस्लिम एकता के प्रश्न को लेकर चलती है । नाटकीय आयोजन इस सम्पूर्ण विस्तार में नाटकीय भावना और आन्तरिक अन्विति की उपेक्षा कर जाता है । अनावश्यक प्रसंगों और विस्तारों के कारण बाह्य-संकुलता भी उपेक्षित-सी लगती है । घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध इतनी दूर पड़ जाता है कि न तो पाठक या प्रेक्षक का ध्यान उस पर केन्द्रित हो पाता है और न ही नाटक का आन्तरिक विकास सम्भव हो पाता है।

लगभग इसी तरह की विशृंखलता उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' नाटक में भी दिखाई देती है । कथा और हिन्दू विवाह पद्धति पर आस्था और अनास्था की समस्या अलग-अलग विकसित होती है, किन्तु यहां नाटककार घटनाओं के साथ शब्दगत अर्थपत्ति को भी महत्व देता है । इसी कारण कथा पक्ष तीव्र घटनाओं से निर्मित होता है और समस्या पक्ष पात्रों के विचारगत संघर्ष से । इस अलगाव को लिए नाटककार विचारपक्ष की व्याख्या कथा पक्ष के कार्य में प्रस्तुत कर वस्तु को जिस एकता में बांधने का प्रयास करता है, वह अन्त तक आते-आते सफल नहीं हो पाता है । स्वयम्बर की तैयारी की पृष्ठभूमि में काशीराज के भयंकर स्वप्न देखने की स्थिति निर्मित करते हुए शाल्वराज तथा अम्बा में आकर्षण की कल्पना कर नाटककार कथा पक्ष के विस्तार का आधार प्रस्तुत करता है और विचार पक्ष की प्रमुख स्थिति अम्बिका तथा अम्बालिका के चरित्र में प्रस्तुत होती है । ये प्रारम्भिक स्थितियां स्वयम्बर की घटना से नया मोड़ लेती हैं । भीष्म, अपनी मां,-- धीवर कन्या सत्यावती के आदेश से, अपने रुग्ण भाई विचित्रवीर्य के लिए काशीराज की तीनों कन्याओं का अपहरण कर लाता है । विचारपक्ष को विकास देने के लिए नाटककार अम्बिका और अम्बालिका द्वारा इस स्थिति से समझौता कर लेने की कल्पना करता है और कथा के लिए अम्बा के विरोध की परियोजना । अपहरण के बाद अम्बा का विरोध और भीष्म की उदारता आगे की घटनाओं का आधार बनती हैं । यहां से प्रत्येक घटना अत्यन्त निकट और स्पष्टरूप में एक-दूसरे से कारण-कार्य सम्बन्ध से जुड़ी है । शाल्वराज द्वारा अम्बा को तिरस्कृत तथा अपमानित करवाकर नाटककार परशुराम-भीष्म द्वन्द्व युद्ध की घटना को निर्मित करता है । इसी तरह परशुराम की पराजय को

स्थिति अम्बा को शिव-साधना में प्रवृत्त करता है और शिखण्डी की घटना उसे आत्महत्या के कर्म में । आत्महत्या का कार्य शिखंडी के रूप में प्रस्तुत होता है और भीष्म की मृत्यु में प्रतिफलित होता है । विचार को विस्तार देने वाली दो प्रमुख घटनाएं हैं । अम्बिका और अम्बालिका का विचित्रवीर्य से विवाह होना तथा उनका विधवा हो जाना । तीसरे अंक के पांचवें तथा छठे दृश्य में परशुराम की पराजय और दो बहनों का विधवा होना-- ये दो घटनाएं घटती हैं ,जिनके माध्यम से नाटककार वस्तु के दोनों विस्तारों को एकता देने का प्रयास करता है । विधवा बहनों के प्रसंग को यहीं समाप्त कर नाटककार अम्बा के ही माध्यम से कथा तथा विस्तार को पूर्णता देता है ।

पूर्ण वस्तु-निर्माण में दो स्थितियां तथा घटनाएं नाटकीय तनाव और संघर्ष का कारण है । चिर-यौवना विधवा सत्यवती का अपने अन्तर्दहन की प्रतिक्रियास्वरूप भीष्म को काशीराज की कन्याओं के अपहरण के लिए बाध्य करना और अम्बा का शाल्वराज को मन में धारण करना । इन दोनों के बीच एकता लाती हैं,भीष्म द्वारा कन्या-अपहरण की घटना तथा दोनों बहनों द्वारा बीच-बीच में दुहराई जाने वाली दो बूंदों की प्रतीकात्मक कथा । किन्तु इस सब के बावजूद भी वस्तु-निर्माण में कुछ ऐसे छिद्र हैं,जिनके कारण आन्तरिक अन्विति विकसित नहीं हो पाती है । प्रारम्भ में या तो घटनाओं का अभाव है या फिर अन्त में वे अत्यन्त आकस्मिकता का रूप लेती है । प्रारम्भिक उत्कटता को यद्यपि नाटकीयता देने के लिए प्रमुख पात्रों का चरित्रोद्घाटन किया गया है, किन्तु पात्र निर्माण की यह प्रारम्भिक स्थिति विवरणात्मक अधिक है,आन्तरिक विश्वसनीयता को उभार सकने वाली अपेक्षाकृत कम है । इसके अलावा अनावश्यक प्रसंग भी वस्तु को शिथिल करते हैं । कहानी तथा समस्या को लेकर कार्य-व्यापार पर अधिक महत्व देने वाला नाटक 'कोणार्क' इन दोनों नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक नाटकीय सम्भावनाएं देता है । मालिक-मजदूर के संघर्ष की समस्या घटनाओं में साकार हो जाती है,नाटककार उपरोक्त दोनों नाटकों की भांति विचार पक्ष के लिए न तो अलग पात्र-परिकल्पना करता है और न ही अवान्तर प्रसंगों को महत्व देता है । 'कोणार्क' में परिवर्तनशील स्थितियों को प्रस्तुत कर सकने वाली उलझनभरी घटनाओं की तीव्रता के माध्यम से

इस प्रकार वस्तु निर्मित की गई है कि पाठक और प्रेक्षक का ध्यान सर्वप्रथम प्रस्तुत घटनाक्रम के इर्द-गिर्द की कहानी की ओर जाता है । नाटककार के पास 'दूर एक खंडहर सोता है... लेकिन एक दिन ... बहुत दिन हुए ... वह अपना पूरा हुआ था' के रूप में पूर्ण निर्माण और विध्वंस की कहानी है । पूर्ण वस्तु का आधार दो प्रमुख स्थितियां हैं--एक उत्कल नरेश महाराजा नरसिंहदेव का बंग प्रदेश में यवनों को पराजित करने के हेतु दीर्घकाल तक अपने राज्य से दूर रह जाना, जिस कारण वे राज्य की गतिविधियों से अपरिचित हैं । दूसरे कोणार्क के भव्य मंदिर के अम्ल पर शिखर स्थापित न कर पाने के कारण महान् शिल्पी विशु की व्याकुलता का बढ़ना । दोनों स्थितियां एक-दूसरे की पूरक बनती हुई वस्तुनिर्माण में समुचित विस्तार प्रस्तुत करती हैं । पहली स्थिति से सम्बद्ध घटनाएं वस्तु को प्रसार देती हैं तथा दूसरी स्थिति से सम्बद्ध घटनाएं इस विस्तार को दूसरी ओर से समेट कर देवालय को तोड़ने की घटना का कारण बनती हैं । नाटक का उद्घाटन उस स्थिति से होता है, जो एक प्रकार से पूरी कहानी का मध्य माना जा सकता है । कोणार्क में मूर्ति-प्रतिष्ठापन का कार्य केवल इसलिए रुक गया है कि एक के बाद एक चार भव्य मंदिरों के प्रणेता, महान् शिल्पी विशु की प्रतिभा, अम्ल पर शिखर स्थापित करने की समस्या सुलझाने में पराजित-सी हो गई है । अपनी इस व्याकुल और अशान्त मन:स्थिति में वह नाट्याचार्य सौम्यश्री की मूर्ति का अंकन करता है । मूर्ति के कंठहार के कंठाभरण में कामदेव की मूर्ति को अंकित कर अनायास ही अपने जीवन की किसी मार्मिक घटना को वह प्रकट कर देता है । इस घटना का प्रयोजन तीसरे अंक की घटनाओं में सिद्ध होता है । इसी स्थिति में, उत्कल राज्य का महामात्य, जो महाराज नरसिंह देव की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर शक्ति के आधार पर महादंडपाशिक बन गया है, आकस्मिक रूपसे आता है तथा आदेश देता है, यदि एक सप्ताह में देवालय का निर्माण पूरा नहीं हुआ तो सभी शिल्पियों, मजदूरों के हाथ काट लिए जायेंगे । यह वह स्थिति है जो धर्मपद की विलक्षण प्रतिमा से परिचय करवाती है और वस्तु को मंदिर के पूर्ण होने की सम्भावना की ओर ले जाती है । तत्पश्चात् नाटककार वस्तु को सीधे उस स्थल पर ले आता है जहां घटनाएं तीव्रता और तीक्ष्णता से आसन्न परिवर्तनों को प्रस्तुत करती हैं

तथा कार्य भी तीव्र रूप से गतिशील होता है । दूसरे अंक का उद्घाटन तीव्र घटनाओं के द्वार पर होता है । उत्कल नरेश नरसिंहदेव बंगाल से सीधे मूर्तिप्रतिष्ठापन के लिए देव-मन्दिर में आये हैं, और राजकीय समारोह के पूर्व ही वे निराले कला के रचयिता का समुचित समादर करना चाहते हैं । यहाँ पर नाटककार इस सम्मान का अधिकारी धर्मपद को बताकर एक ओर जहाँ विशु के लिए किए गए वायदे को निभाता है,वहीं पर इस घटना से वस्तु में चरम संघर्ष के उपयुक्त भूमि तैयार करता है । रथ की धुरी टूट जाने के बहाने से, राज चालुक्य को वस्तु में देर तक न लाकर प्रथम अंक में राज-चालुक्य की चेतावनी को प्रत्यक्ष घटना में बदलने की स्थिति का निर्माण करता है । धर्मपद प्रधान-शिल्पी के अधिकार पाकर प्रजा की यथार्थ स्थिति का अनावरण करता है । महाराज के द्विविधामय अविश्वास से वस्तु में, वह पृष्ठभूमि निर्मित हो जाती है जो राज चालुक्य के दुतागमन तथा उसके द्वारा प्रेषित संधिपत्र को पढ़ने के बाद नाटकीय विस्फोट का रूप लेती है । नाटककार इस घटना से उत्पन्न तनाव की तीक्ष्ण स्थिति पर विराम की गुंजाइश नहीं रखता और स्थिति को पूर्ण तनाव देकर धर्मपद के माध्यम से(कथोपकथन में) स्पष्ट युद्ध की घोषणा करता है । ये सारी घटनाएं कोणार्क के समारोह स्थल को युद्ध-भूमि में बदल जाती हैं और धर्मपद को दुर्गपति के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं । मंदिर के खण्डहर होने की सम्भावना के लिए एक सशक्त भूमि तैयार कर अब नाटककार ऐसे निर्माण की ओर उन्मुख होता है,जो विशु के अन्तर्दहन को एक शक्ति में बदल सके और कलाकार को कृति उसी के हाथों विध्वंस हो सके । प्रथम अंक की वह घटना जो सौम्यश्री की मूर्ति का अंकन करते हुए अनायास ही विशु के अतीत को भी उद्भासित कर गई थी , इस अंक में एक अन्य घटना से सम्बद्ध होकर उसके अन्तर्द्वन्द्व को तीव्र करती है । अंकित किए गए कंकण जैसा ही हाथी दांत का कंकण घायल धर्मपद के गले से गिर कर विशु को प्राप्त होता है। विशु का अन्तर्द्वन्द्व धर्मपद को यह बताने के लिए विवश करता है कि वह उसका पुत्र है । धर्मपद से यह जानकर कि उसकी मां अब नहीं रही । वह विक्षिप्त हो जाता है । तभी नाटककार अत्यन्त कुशलतापूर्वक राज चालुक्य को दक्षिण द्वार से प्रवेश करवाकर, इस वैयक्तिक संघर्ष की स्थिति में वस्तु को चरम की ओर विकसित

करता है । पिता को 'शिल्पी की पराजय' की चुनौती देकर धर्मपद मृत्यु संघर्ष में चला जाता है और विक्षिप्त, पराजित, पिता और कलाकार की आन्तरिक पीड़ा और प्रतिशोध की अग्नि से भर देता है । प्रतिक्रियास्वरूप विशु गर्भागार के शून्य में लटकती भगवान् सूर्य की मूर्ति को चुम्बक से अलग करने के लिए उसपर प्रहार करता है और मूर्ति के गिरते ही विराट् कल्पना भी धाराशायी हो जाती है । इस तरह नाटककार प्रारम्भिक स्थितियों को दोहरे आयाम में फैलाव देकर अन्तिम अंक में समेट लेता है । यह सारा आयोजन वस्तु निर्माण में कारणत्व सिद्धान्त के साथ जुड़ा रहकर एकसूत्रता के नियम को अपनाता है ।

निर्माण की प्रमुख घटनाओं के मध्य कुछ गौण घटनाएं होती हैं, जो वस्तु-निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हुए भी कार्य की क्षिप्रता में हमारा ध्यान तत्काल आकर्षित नहीं कर पाती हैं । राजीव द्वारा विशु को धर्मपद का परिचय देना कुछ ऐसी ही स्थिति है, जिसके विस्तार स्वरूप प्रधान शिल्पी के अधिकार एक दिन के लिए धर्मपद को मिलते हैं । धर्मपद के प्रधान शिल्पी बनने की घटना से, वस्तु का विस्तार एकसूत्रता में बंधने लगता है, और शेष वस्तु का निर्माण धर्मपद के कार्य से होता है । चालुक्य के दुतागमन पर बहुत सम्भव था यदि विशु ही प्रधान शिल्पी होता तो कथा इतनी उत्कलता से नाटकीय मोड़ न ले पाती और वस्तु-निर्माण में शिथिलता आ जाती । धर्मपद के कारण उत्पन्न तनाव की स्थिति में गतिरोध न होकर तीव्र संघर्ष उत्पन्न होता है । ये ही घटनाएं विशु में जिज्ञासा उत्पन्न कर नाटकीय रहस्योद्घाटन में परिवर्तित होती हैं । इससे प्रथम अंक की दोनों स्थितियां एकता में बंध जाती हैं । इसी तरह नाटककार धर्मपद को प्रधानशिल्पी के अधिकार दिलवाने के लिए, विस्मय तथा तनाव की रक्षा में, राज चालुक्य को, रथ की धुरी टूट जाने के बहाने से वहां अनुपस्थित रखता है । यदि राज चालुक्य महाराज के साथ ही वहां आ जाता तो बहुत सम्भव था समुचित विस्तार या संघर्ष की उपयुक्त भूमि तैयार हुए बिना ही वस्तु समाप्ति की ओर मुड़ जाती तथा तनाव तीव्र संघर्ष और संक्रान्ति में परिवर्तित हुए बिना ही बिखर जाता ।

कार्यप्रधान नाटकों में घटनाओं पर बल दिए जाने के कारण यह आवश्यक है कि घटनाएं परिवर्तनीय आयाम दे सकने की सशक्त आधार हों । युद्ध की पृष्ठभूमि में व्यक्ति की दृढ़ता और त्याग का चित्र प्रस्तुत करने का उद्देश्य लेकर ज्ञानदेव अग्निहोत्री

का 'नेफ़ा की एक शाम' नाटक वस्तु-निर्माण में पर्याप्त नाटकीय सम्भावनाएं देता है । स्थितियों का संयोजन पात्रों के संघर्ष को वास्तविक बनाने में सहायक होता है । घटनाक्रम यहां किन्तु उस अर्थ में नहीं है, जिस अर्थ में ऊपर विवेचित नाटकों में पूर्ण वस्तु में कुछ ही ऐसी प्रमुख घटनाएं हैं, जो पात्रों के पूर्ण कार्य को सशक्त नाटकीय मोड़ देती हुई उन्हें सघन संघर्ष में प्रवृत्त करती हैं । शीकाकाई का आगमन और तवांग के नष्ट हो जाने की सूचना देना, वांगचु और कुंगशो के प्रवेश और प्रस्थान की पूर्ण घटना कुदाली का चीनी एजेण्ट होने का रहस्योद्घाटन और अन्त में गोगो द्वारा पुल उड़ाये जाने का निश्चय, पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया इन घटनाओं से संयोजित होती हैं और वे अपने निश्चय में दृढ़ से दृढ़तर होते जाते हैं । यहां कारणत्व परिवेश की व्यापक स्थिति में है और घटनाएं प्रत्यक्षत: असम्पृक्त लगती हुई परिवेश के साथ प्रतिबद्ध हैं और उसके प्रति ही उत्तरदायी भी । सभी पात्र एक उद्देश्य तथा रक्त सम्बन्ध से आपस में एक हैं, जिससे नाटकीय एकसूत्रता की रक्षा होती है । समष्टिरूप वस्तुत परिवर्तनशील आयाम देने वाली घटनाएं तनाव के क्षणों की स्थितियां हैं । संघर्ष की सम्भाव्य स्थिति पर नाटककार बल देता है । पहली घटना का तनाव दूसरी घटना तक बना रहता है, किन्तु यह तनाव केवल घटित का नहीं, पर घटनाओं में प्रस्तुत पात्रों के संघर्ष का भी है ।

यह सत्य है कि वस्तु निर्माणमें कार्य व्यापार को महत्त्व देने से नाटकीय संघर्ष का कोई बहुत सशक्त रूप प्रस्तुत नहीं होता है, क्योंकि नाटककार तीव्र शारीरिक चेष्टाओं और प्रतिक्रियाओं पर अधिक महत्त्व देता है । किन्तु यदि पात्र-निर्माण और नाटकीय संवेदना का आयोजन अच्छा बन पड़ता है तो नाटक विशिष्ट नाटकीय सम्भावनाओं को देने में समर्थ हो पाता है । चयन की गई घटनाएं नाटकीय तनाव का प्रभावशाली आयाम बन सकती है, यदि उनको सहायता में शेष नाटकीय उपकरण हों । 'स्वप्नभंग', 'विद्रोहिणी अम्बा' में वस्तु निर्माण की शिथिलता नाटक के कथ्य को अनुभवजन्य स्तर पर सम्प्रेषित कराने में असमर्थ होती है । अम्बा के संघर्ष का तनाव वाह्य अधिक है, क्योंकि तनाव प्रस्तुत करने वाली स्थितियां अत्यन्त आकस्मिकता लिए हुए हैं । स्थितियों की यह कमजोरी अम्बा के संघर्ष को स्थूल बना देती है, जब कि नाटक में इतनी सम्भावना थी कि अम्बा के चारित्रिक विकास के माध्यम से नाटकीयता की

रचना के साथ समस्या और इतिहास प्रसिद्ध कथा को निभा लिया जा सके ।'कोणार्क' में नाटककार पात्र-रचना पर ध्यान देते हुए नाटकीय प्रवाह के सन्तुलन को भी बनाए रखने का प्रयत्न करता है । समस्या मूलकथा में विलय हो जाती है । यद्यपि एक घटना से दूसरी घटना के बीच का तनाव चरम सीमा तक आते-आते सम्भव नहीं पाता है, फिर भी प्रत्येक वह स्थिति जो आसन्न परिवर्तन की द्योतक है पात्रों के किसी-न-किसी प्रकार के उलझाव को प्रस्तुत करती है।स्थितियों का ऐसा उलझाव न तो 'स्वप्नभंग' में है और न 'विद्रोहिणी अम्बा' में । वहाँ विरोध और प्रतिक्रिया तो दिखाई देता है, किन्तु संघर्ष की वह स्थिति नहीं दिखाई देती, जो सही अर्थों में दो पात्रों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कश-मकश में प्रस्तुत करती हो । 'नेफा की एक शाम' में नाट्य पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में निरन्तर उलझाव और तनाव में जाते हैं ।किन्तु यह तनाव अतिरंजना की स्थिति तक नहीं पहुंचता । जैसा कि अम्बा के चरित्र में । उनका संघर्ष,प्रतिक्रिया या तनाव मानवीय वेदनाओं के चढ़ाव-उतार का प्रतिफलन है । घटना-विन्यास के सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप से आवश्यक प्रतीत होती है कि घटनाएं ऐसे संघर्ष क्रम या उलझाव की प्रतीक हों, जिससे कार्य-व्यापार की तीव्रता केवल स्थूल न रहकर सूक्ष्म हो सके ।

समस्या प्रधान / इससे भिन्न जब नाटककार जीवन को गतिशीलता से ग्रहण किए गए किसी विचार या सिद्धान्त को, अपनी कोई अनुभूति प्रकटकरने के लिए लेता है तो वस्तु निर्माण में घटनाओं का और किसी प्रकार के वैचारिक क्रमानुगत सूत्रों की प्रधानता हो जाती है । तात्पर्य कि जब नाटककार जीवन की किसी समस्या पर टिप्पणी करने के लिए घटनाओं पर आश्रित न रहकर विचारों के द्वन्द्व पर महत्व देता है तो भाववस्तु का विकास प्रतिबद्ध विचारों की शृंखला से होता है । घटनाएं तो यहां भी रहती है पर वे केवल स्थिति की निमित्त मात्र होती हैं । किसी एक घटना से उत्पन्न विचारों की परिवर्तनशीलता पर हमारा ध्यान अधिक जाता है, और रुचि घटित की अपेक्षा,घटित के अर्थपरक व्यापार में निहित हो जाती है । वस्तु का कथ्य,इस सन्दर्भ में प्राय: कोई कहानी या कथा न रहकर मूलरूप से व्यक्ति,विचारों या मूल्यों का संघर्ष होता है ।जीवन और समाज के परिवर्तन से ग्रहण की गई अपनी अनुभूति की व्यंजना देने के लिए नाटककार

संघर्षों की खोज करता है, ऐसे संघर्षों की जो उसकी अनुभूति के निकट हो । वह प्रत्येक विचार पर ध्यान देता है और उसकी सम्भावना तथा सार्थकता पर चिन्तन करता है । उसका यह चिन्तन नाटकों में शाब्दिक अर्थापत्ति में अन्तर्निहित होकर अभिव्यक्त होता है । इस तरह किन्हीं विचारगत संघर्षों को प्रस्तुत करने वाले नाटक शाब्दिक अर्थापत्ति पर महत्त्व देते हैं, फलस्वरूप नाटक करने का न होकर स्वभाव का हो जाता है । ये नाटक साधारण रूप से सम्पूर्ण कार्य व्यापार के प्रारम्भ से आरम्भ होते हैं और वस्तु धीरे-धीरे अपने उद्देश्य की ओर विकसित होता है । नाटकीय विचार की सम्बद्धता, किसी-न-किसी प्रकार के संश्लेषण को लेकर चलने के कारण सम्भव हो पाती है । विचार -संश्लेषण में क्रमबद्धता और सम्पृक्तता नाटककार द्वारा पूर्वापर सम्बन्ध से विस्तार देने की क्षमता पर भी निर्भर करती है । विचारों की परिवर्तनशीलता तथा शाब्दिक अर्थापत्ति कारण-कार्य सम्बन्ध में एकसूत्रता तथा नाट्यान्विति की अनुभूति देती है । वस्तुत: प्रासंगिकता के अभाव में विचार कोई अर्थ नहीं दे पाते हैं । ऐतिहासिकता की दृष्टि से देखें तो समस्या नाटकों से वस्तुनिर्माण में आसन्न परिवर्तन की धोतक घटनाओं के विन्यास की अपेक्षा क्रमानुगत विचारसूत्रों के विन्यास को महत्त्व दिया जाने लगा[१] । लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'सिन्दूर की होली' सेक्स तथा विधवा विवाह के विचारगत संघर्ष को लेकर चलता है । रजनीकान्त की हत्या का षड्यन्त्र और उसकी मृत्यु वस्तु निर्माण में दो मुख्य घटनाएं हैं, जिसके प्रभाव में प्रत्येक पात्र अपने विचारों से उलझता है और उस पृष्ठभूमि पर नाटककार अपने विचार-संघर्ष को विकास देता है । वस्तु के प्रारम्भ में राय भगवन्त सिंह द्वारा अट्ठारहवर्षीय पट्टीदार रजनीकान्त को मारने के लिए मुरारीलाल को दस हजार रुपए देकर अपनी ओर मिला लेना पूर्ण वस्तु के विकास का एक प्रमुख घटना है । इस घटना से उत्पन्न तनाव की स्थिति में एक ओर मुरारीलाल के अतीत के एक पाप का उद्घाटन होता है जो वस्तुत: मनोजशंकर की मनोग्रन्थि

---

१ अधिकांश आधुनिक नाटक चूंकि किसी-न-किसी प्रकार की समस्या को लेकर चलते हैं, अत: उनके वस्तु-विन्यास में थोड़े-बहुत वैभिन्न्य के साथ क्रमानुगत विचार सूत्रों का ही संश्लेषणात्मक विन्यास प्रस्तुत हुआ है । यहां केवल कुछ की ही चर्चा की जा सकेगी ।

से सम्बद्ध है तथा दूसरी ओर चन्द्रकला को रजनीकान्त पर आसक्ति का ज्ञान होता है । चन्द्रकला की रजनीकान्त पर आसक्ति और उसकी मृत्यु से पूर्व उसके हाथ से स्पर्शित सिन्दूर को लगाकर सधवा और विधवा बनने के उसके कार्य में नाटककार संघर्षरत विचारों के एक पक्ष को चरम सीमा पर लाता है और निष्कर्ष के तौर पर मानसिक व्यभिचार से बचने के लिए नैतिकता का यह अतार्किक रूप रखता है । इसी पृष्ठभूमि में मनोजशंकर को, मनोग्रन्थि के सहारे चन्द्रकला का और आसक्त न दिखाकर वह विधवा मनोरमा की आकर्षित दिखाता है और इस तरह विधवा-विवाह का असमर्थन करता है । माहिर अली, जो मुरारीलाल के पापों का भागीदार है कैमन में, रजनीकान्त की मृत्यु की रात, भय और ग्लानि के भाव तीव्र कर मनोजशंकर की मनोग्रन्थि को नष्ट करने का उपाय वह करता है, परिणामत: ज्ञात होता है कि मनोजशंकर के पिता ने आत्महत्या नहीं की थी, पर दस हजार के लिए मुरारीलाल ने ही अपने परम मित्र की हत्या की थी । नाटकीय वस्तु निर्माण इस रहस्योद्घाटन से अविश्वसनीयता की अनुभूति से शासित हो जाता है कि दस हजार के लिए अपने मित्र की हत्या करने वाला मुरारीलाल, कई हजार उसके पुत्र मनोजशंकर पर व्यय करता है; और पूर्ण कार्य व्यापार अतार्किक कारणत्व में असंगत लगने लगता है । इस कारण मुरारीलाल के सामने चन्द्रकला और मनोरमा के निर्णय तथा मनोजशंकर का मुरारीलाल को पिताहन्ता कहकर जाना भी कोई नाटकीय सार्थकता नहीं दे पाता है । पूर्ण प्रभाव में वस्तु का आयोजन अतार्किक और असंगत लगता है । क्रमहीनता तो खटकती है, पर उससे अधिक खटकता है उसके कारण नाटकीय परिपाक का अभाव । विचारों का बोझिलता, आन्तरिक विकास तथा नाटकीय अन्विति का अभाव वस्तु के आयोजन को अनाटकीय बना देता है, जिससे एक अविश्वसनीय भावप्रवण कथा तो उभर कर आती है, पर नाटकीय वस्तु नहीं । वस्तु निर्माण की यह शिथिलता पात्रों के संघर्ष को असन्तुलित तथा सपाट बना देती है । मिश्र जी के प्राय: नाटकों में आन्तरिक अन्विति तथा नाटकीय परिपाक का अभाव पात्रों के संघर्ष को यथार्थ के तनाव और संघर्ष की अपेक्षा किसी आदर्श और बनावटी संघर्ष में बदल देता है । अवान्तर प्रसंग और अनेक समस्याओं को लेना भी वस्तु निर्माण के गठन को शिथिल करता है और उसके साथ पूर्ण नाटक को

आवश्यक नहीं है कि नाटकीय वस्तु निर्माण में अनेक विस्मयादिक या कौतूहलजनक घटनाएं हों, पर उनमें आन्तरिक प्रवाह और विकास होना चाहिए। विश्वसनीयता और सांकेतिकता होनी चाहिए। अश्क जी के 'कैद' में इस आन्तरिक प्रवाह और विकास को वस्तु की मांसलहीनता में भी देखा जा सकता है। पूर्ण निर्माण में एक स्थिति है, जो अतीत की एक घटना, अप्पी का दिलीप से विवाह न होकर प्राणनाथ से होना, का परिणाम है। नाटक का आरम्भ कुंठाग्रस्त अप्पी के घर की अव्यवस्था तथा प्राणनाथ का अप्पी से विवाह कर उसका जीवन नष्ट करने की अपराध स्वीकृति से होता है। प्राणनाथ की आत्मस्वीकृति के साथ ही दिलीप के अखनूर आने के समाचार को साथ रखकर नाटककार सांकेतिकता से अप्पी की मानसिक स्थिति को व्यक्त कर अत्यन्त तटस्थता से समस्या में अन्तर्निहित विचारगत संघर्ष को व्यक्त करता है। दिलीप का अखनूर पहुंचना इस स्थिति को नाटकीय मोड़ देता है और अतीत की घटनाओं के उद्घाटन के कारण-कार्य सम्बन्ध में नाटक का वर्तमान कार्य विकास पाता है। दिलीप को ज़बरदस्ती उसके दोस्तों द्वारा बर्फ़ दिखाने ले जाना और उसका अप्पी से फिर मिलने का आश्वासन वस्तु को वहीं समाप्त करता है, जहां से वह आरम्भ हुई थी। उनके अन्य नाटकों में भी साधारणतया न तो विचारों का भारीपन है न अनावश्यक विस्तार। यद्यपि कहीं-कहीं आन्तरिक तर्कसंगति का अभाव कलापक्ष को कमजोर करता है, या 'छठा बेटा' जैसे नाटक हल्के स्तर के लगते हैं।

विनोद रस्तोगी का 'नये हाथ' नाटक में वस्तुनिर्माण उपर्युक्त दोनों निर्माण रूपों का समन्वय है। एक का अनावश्यक विचार बाहुल्य और दूसरे की मांसलहीनता इसमें नहीं है। पीढ़ीगत संघर्ष के माध्यम से ढहती सामन्तीय परम्परा और नवीन मूल्यों की स्थापना के संघर्ष को नाटककार लेता है। सामन्तीय परम्परा के प्रतीक अजय प्रताप और माधुरी द्वारा कुंवर महेन्द्रपाल के आने की सूचना में बेटी माला का उससे विवाह कर, लिए गए कर्ज़ को माफ़ करवा लेने की कल्पना करवा कर नाटककार एक प्रमुख नाटकीय स्थिति का निर्माण करता है। इस स्थिति का वस्तु-निर्माण में देर

तक कोई तात्क्षण विकास नहीं होता, इस बीच आन्तरिक विकास के लिए नाटककार ऐसा आयोजन करता है कि माधुरी और अजयप्रताप द्वारा सोचा गया यह उन्मुक्त सम्भाव्यता में प्रेक्षक और पाठक के कौतूहल को तीव्र करता चले । इस आयोजन में सहायक होते हैं इधर-उधर के निर्देश, कुछ महत्वपूर्ण पात्रों का आवागमन, और पात्रों का वैयक्तिक विरोध । कुंवर महेन्द्रपाल के साथ उनकी बहन शालिनी, और अजयप्रताप के छोटे भाई विजयप्रताप का जेल से तीन वर्ष पूर्व ही छूटकर आना, वस्तु को पूर्ण विस्तार के तौर पर एक और प्रसंग देते हैं । महेन्द्रपाल और माला (सोचा गया संबंध) निकट आने के बदले व्यंग्य एवं कटूक्तियों से अपने बीच तनाव को निर्मित करते चलते हैं । इस तनाव को नाटकीय मोड़ मिलता है । माला के सहपाठी सतीश के आने, और फिर उससे फ़ोन पर बात करने पर महेन्द्रपाल से अपने सिर दर्द का बहाना कर वहां से उठकर चले जाने से । दोनों के बीच तनाव को घर की पोष्य नौकरानी बाली तीव्र करती है जो क्रमश: महेन्द्रपाल के निकट आती जाती है । देखा जाय तो यहां तक वस्तु का विकास पात्रों के आन्तरिक विरोध और वैचारिक विभिन्नता में होता है । जिसके परिणामस्वरूप एक गौण चरम सीमा के रूप में नाटककार माधुरी और अजयप्रताप की कल्पना के विरुद्ध, माला और सतीश, बाली और महेन्द्रपाल तथा शालिनी और विजय-प्रताप के सम्बन्ध को निश्चित दिशा देकर नवीन और प्राचीन विचारों के प्रत्यक्ष संघर्ष की कल्पना में वस्तु को संक्रान्तिस्थल की ओर उन्मुख करता है । यहां से वस्तु में कार्य-व्यापार तीव्रता लेता है और नाटकीय विचार एक स्थिति से दूसरी में नाटकीय व्यंग्य के रूप में विकसित होता है । घटना के रूप में जो पूर्ण विकास को नया मोड़ देती है, केवल एक संयोग की स्थिति है । माला और महेन्द्र को साथ हंसता देखकर माधुरी को शीघ्रातिशीघ्र उन्हें सामाजिक बन्धन में बांधने की इच्छा । सतीश और महेन्द्रपाल को नेपथ्य में भेंट करवाकर माधुरी के उतावलेपन से उत्पन्न स्थिति में, नाटककार सतीश से माला को अंगूठी पहनवाकर नाटकीय विस्फोट का निर्माण करता है । इस घटना को हम शाब्दिक अर्थापत्ति के मध्य अनदेखी कर जाते हैं, और माला के इस कथन पर हमारी रुचि टिक जाती है, 'बाबू जी पापी हम नहीं हैं, अपने हृदय से पूछिए पाप किसने किया है ।' जो अपनी सांकेतिकता में एक के बाद एक रहस्योद्घाटन के लिए अजयप्रताप को बाध्य करता है ।

साथ-साथ विकसित होते तीनों सम्बन्ध और वैचारिक संघर्ष अपनी प्रकृति में उत्सुकता और तनाव को लगभग बनाए रखते हैं और नाटकीय स्थितियाँ परिवर्तनीय मोड़ दे सकने में कभी समर्थ हैं, किन्तु पात्रों के संघर्ष की कमजोरी, नाटकीय प्रसंग तथा कथोपकथन का साधारण स्तर नाटक को विशिष्ट कलात्मकता प्रदान नहीं कर पाते हैं। इससे उसमें हल्कापन आ जाता है।

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायणलाल का 'रातरानी' नाटक एक सशक्त समस्या, मालिक मजदूर का संघर्ष, जिसे वह घर और बाहर के सन्तुलन में रखकर देखना चाहता है, को लेकर चलता है। नाटक का प्रारम्भ प्रेस में चल रहे स्ट्राइक और उसके कारण के ज्ञान से होता है। इसके बाद ही कुन्तल की मित्र सुन्दरम का आना, जयदेव के मित्रों को उसके पिता की आत्मा बनकर डराना, वस्तु के प्रथम परिचय का क्रमशः विकास तो नहीं है, पर नाटक के उस पक्ष से सम्बद्ध है जो पात्रों की वैयक्तिकता का है। अंक समाप्त होते-होते जयदेव का एक वाक्य" जहां तुम्हारी पहली शादी पक्की हुई थी.. तो वहां तुमने कुछ खत लिखे थे।", एक तीसरी स्थिति को जन्म देता है। दूसरे अंक का उद्घाटन कुन्तल के नौकरी न कर लेने की सूचना से आरम्भ होता है, क्योंकि जयदेव अपनी ताश और मित्रों के बढ़ते खर्च को चलाने के लिए धन चाहता है, इसी कारण वह घर के खर्च भी कम करता है, फल बिकवाता है, माली को खाना देने से इन्कार करता है, जो घर की परम्परा पर प्रहार है। तनाव की इस स्थिति में सुन्दरम के साथ अलौकिकता से कुन्तल के पहले मंगेतर निरंजन के आने की कल्पना में नाटककार वस्तु में तीव्र तनाव की कल्पना तो करता है, किन्तु पूर्ण विकास में यह घटना महज एक संयोग की स्थिति बनकर रह जाती है। कुन्तल द्वारा निरंजन से अपने पत्र मांगना, निरंजन का उन पत्रों को लौटाना, कुन्तल द्वारा जयदेव को वे पत्र सुनाना, मजदूरों के जलूस से घिरे जयदेव को, कुन्तल द्वारा बचाया जाना, आकस्मिक रूप से निरंजन और सुन्दरम् का विवाह कर देना, ऐसी घटनाएं हैं, जिनमें क्रियाशील पात्रों को तीव्र संघर्ष के आयाम मिलते हैं, किन्तु पात्र-निर्माण के सन्दर्भ में हम देखेंगे कि ऐसा होता नहीं है। तीसरा अंक इस सूचना से खुलता है कि कुन्तल एक लम्बी बीमारी के बाद कालेज गई है और विश्वविद्यालय की नौकरी छोड़कर किसी डिग्री कालेज में चली गई है। मित्रों द्वारा अपमानित होकर जयदेव--

कुन्तल को ईमानदारी से बताता है कि बैंक के पचहत्तर हजार रुपये में से एक कौड़ी भी नहीं बची है,इस सूचना की परिस्थिति में जो वस्तु की चरम सीमा भी है,बाहर बढ़ते जाते मजदूरों के शोर और उत्तेजना से पतिरक्षा में कुन्तल भीड़ में कूद पड़ती है और माथे पर चोट लेकर लौटती है ।

वस्तु-निर्माण में नाटककार घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध को अत्यन्त घुमा-फिराकर लाता है, पर ऐसा करने में उनका समुचित नाटकीय प्रभाव नहीं बना रह पाता,और पूर्वापरता की पर्याप्त बनावट का अभाव खलने लगता है । एक घटना से उत्पन्न तनाव को विकास देने से पूर्व ही दूसरी घटना दूसरी समस्या का उद्घाटन करती है फलस्वरूप दो स्थितियों का विस्तार विशृंखलता लाता है । कुछ पात्रों की अप्रतिक्रियावादिता भी दो घटनाओं के बीच के अन्तराल को सूक्ष्मता देने में असमर्थ हो जाती है । वस्तु-निर्माण की दृष्टि से इन्हीं का 'दर्पन' नाटक इसकी अपेक्षा सफल है,क्योंकि वहां न तो अनेक बातों को एक समस्या के साथ प्रस्तुत करने का आग्रह है और न ही वस्तु निर्माण में स्थितियों को अनावश्यक रूप से घुमा-फिराकर रखा गया है । व्यक्ति के व्यक्तिगत एवं विचारगत संघर्ष के साथ उसकी सामाजिक परिवेश में अभिव्यक्ति कारण-कार्य सम्बन्ध का अनुसरण करती है,पात्रों को प्रतिक्रिया करने के लिए पर्याप्त नाटकीय स्थितियां मिलती हैं तथा स्थितियों से उत्पन्न तनाव क्रमश: संक्रान्ति स्थल तक आते-आते भी बना रहता है,क्योंकि पूर्वों का रहस्य चरम सीमा पर आकर प्रकट होता है ।

वस्तु निर्माण से तात्पर्य होता है,घटनाओं का ऐसा संगठन,जो नाटक के पूर्ण विचार को नाटकीय गति और आन्तरिक विश्वसनीयता दे । यदि घटनाओं का विकास क्रमिक, संगतिपूर्ण नाटकीय तीव्रता के साथ नहीं होता है तो विचारगत समस्या प्रभावहीन हो उठती है। चीनी आक्रमण की पृष्ठभूमि में शिवप्रसाद सिंह का 'घाटियां गूंजती हैं' नाटक समूह और व्यक्ति के मन्थन को, ग्लानि संघर्ष के रूप में लेता है । किन्तु ऐसा लगता है कि युद्ध की पृष्ठभूमि में नाटककार पूर्ण कार्य की एक आलोचना प्रस्तुत करना चाहता है । इस कारण वह सारे घटित को पत्रकार विवेक की निगाहों से देखता है और इस तरह उसे अपनी भावुकतापूर्ण बातें कहने का पर्याप्त अवसर मिलता है, जो परिवर्तनीय आयाम देने वाली नाटकीय स्थितियों के अभाव में,आन्तरिक विकास में गतिरोध उत्पन्न करती है । पूर्ण प्रभाव में यह रूप एक ----------------------

सतही नारा देने वाला नाटक बन जाता है । घटना के नाम पर पृष्ठभूमि की व्यापक स्थिति है, जिसने भिन्न प्रकार से भिन्न व्यक्तियों को प्रभावित किया है और क्रियाशील बनाया है । शोभू और रोज़, बकुला और टूरा और कैप्टन इसी स्तर पर क्रियाशील है तथा विवेक को समाचार उपलब्ध कराते हैं, क्योंकि परिवेश और उनके साथ का घटित समाचार बनने के लिए पर्याप्त है । किन्तु किसी भी घटना के बाद उत्पन्न संवेदना या स्थिति पर विवेक की भावुकता भरी, आदर्शात्मक टिप्पणी नाटक को पूर्ण गति को बाधित करती है, और नाटक प्रभाव में स्थूल रूप से एक दल या वर्ग के दोष -गुण का एक ऐतिहासिक सत्य प्रस्तुत करके रह जाता है ।

इन नाटकों में वस्तु-निर्माण मुख्य रूप से विचारों के क्रमानुगत सूत्रों से निर्मित है । घटनाएं विचार की पोष्य बनकर आती हैं, वे अपना अलग अस्तित्व नहीं बना पाती हैं । अपने प्रभाव में वे विचारों के संघर्ष कोगतिशीलता तो देती हैं, किन्तु महत्व उसमें शब्दगत अर्थापत्ति के क्रमानुगत सूत्रों का ही रहता है । समस्या को प्रस्तुत करने वाले कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जिनमें शाब्दिक अर्थापत्ति के सूत्रों के साथ ही, विचारों की अभिव्यंजना कुछ इस प्रकार की जाती है कि वहां आसन्न परिवर्तनशील घटनाओं की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है । 'मुक्ति का रहस्य', 'अलग अलग रास्ते', 'न्याय की रात', 'आषाढ़ का एक दिन', 'खंडित यात्राएँ', 'अंधा कुआं', 'रक्त कमल', 'बिना दीवारों के घर' आदि नाटकों के वस्तु निर्माण में विचारों के संघर्ष को आसन्न परिवर्तन की द्योतक घटनाओं के कारण नाटकीय मोड़ मिलता है, जिससे वस्तु का तनाव या पात्रों का संघर्ष या तो तीव्रता लेता है या समाप्त हो जाता है ।

लक्ष्मीनारायण मिश्र 'मुक्ति का रहस्य' नाटक में प्रेम और सेक्स की समस्या को लेते हैं। सेक्स को सामाजिक सन्दर्भ में नैतिकता का मापदण्ड देने के लिए नाटककार यह कल्पना करता है कि आशा देवी उमाशंकर से प्रेम करने की स्थिति में डा० त्रिभुवन से ज़हर लेकर उसकी पत्नी को दे देती है और स्वयं उससे विवाह कर लेने का स्वप्न देखती है । किन्तु विचार के दूसरे पक्ष के लिए वह डा० त्रिभुवन को बीच में लाता है, जिसकी वासना का शिकार होकर आशा देवी आत्म संघर्ष में प्रवृत्त होती है । सेक्स को व्यभिचार न बनने देने के उद्देश्य से नाटककार आशा देवी के असफल आत्मघात की कल्पना करता

है । इस घटना के कारणत्व में आशा देवी डा० त्रिभुवन से विवाह कर लेता है और उमाशंकर से क्षमा मांग कर उसे देवता के पद पर आसीन करता है ।घटना और विचार का यह अन्तर्गुम्फन वस्तु में तनाव का निर्माण कर सकता था यदि उसमें अनावश्यक प्रसंगों या दूसरी समस्याओं को लेने के लोभ का संवरण नाटककार कर पाता । वस्तु के विकास में ये स्थितियां किसी-न-किसी प्रकार के उलझाव को लेकर तो चलती है, पर आन्तरिक तर्क संगति का अभाव और पात्रों के संघर्ष में नाटकीय गहराई का अभाव इस तनाव की पुष्टि की सम्भावना को नष्ट कर देता है ।

अश्क जी 'अलग अलग रास्ते' में नारी स्वातन्त्र्य और वैवाहिक जीवन में उसके स्थान के संघर्षात्मक विचार को लेते हैं । इसके लिए दोहरे स्तर पर,पूर्ण व्यापकता के साथ,वे वस्तु निर्माण के लिए स्थितियां जुटाते हैं । वस्तु का उद्घाटन रानी को किसी भी तरह पुन: पति-गृह में भेजने के लिए अनवरत ताराचन्द की क्रियाशीलता में होता है । विचारों के क्रमानुगत सूत्रों से गुम्फित वस्तु को परिवर्तनीय आयाम देने वाली सशक्त घटना,शिवराम द्वारा यह सूचना देना कि राज का पति मदन दूसरा विवाह कर रहा है ,वस्तु के तनाव को तीव्रता देता है । यह घटना और उसके अनन्तर त्रिलोक,पूरन तथा रानी का परस्पर मत वैभिन्य वस्तु को संक्रान्ति स्थल की ओर प्रेरित करता है । इस विकास में हमारी रुचि रानी और राज की प्रतिक्रिया के स्वरूप पर टिक जाती है । जिसे अन्तिम प्रारूप मिलता है राज के श्वसुर का उसे लेने आने और शिवराम द्वारा यह सूचना लाने में कि त्रिलोक रानी को लेने आ रहा है । दोनों स्तरों पर,राज को परम्परित नारी के रूप में प्रस्तुत कर, जो श्वसुर-सेवा को ही जीवन का लक्ष्य मान लेती है तथा रानी को नये विचारों से सज्जित कर जो पुरुष की सहयोगिनी बनना चाहती है, नाटककार अपने विचार को प्रस्तुत करता है । इस निर्माण में यद्यपि वस्तु का काम तो चल जाता है,पर आद्यन्त सिद्धांत प्रतिपादन में नाटकीय भावना की उपेक्षा हो जाती है । इस दृष्टि से, त्रिलोक,पूरन और रानी का प्रसंग खटकता है ।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की रात' समाज को खोखला करने वाले भ्रष्टाचारियों से समाज के द्वन्द्वात्मक कथ्य को लेकर चलता है । नाटक का आरम्भ साधारण रूप से वस्तुस्थिति का उद्घाटन करता चलता है । एक-के-बाद-एक घटना कारण-कार्य सम्बन्ध में वस्तु को संगठित करती है । वास्तविक तीव्रता लाने के लिए नाटककार एक शरणार्थी

लड़की कमला को जो आनन्द की सहायिका बनती है, हेमन्त द्वारा अपने काले कारनामों में फंसाने की कल्पना करता है । तम्बाकू कम्पनी को बचाने के लिए हेमन्त आनन्द को धमकी देकर, कमला से कम्पनी के मैनेजर पद के स्वीकृत-पत्र और त्यागपत्र पर हस्ताक्षर करवाता है । इसी घटना का विकास नाटककार कुछ इस प्रकार प्रस्तुत करता है, जिसमें पड़कर हेमन्त को हिंसक कार्य में प्रवृत्त होना पड़ता है । हेमन्त से झूठ बुलवाकर वह कमला को आधी रात में उसके घर लाता है । कमला का हेमन्त के घर आना ही चरम में उसके आत्मघात का कारण बनता है । वस्तु निर्माण में गुम्फित ये घटनाएं वैचारिक द्वन्द्व की चरम सीमा मानी जा सकती हैं, जिनके प्रत्यावर्तन में वस्तु नाटकीय मोड़ लेती है । इस आयोजन में नाटकीय तनाव और निरन्तर गतिशीलता की अनुभूति तो होती है, किन्तु कार्य व्यापार की निरन्तर वाह्याभिव्यक्ति और कुछ पात्रगत संघर्ष की कमजोरी उसके रचनात्मक पक्ष को दुर्बल बना देता है । इसके विपरीत नरेश मेहता के 'खंडित यात्राएं' के वस्तु-निर्माण में कोई विशिष्ट गठन नहीं है । आन्तरिक विकास का अभाव तब खलता है, जब पात्र पुन: पुन: अपने को स्पष्ट करने के प्रयास में असफल होते जाते हैं । उन्हें ऐसी स्थितियां नहीं मिल पाती हैं, जिनमें व उनका व्यक्तित्व सहजता से विकास पा सके । प्रत्येक अंक के अन्त में एक महत्वपूर्ण घटना घटती है, किन्तु उससे विकसित विचार की स्थिरता भावक को देर तक सक्रिय नहीं रख पाती है, परिणामत: नाटक अपनी विशिष्टता खोता जाता है ।

इन सभी नाटकों की अपेक्षा मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' में वस्तु निर्माण नाटकीय सम्भावनाओं को आन्तरिक रूप से प्रभावित करता है । एक तो वहां अनावश्यक प्रसंगों का नितान्त अभाव है, दूसरे नाट्यान्विति तथा आन्तरिक एकसूत्रता और क्रियाशीलता वस्तु के गठन को सुसंगठ्य रूप देती हैं । नाटक का उद्घाटन अत्यन्त कुशलतापूर्वक होता है । उद्घाटन की स्थिति में मल्लिका तथा अम्बिका के वार्तालाप में इतनी क्षमता है कि प्रत्येक कथोपकथन वस्तु के गठन के साथ ही साथ पात्रों की मन:स्थिति को सूक्ष्मता से उद्घाटित करता है । प्रारम्भिक निर्माण की इस स्थिति को नाटकीय मोड़ देने के लिए नाटककार उज्जयिनी से कालिदास को राजकीय सम्मान व दिए जाने के लिए राजकर्मचारियों के आने की कल्पना करता है, जिसका पूर्ण निर्माण भावक को क्रमश: कौतूहल वृद्धि के साथ होता है । कालिदास के प्रस्थान को

मल्लिका के दायित्व पर छोड़कर एक बार पुन: यहाँ स्थिति विचारों के क्रमानुगत सूत्रों से तीव्र तनाव का निर्माण करती है । इस तनाव को गौण चरम सीमा मिलती है अन्तत: कालिदास के प्रस्थान में,जो पूर्ण वस्तु की आधारभूत प्रमुख घटना है,जिसके कारणत्व में दूसरा अंक विकास पाता है । दूसरे अंक में नाटककार प्रियंगुमंजरी को मल्लिका के घर लाकर,घर का सर्वेक्षण करते हुए भित्तियों के परिष्कार तथा किसी कर्मचारी से विवाह के उसके प्रस्ताव की परिकल्पना कर वस्तु को अप्रत्याशित प्रवाह देता है । सभी पात्र वैयक्तिक रूप से प्रतिक्रिया करते हैं।और तनाव की स्थिति में द्वार पर से कालिदास का लौट जाना नाटकीय भावना और आन्तरिक परिपाक की महत्वपूर्ण घटना है । इस घटना से एक ओर दो अंकों का विस्तार तीक्ष्ण पीड़ामयी अनुभूति दे जाता है,दूसरी ओर आगे की नाटकीय स्थितियों को गत्यात्मक आयाम देता है । अन्तिम अंक में मल्लिका की मन:स्थिति के उद्घाटन की पृष्ठभूमि में कालिदास को लाकर नाटककार वस्तु के पूर्ण प्रारम्भिक तनाव को नाटकीय स्थायित्व में बदल कर उसे संक्रान्ति की ओर प्रवृत्त करता है । संक्रान्ति की स्थिति के पूर्व विकास को प्रभावी बनाने के लिए वह विलोम के आगमन और संवाद तथा प्रकोष्ठ में बच्ची के क्रन्दन की कल्पना करता है । इस विकास में कालिदास का पुन: प्रस्थान पूर्ण वस्तु निर्माण को अन्तिम सशक्त तनाव देता है तथा पात्रों के भी सशक्त और जीवन्त संघर्ष की सम्भावना देता है । सम्पूर्ण निर्माण की ये प्रमुख स्थितियां एक-के-बाद-एक घटनाओं के उपरान्त नाटकीय तनाव को तीव्र से तीव्रतर करती हैं और इनके बीच का कार्य-व्यापार अन्य उपकरणों से नाटकीय संवेदना को गहन बनाता है ।

कुछ नाटक ऐसे हैं जो अभिनेय तो हैं या रंगमंच पर उनका अभिनेय भी हो चुका है, किन्तु स्थितियों की अतिरंजना नाटकीय प्रारूप में असन्तुलन लाती है । लक्ष्मीनारायण लाल के 'अंधा कुआं' तथा 'रक्तकमल' ऐसे ही नाटक हैं । 'अंधा कुआं' में वह ग्रामीण पृष्ठभूमि पर नारी-मन के उलझाव और पुरुष के प्रतिहिंसक मन की क्रिया-प्रतिक्रिया को प्रस्तुत करता है । पूर्ण वस्तु के विकास का कारणत्व पूर्व की घटना में है,उसी के तनाव में पात्र क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं तथा उनकी प्रतिक्रिया की गौण चरम सीमा आसन्न परिवर्तन के नाटकीय मोड़ प्रस्तुत करती है । अतीत की वह घटना जिसके तनाव की पृष्ठभूमि में वस्तु का निर्माण होता है, सुका का भगौती को छोड़कर

इन्दर के साथ भागना तथा मगौती द्वारा पकड़े जाकर मुकदमे से जीत कर घर लौटना है। सुका के वापिस लौटने पर पात्रों के आपसी उलझाव में नाटककार मगौता का प्रतिहिंसक प्रवृत्ति को सर्वोपरि कर सुका द्वारा आत्महत्या के असफल प्रयास की स्थिति को निर्मित करता है। सुका को बचा लिए जाने की घटना के कारण त्व से जुड़ी अनेक घटनाएं, जिनमें प्रमुख हैं भाइयों में बंटवारा हो जाना तथा मगौता का लच्छी से विवाह करना, पूर्ण वस्तु को अप्रत्याशित प्रवाह देती हैं। लच्छी से मगौता के विवाह की कल्पना में नाटककार सुका के चरित्र का उद्घाटन करने का पर्याप्त अवसर पाता है। लच्छी को उसके मंगेतर के साथ भगाने की घटना उसके व्यक्तित्व से सम्बद्ध होकर वस्तु को चरम सीमा की ओर प्रवृत्त करती है, जिसका पहला स्तर इन्दर-मगौती की लड़ाई में मगौती का पैर तुड़वा कर खाट पकड़ने में है और अन्तिम रूप क्रोधी इन्दर से मगौती की रक्षा करते हुए सुका का प्राण देना है। वस्तु निर्माण में कारण-कार्य सम्बन्ध और एकसूत्रता तो है, किन्तु स्थितियों की अतिशयता और अतिरंजित प्रतिक्रिया खलने लगती है। इसी तरह 'रक्त कमल' में नाटक के भीतर नाटक रखकर नाटककार तकनीकी विशेषता तो पैदा करता है, किन्तु पूर्ण वस्तु निर्माण में उसकी आन्तरिक आवश्यकता की अनुभूति उतनी तीखी नहीं हो पाती है, क्योंकि दोनों स्तरों पर सम्प्रेषित विचार इतनी जटिलता नहीं अपनाता कि वस्तु में उसके पूर्ण तनाव को संयोजित करता हो और तनाव के संयोजन में उसकी आवश्यकता पड़ी हो। वस्तुतः इन स्थितियों में एक आदर्श की भावना है, जो स्वयं में नाटकीय रूप के बहुत निकट नहीं हो पाती है तथा नाटक के गठन एवं पात्र निर्माण में तनाव तथा संघर्ष की सम्भावना देते हुए भी अपने कुल प्रभाव में कलात्मक स्तर की अनुभूति नहीं दे पाती हैं।

मन्नू भंडारी के 'बिना दीवारों के घर' में कुछ घटनाएं नाटकीय परिवर्तन की द्योतक है, जो विचारों के संघर्ष की चरम सीमा नहीं, पर विचारों के संघर्ष को नये सिरे से तीव्र करने की आधार हैं। विचारगत संघर्ष जो परिणाम या तनाव प्रस्तुत करता है, वह उस एक घटना से और विशिष्ट हो जाता है। शाब्दिक अर्थ यहां पात्रों के ग्रहण करने के मनोभावों पर निर्भर करते हैं, क्योंकि वस्तु-निर्माण में विचार का कारण-कार्य सम्बन्ध पात्रों की महत्त्वाकांक्षा, आत्म-विश्वास और

ईर्ष्या तथा प्रतियोगिता की जटिलता से भी सम्बन्धित है । पति-पत्नी के बीच का साधारण तनाव क्रमशः विकसित होता हुआ दावत की घटना से अत्यन्त उत्तेजित रूप लेता है । यद्यपि दावत में आये मेहमानों का व्यवहार अविश्वसनीय है,किन्तु वस्तु में उस घटना का होना परिवर्तनीय मोड़ को प्रस्तुत करता है । आरम्भ में कोई विशिष्ट तनाव नहीं है । शोभा के गायन कार्यक्रम के बाद उसे घर छोड़ने आये जयंत से अजित को यह कहलवाकर 'यार तुम अफ़सरी करते हो या क्लर्की ?' जब देखो तब आफ़िस में नाटककार एक साधारण तनाव की कल्पना करता है,किन्तु यही तनाव विस्तार पाता है, जयंत द्वारा शोभा के लिए लाए गए प्रिंसिपल-पद के प्रस्ताव से और जिसे गहराई मिलती है, अजित के विरोध के बाद भी शोभा के पद स्वीकार कर लेने से । इस स्थिति को एक निश्चित तनाव देने के रूप में नाटककार कुछ ऐसी घटनाओं--शोभा को क्लर्क के साथ काम करते देख कर अजित का चाय पीने बाहर चले जाना, उसका नौकरी से त्यागपत्र देना, घनिष्ठ मित्र जयन्त से उसका झगड़ा हो जाना आदि-का संयोजन करता है,जो वस्तु को पर्याप्त कसावट के साथ दावत की घटना तक लाती हैं । दावत की घटना जहां पिछले फैलाव को समेट लेती है,वहीं अजित और शोभा के सम्बन्ध को कथोपकथन की अर्थापत्ति से इतना खींचती है कि शोभा घर छोड़कर चली जाती है । नाटककार अप्पी की बीमारी के बहाने शोभा और अजित को एक बार पुनः सामने लाता है और कथोपकथन के अनुसरण में ऐसा लगने लगता है कि शायद समझौता हो जाये , किन्तु उनकी बौद्धिकता उनकी भावुकता पर हावी होकर उन्हें बरबस वह कहने से रोक लेती है, जो वे कहना चाहते हैं । शोभा के पुनः चले जाने की स्थिति नाटक के संघर्ष को सघन करती है । वस्तु निर्माण की दृष्टि से कुछ एक अनावश्यक प्रसंगों को छोड़कर जिनका होना न होना एक मूल्य से आंका जा सकता है, शेष वस्तु का गठन पात्रों की प्रतिक्रिया के लिए पर्याप्त अवसर देता है ।

देखा जाय तो इनकी अपेक्षा भी अधिकांश नाटक ऐसे मिलेंगे जो किसी समस्या को लेकर चलने के कारण वस्तु निर्माण में विचारों के क्रमानुगत सूत्रों तथा आसन्न परिवर्तन की द्योतक घटनाओं को लेते हैं । साधारण रूप से इन नाटकों के वस्तुनिर्माण

में अनावश्यक प्रसंगों का त्याग किया गया है । रंगमंच को दृष्टि में रखने के आग्रह के कारण पूर्ण गठन किसी स्तर तक नाटकीय तनाव की प्रस्तुति भी करता है । इसी कारण इन नाटकों में महत्वपूर्ण हो उठता है पात्र निर्माण । क्योंकि पात्रों को यदि स्थितियां मिले तो उनका संघर्ष नाटक को सुक्षमता देने में समर्थ होने लगता है ।

चरित्र प्रधान / नाटककार जब विशेष रूप से नाटकीय कथ्य को सूक्ष्मता से ग्रहण करता है तो स्वभावत: पात्रों का मानसिक संघर्ष वस्तु निर्माण में महत्वपूर्ण हो उठता है । घटना और विचार के साथ हमारी दृष्टि पात्र के ग्रहणात्मक क्षणों में, तथा उनको व्यक्त करने की स्थिति में उसके पूर्ण व्यवहार पर,जो प्रतिक्रिया और चिन्तन से निर्मित होता है,जाती है । नाटककार आंतरिक सूक्ष्मता को उद्घाटित करने के लिए पात्र को किसी ऐसी स्थिति में प्रस्तुत करता है, जो उसके आन्तरिक द्वन्द्व को उत्तेजित कर वाह्य प्रतिक्रिया में प्रस्तुत करे । पात्र का संघर्ष एक ही स्थिति के दो विरोधात्मक तथा समानरूप से महत्वपूर्ण प्रश्नों में चुनाव के लिए होता है । दो विरोधी विचारों या मनोवेगों में किसी एक को लेना कठिन हो जाता है,क्योंकि किसी एक नाटकीय स्थिति में एक पक्ष प्रबल हो सकता है, और दूसरी में दूसरा । इससे वस्तु में जटिलता आती है और यह जटिलता ही हमारे औत्सुक्य और रुचि को बनाये रख पाती है । मन:स्थितियों को तीव्रता देने के लिए घटनाएं और अर्थगर्भित कथोपकथन, दोनों ही वस्तु-निर्माण में प्रयुक्त होते हैं । व रंगमंच पर प्रदर्शित मानसिक संघर्ष नाटकीय रूप में पूर्वापर सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है । विष्णु प्रभाकर का 'डाक्टर' यद्यपि वैयक्तिक संघर्ष को लेकर चलता है, पर वस्तु का विकास पर्याप्त तीक्ष्णता और तीव्रता से नहीं होता है । डाक्टर अनीला का द्वन्द्व आरम्भ से ही स्थूल लगने लगता है और उसकी परिणति पर्याप्त आकस्मिक लगती है । मोहन राकेश के तीनों नाटकों में व्यक्ति के आन्तरिक संघर्ष और उसकी दूसरों के सन्दर्भ में अभिव्यक्ति पूर्ण गठन को एक प्रारूप देती है, तो भी 'लहरों के राजहंस' में यह संघर्ष अधिक स्पष्ट है ।

वस्तु निर्माण में एक पूर्ण स्थिति है, कुमार सिद्धार्थ का बुद्ध हो कर लौटना और देवी यशोधरा का दूसरी प्रात: भिक्षुणी का वेश धारण करने का संकल्प लेना ।

इस स्थिति से पूरे वातावरण में एक तनाव-सा है, जो भय तथा संशय के रूप में सब के मन में घर कर गया है । जिसकी प्राथमिक अभिव्यक्ति,वस्तु के उद्घाटन में सुन्दरी के कामोत्सव के आयोजन में होती है । वस्तु निर्माण का यह प्रारम्भिक प्रारूप अत्यन्त सशक्त है,क्योंकि इसके आधार पर पूर्ण वस्तु का तनाव तो निर्मित होता ही है, पृष्ठभूमि के पूर्ण कार्य के कारणत्व में प्रत्येक पात्र का आन्तरिक संघर्ष सम्बद्ध होकर नाटकीय एकसूत्रता तथा नाट्यान्विति का निर्माण (भी) करता है । इस आयोजन के अन्तिम निर्देश के साथ तैयारी की स्थिति में नन्द जिस मानसिक स्थिति में प्रवेश करता है, उससे वस्तु को अनपेक्षित प्रवाह मिलता है । इसी तरह मैत्रेय का प्रवेश सुन्दरी को उत्तेजित कर, उसके रह-रहकर प्रकट होने वाले संशय को निश्चित रूप देता और वस्तु को एक गौण चरम सीमा देता है । नन्द इस स्थिति से अपने संशय में और भी अन्तर्मुखी हो जाता है । पृष्ठभूमि में श्यामांग का प्रलाप साधारण रूप से नन्द के संघर्ष को व्यंजित करता है । नन्द के आन्तरिक संघर्ष की यह स्थिति सुन्दरी के जागरण से पुनः तीव्र तनाव में विकास पाता है । सुन्दरी के प्रसाधन में सहायता के बहाने नाटककार दोनों को एक साथ प्रस्तुत करता है तथा पृष्ठभूमि की गतिविधि के सहारे उनके संघर्ष को व्यक्त करता है । 'बुद्धं शरणं गच्छामि' की निरन्तर समीप आती ध्वनि के रूकते ही नन्द के हाथों दर्पण का गिर कर टूट जाना तनाव की महत्त्वपूर्ण गत्यात्मक घटना है,जिसके कारण नन्द नदी तट तक जाकर लौट आने की कामना सुन्दरी के सामने व्यक्त करता है । वस्तु निर्माण में सुन्दरी का नन्द को जाने देना एक प्रमुख नाटकीय स्थिति है । हमारे कौतुहल को नाटकीय आयाम देने के लिए नन्द के प्रसंग को यहीं छोड़कर नाटककार सुन्दरी की ओर प्रवृत्त होता है । कमलताल से राजहंसों के उड़ जाने की घटना अपने प्रतीक में भवितव्यता की ओर संकेत कर नन्द के अब तक न लौटने को व्यंजित करती है । इस घटना से भयभीत सुन्दरी को अनुरोध पूर्वक अलका द्वारा बुलाकर नाटककार श्वेतांग के माध्यम से नन्द के केश काटे जाने की सूचना देता है । आनन्द के साथ आकर नन्द सुन्दरी का निद्रावस्था में अपने आन्तरिक संघर्ष को तीव्रता से भोगता है । वस्तु-निर्माण में नन्द और सुन्दरी को पुनः सामने लाना पूर्ण तनाव की गहराई से प्रभावित करने वाली स्थिति है, किन्तु

पात्र निर्माण में यही स्थिति सुन्दरी की हताशा के कारण संघर्ष की तीखी सम्भावना को विश्रृंखलित कर देती है। नन्द का श्वेतांग द्वारा दिए गए विवरण को दोहराना आकर्षित नहीं करता है। प्रारम्भ में प्रस्तुत नाटकीय तनाव तीसरे अंक में पात्रों के संघर्ष की सम्भावना के समाप्त होने के कारण विशृंखलित हो जाता है। 'आधे-अधूरे' में इस दृष्टि से तनाव की तीव्रता में शिथिलता नहीं आती है। 'आधे अधूरे' और शान्ति मेहरोत्रा का 'एक और दिन' अपने कथ्य में एक-दूसरे के निकट हैं, अन्तर केवल प्रस्तुति का है। इन नाटकों की साधारण स्थितियाँ पात्रों को प्रतिक्रिया करने के लिए महत्त्वपूर्ण आयाम तो देती है, पर स्वयं में तीव्र आसन्न परिवर्तन की द्योतक नहीं है। इसी तरह शाब्दिक अर्थापत्ति में केवल विचारों के क्रमानुगत सूत्रों की ही प्रधानता नहीं है, पर पात्रों के आन्तरिक संघर्ष का भी समन्वय है। 'आधे अधूरे' में तो फिर भी नाटक को नाटक बनाने का प्रयास हुआ है, क्योंकि अन्तराल से पूर्व का पूर्ण संयोजन जिस अनुभूति की व्यंजना करता है, उसी की पूर्ण व्याख्या अन्तराल के उपरान्त हुई है, किन्तु 'एक और दिन' में एक पूर्ण स्थिति, विचार या आन्तरिक संघर्ष को तटस्थता से साधारण दिनचर्या में दिखाया गया है। कुल मिलाकर दोनों नाटक सूक्ष्म अन्तर के आधार पर समस्या तथा चरित्र प्रधान के संधि स्थल पर खड़े हैं, वस्तु निर्माण में दोनों आयामों की विशिष्टता को देखा जा सकता है। 'आधे अधूरे' में सावित्री आफ़िस से लौटकर प्रतिदिन की भाँति घर को संभालती है और इस एक शाम को महेन्द्रनाथ को बताती है कि उसके आफ़िस का बॉस घर आने वाला है। इस एक संवाद की अर्थपरक ग्राह्यता विकास में एक ओर पति-पत्नी के बीच के तनाव को तीखा करता है और दूसरी ओर उनके चरित्र की जटिलता के कारण रूप में वस्तु को गत्यात्मक तनाव देती है। पति-पत्नी के बीच उभरे इस तनाव में बड़ी लड़की बिन्नी का अस्तव्यस्त मनःस्थिति में प्रवेश नाटकीय तनाव को बड़ी गम्भीरता एवं कुशलता से तीखा करता है। बिन्नी की मनःस्थिति के उद्घाटन में छोटी लड़की किन्नी का तेज तर्रार रूप में प्रवेश तथा लड़के अशोक का किन्नी की शिकायत करते हुए प्रवेश, महेन्द्रनाथ का तनाव की चरम सीमा पर घर से बाहर चले जाना, सावित्री के बॉस का आना जैसी स्थितियां अपने आप में विशिष्ट परिवर्तन की द्योतक घटनाएं नहीं हैं, किन्तु पात्रों के आवागमन की ये

स्थितियाँ पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन करते हुए वैचारिक क्रमानुगत सूत्रों के साथ वस्तु निर्माण में तनाव तथा आन्तरिक विकास को प्रभावित करती हैं । परिणामत: साधारण लगने वाली ये स्थितियाँ पात्रों की चारित्रिक जटिलता का उद्घाटन करने वाली विशिष्ट घटनाएँ बन जाती हैं । अशोक के एक कथन 'जब नहीं निभाया जाता है तभी तो क्यों निभाये जाना है' के क्रमश: विकास से वस्तु को अप्रत्याशित प्रवाह मिलता है, जो मध्यान्तर के पूर्व के तनाव को चरम सीमा भी देता है और अपना आर्थिक अर्थापत्ति में जुनेजा तथा सावित्री के प्रसंग तक के पूर्ण कार्य व्यापार को आन्तरिक त्रासदी और बाह्य सघनता से पोषित कर तीव्र गत्यात्मक आयाम भी प्रदान करता है । जगमोहन का प्रसंग सावित्री की आन्तरिक जटिलता की अभिव्यक्ति में सहायक होता है । जुनेजा और सावित्री का आपसी वार्तालाप महेन्द्रनाथ और सावित्री के वैयक्तिक एवं परस्पर तनाव की व्याख्या करता है तथा महेन्द्रनाथ का अन्त में लौट आना एक प्रकार से पूर्ण तनाव को कैद कर गहराई देने का चरम स्थल है । देखा जाय तो सावित्री और जुनेजा के प्रसंग में पूर्व के तनाव को, जो पात्रों के व्यवहार और उनके संवाद में व्यंजित है, नाटककार प्रत्यक्षत: व्याख्यायित करता है जिससे नाटक में तीखापन और भी उभर आता है, किन्तु 'एक और दिन' में वस्तु को अनावश्यक रूप से विस्तार देने से नाटककार बचता है । यहाँ वस्तु निर्माण में उलझाव नहीं है, पर अत्यन्त साधारण कथोपकथनों से व्यंजित क्रमानुगत अर्थ, पात्रों की वैयक्तिकता का उद्घाटन करते हुए वस्तु को तनावमय आन्तरिक विकास देते हैं । स्त्री द्वारा अतीत और वर्तमान, जो था, जो है और जो है नहीं, की कल्पना स्वप्न में देखना वस्तु निर्माण में अत्यन्त सशक्त प्रयोग है, जो अपनी सूक्ष्मता में वस्तु को सुसंगठित बनाता है । इसी कारण 'एक और दिन' में 'आधे अधूरे' का तीखापन नहीं आया है, पर पूर्ण नाटकीय तनाव की अभिव्यक्ति अन्तर्निहित और आन्तरिक है ।

वातावरण प्रधान / नाटककार जब जीवन के यथार्थ को, सामाजिक वातावरण या परिवेश को कहीं अधिक सूक्ष्मता से ग्रहण करता है तो नाटक का पूर्ण कार्य व्यापार सांकेतिक रूप से वस्तु में अन्तर्निहित रहता है । नाटकीय तनाव प्रत्यक्षत: घटनाओं या मनोभावों में व्यक्त न होकर सांकेतिक रूप से व्यक्त होता है । इस सन्दर्भ में नाटककार का प्रमुख उद्देश्य किसी पात्र का चरित्र-

चित्रण करना, या कोई निश्चित कहानी कहना न होकर, रंगमंच पर जीवन के किसी व्यापक दृष्टिकोण अथवा पक्ष की जीवन्त कल्पना का नाटकीय प्रस्तुतीकरण हो जाता है। घटनाओं के चुनाव में उसका दृष्टि विशेष ... से पूर्ण तनाव की ... पर जाती है, जिसे वह सशक्त रचनात्मक भाषा के माध्यम से व्यंजित करता है। प्रतीकात्मक रूप में तो लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस', ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुर्मुर्ग' तथा जगदीशचन्द्र माथुर का 'पहला राजा' भी है, किन्तु इन नाटकों के प्रतीक अत्यन्त कमजोर हैं। वस्तु निर्माण परम्परित रूप में वैचारिक क्रमानुगत सूत्रों, शाब्दिक अर्थापत्ति तथा आसन्न परिवर्तन की द्योतक घटनाओं के संयोजन से होता है। प्रतीक इस आयोजन में आरोपित लगते हैं तथा पूर्ण विकास में अपनी सांकेतिकता भी खो देते हैं। 'मादा कैक्टस' और 'पहला राजा' के पात्र तो नाटकीय संघर्ष को प्रभावित भी करते हैं। किसी समस्या या विचार को लेकर पात्र संघर्षरत है और साधारण रूप से दोनों नाटकों की वस्तु में ...,उलझावभरी स्थितियों का अभाव भी नहीं है। कारण-कार्य सम्बन्ध से सम्पृक्त स्थितियां तनाव और उत्सुकता के नियम को भी निबाहती हैं, तथा पात्रों को प्रतिक्रिया करने का अवसर भी देती हैं, किन्तु पात्र-निर्माण की कमजोरी संघर्ष के नाटकीय रूप को पोषित नहीं कर पाती हैं। इनकी अपेक्षा 'शुतुर्मुर्ग' व्यापक परिवेश की अनुभूति को स्थूल सांकेतिकता में बदल कर उसके आन्तरिक तनाव को विकसित होने का अवसर नहीं देता। प्रतीक के माध्यम से अनुभूति को व्यक्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रतीक अन्त तक प्रतीक ही बने रहें। किन्तु इस नाटक में शुतुर्मुर्गीय प्रवृत्ति की बार-बार व्याख्या कर नाटककार उसे स्पष्ट कर देता है और इस तरह युग की संवेद्य अनुभूति भावक तक केवल युग यथार्थ के रूप में सम्प्रेषित होती है। वस्तु निर्माण की दृष्टि से यह नाटक 'नेफा की एक शाम' के वस्तु-विन्यास के निकट है। छोटी-छोटी घटनाएं अनुभूति के भी कारण रूप में एक-के-बाद-एक स्थिति का उद्घाटन करती चलती हैं और ये सभी स्थितियां नाटकीय गति को तीव्र से तीव्रतर करती हैं। पूर्ण प्रभाव में यह नाटक न तो सशक्त व्यंग्य बन पाता है न ही हास्य, बस दोनों का मिला-जुला रूप इसमें देखा जा सकता है, जो साधारण रूप में रंगमंच पर सफलता से अभिनीत होकर अपना एक निश्चित प्रभाव भी प्रेक्षक पर डालता है, क्योंकि

किन्तु वह सारा आयोजन स्तरीय है, प्रभाव में स्थूल है, प्रेक्षक को गहराई से उद्वेलित करने में पंगु-सा है, तात्पर्य सम-सामयिकता की अनुभूति तो भिन्न स्तरों पर होती है पर जागरूक प्रेक्षक उससे अधिक कुछ चाहता है और वहां इससे उपलब्ध नहीं होता है ।

इन नाटकों की अपेक्षा भुवनेश्वर, विपिन अग्रवाल और लक्ष्मीकान्त वर्मा के नाटक संवेद्य अनुभूति को जिस सांकेतिकता और तनाव से व्यंजित करते हैं, वह अपेक्षाकृत अधिक नाटकीय है । इन नाटककारों के नाटकों में देखा जाय तो एक आन्तरिक तनाव है, जो न तो वस्तु निर्माण में सशक्त घटना-विन्यास के कारण है और न ही पात्रों के संघर्ष के कारण । दोनों ही स्तर यहां आत्मसात् कर लिए गए हैं, और उसकी अभिव्यक्ति में निर्मम बौद्धिकता में नाटककार की अपनी क्षमता के अनुसार हुई है । भुवनेश्वर तो अपनी अनुभूति को (कुछ नाटकों में) एक क्रम देने का प्रयास भी नहीं करते हैं, पर पूर्ण अव्यवस्था को एक सूत्र से सम्पृक्त कर नाटकीय रूप दे देते हैं । राजकमल चौधरी का 'भस्त मग्न स्तूप का अक्षत स्तम्भ' भी इसी रूप के निकट है, जब कि विपिन अग्रवाल तथा लक्ष्मीकान्त वर्मा के नाटकों में संवेद्य अनुभूति एक व्यवस्था में, क्रमिकता में अभिव्यक्त हुई हैं।

इन नाटकों के वस्तु निर्माण में कोई भी घटना या विचार-विस्फोटक या उत्तेजक रूप में प्रस्तुत नहीं होता है । किसी स्थिति-विशेष से नाटक में गत्यात्मक परिवर्तन आता हो ऐसा भी नहीं है । परम्परित रूप में घटित का अभाव यहां है । पात्रों का व्यवहार, उनके कथन और उनका मौन, भाषा की अर्थपरक व्यंजकता, पात्रों का आना-जाना, कोई विशिष्ट या अविशिष्ट हरकत आदि अपने असाधारणत्व में नाटककार की अनुभूति को, जो वस्तु का आधार है, प्रस्तुत करते हैं । पात्रों का चरित्र विकास नहीं पाता, पर वे पात्र टाइप नहीं हैं, उनकी प्रकृति की जटिलता स्वभाव से है, वे नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक वैसे ही बने रहते हैं, और उनका वैसा ही बना रहना पूर्ण तनाव को नाटकीय महत्त्व और गूढ़ता देता है । शम्भुनाथ सिंह के 'दीवार की वापसी' में वस्तु को विकास देने वाले फिर भी कुछ सशक्त सूत्र हैं, जो विचार को प्रभावित करते हैं, पर इस स्तर के अधिकांश नाटकों में संश्लेषण प्रधान विचार सूत्र, या शृंखलाहीन विचारों की बहुअर्थ व्यंजना या ग्राह्यता महत्त्वपूर्ण हो उठती है । संक्षेप में ये नाटक नाटकीय संवेदना के स्तर पर प्रस्तुत होते हैं, ऐसी संवेदना जिसमें

नाटककार सभी सहायक उपकरणों को उपेक्षित कर केवल भाषा के अर्थ संचरण पर निर्भर करता है । वस्तु के रूप में उसके पास एक निश्चित या साधन अनुभूति है, और भाषा तथा पात्र उसके उपकरण हैं । संवेदना की गहराई में वाह्य क्रियाहीनता वस्तुत: आन्तरिक क्रियाशीलता से निर्देशित है,और वाह्य रूप से स्थिर लगने वाली नाटकीय गति तीव्र आन्तरिक उथल-पुथल और गति से संचालित है । आकार में एकांकी जैसे दिखने वाले ये नाटक अन्तर्निहित पूर्णता के कारण अपने-आप में एक पूर्ण नाट्य रूप हैं । इस कारण अपने प्रभाव में वे एक पूर्ण अनुभव उपलब्ध कराते हैं, सम्भवत: षष्ठ परिच्छेद में इन नाटकों पर विचार किया जा सके ।

मिश्रित / कुछ नाटक कथा,विचार,चरित्र और किसी व्यापक संवेदना को लेकर चलने के कारण दूसरे नाटकों को अपेक्षा अधिक जटिलता का आभास देते हैं । ऐसे नाटकों की कथा केवल एक ही आयाम से विकसित न होकर सभी से सम्पृक्त रहती है । वस्तु निर्माण में कुछ अंश विचार,कुछ आन्तरिक संघर्ष, कुछ कथा और परिवेश महत्वपूर्ण रोल अदा करते हैं । महत् घटनाएं, चरित्रगत और विचारगत संघर्ष,परिवेश की अभिव्यंजना साथ-साथ प्रतिबद्धता से गुम्फित रहता है । धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' ऐसा ही एक नाटक है । घटनाओं,चरित्र द्वन्द्व और कथोपकथन की सघनता से अत्यन्त कुशलतापूर्वक महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की कथा को वस्तु में संयोजित किया गया है । घटनाओं भरी इस प्रमुख कथा के साथ युद्ध पर आस्था,अनास्था के प्रश्न के साथ उसकी रचनात्मक उपलब्धि,जीवन के विकास के विचार तथा पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व की शक्ति का वाह्यान्तर भी गुम्फित है । नाटक वहां से प्रारम्भ होता है जहां घटनाओं भरी कथा समाप्त हो जाती है । प्रारम्भिक स्थितियों के निर्माण के लिए नाटककार प्रहरियों के माध्यम से बीत गये महाभारत की गहरी उदासी और घनीभूत नीरवता की भयंकरता को आगे की घटनाओं के लिए निर्मित करता है । इस उद्घाटन से अतीत का तनाव विकास की स्थिति में सघन होता जाता है । घटित के रूप में प्रहरियों का वार्तालाप तथा अन्य पात्रों का प्रवेश, उनका कथोपकथन तनावपूर्ण वातावरण का निर्माण करते हैं । तनावकी यह स्थिति दूसरे अंक में अश्वत्थामा के आन्तरिक द्वन्द्व और उसकी अभिव्यंजना से नाटकीय तनाव को तीव्र करती है । यह अभिव्यंजना दो

हत्याओं में होता है जो कि अत्यन्त प्रभावोत्पादक है । तीसरे अंक में एक ओर कौरव नगरी के पात्रों को आगे का हाल जानने की जिज्ञासा और दूसरी ओर क्षत-विक्षत सैनिकों का युद्ध-भूमि से लौटना सांकेतिक अर्थ में युद्ध-समस्या की ओर निर्देश करता है और वस्तु निर्माण के सन्दर्भ में नाटक के पूर्ण विकास को गहराई देता है । कौरवों की पराजय और दुर्योधन के द्वन्द्व युद्ध में हारने की घटना के बीच नाटककार शाब्दिक अर्थापत्ति और भाषागत आधार पर वस्तु को विकास देता है । देखा जाय तो अश्वत्थामा के विक्षोभ को, उसके अन्तर्दहन को सक्रियता में बदलने के लिए वह यह सब स्थितियां जुटाता है । दुर्योधन का भीम से पराजय, अश्वत्थामा के संघर्ष को उभारने की महत्वपूर्ण स्थिति है, जहां उसके प्रतिशोध की बिखरी विचारधारा निश्चित रूप लेने को व्याकुल होती है तथा बलराम के कथन में अपने सत्य को पाती है। अंत दुर्योधन से अश्वत्थामा का अभिषेक करवा कर नाटककार उलूक तथा कौवे के द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है और अश्वत्थामा को तीव्र क्रियाशीलता में प्रवृत्त करता है, जिसमें वह पाण्डवों को निःशस्त्र तथा अचेतन अवस्था में मारने के लिए जाता है । अश्वत्थामा की क्रियाशीलता की स्थिति से लेकर एक-के-बाद-एक क्रमबद्ध घटनाओं के संयोजन से गांधारी शाप तक की घटना वस्तु निर्माण में कथा को प्रधानता देती है । इसतरह वस्तु को नाटकीय मोड़ देने के कारण अश्वत्थामा का पाण्डव शिविर की ओर प्रस्थान एक महत्वपूर्ण नाटकीय स्थिति बन जाती है, जो वस्तु को विस्तार देने के साथ एकसूत्रता भी देता है । यहां से घटनाएं कारण-कार्य सम्बन्ध की क्रमबद्धता में अत्यन्त तीव्रता से घटती हैं । अश्वत्थामा द्वारा अपने पिता हन्ता का वध तथा पाण्डव-शिविर को तहस-नहस करने की घटना के साथ ही दुर्योधन की मृत्यु और गांधारी का आर्तनाद, अश्वत्थामा के संकल्प, ब्रह्मास्त्र चलाकर उत्तरा को पुत्रविहीन करने के लिए पर्याप्त कारण देता हुआ नाटककार वस्तु को गहन तनाव की स्थिति पर ले आता है । इधर संजय की दिव्य दृष्टि का हरण, धृतराष्ट्र, गांधारी, विदुर तथा युयुत्सु को कौरव नगरी छोड़ने पर बाध्य करता है जिससे नाटकीय कसावट बनी रहती है । अश्वत्थामा द्वारा पाण्डव शिविर के विनाश की घटना कृष्ण तथा अर्जुन को उससे युद्ध करने पर विवश करता है और इसी स्थिति में अश्वत्थामा के क्रोध की चरम सीमा नाटकीय संघर्ष की संक्रान्ति की सम्भावना

में बदलती है । ब्रह्मास्त्र को वापिस लेने की असमर्थता के कारण रूप से संपृक्त पूर्ण विकास कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा को भ्रूण शाप देने की घटना में बदलता है । कृष्ण का शाप देना उस स्थिति का निर्माण करता है, जिसमें गांधारी अपने सम्पूर्ण अन्तर्दाह की प्रतिक्रिया में कृष्ण को शाप देती है । कृष्ण द्वारा शाप को स्वीकार कर लेना पूर्ण तनाव और संघर्ष का क्रान्ति स्थल है । तीव्र घटनाओं की यह प्रतिबद्ध शृंखला, अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र फेंकने से कृष्ण द्वारा शाप ग्रहण करने तक में वस्तु के पूर्ण तीखे तनाव को अत्यन्त सक्रिय नाटकीय बोध देकर चरम सीमा का निर्माण करती है और यहां से प्रत्यावर्तन रूप में एक बार पुन: विचारों के क्रमानुगत सूत्र वस्तु निर्माण में प्रमुख हो उठते हैं । नाटककार चाहता तो, वैसे इसी चरम सीमा पर वस्तु को समाप्त कर सकता था, किन्तु किन्हीं चिरन्तन प्रश्नों को प्रस्तुत करने के लोभ में वह वस्तु को कृष्ण की मृत्यु तक विकसित करता है । और यह सारा विकास विचारगत संघर्ष में होता है । इस तरह पूर्ण वस्तु विन्यास, वस्तु निर्माण के कल्पित आयामों के समन्वय का रूप है ।

रूपाकार

अपने-आप में यह विभाजन बड़ा स्थूल लग सकता है । इस विभाजन का किन्तु यह अर्थ नहीं है कि 'कोणार्क' केवल तीव्र घटनाओं का संयोजन है और 'आषाढ़ का एक दिन' केवल वैचारिक क्रमानुगत सूत्रों का विन्यास है या 'लहरों के राजहंस' केवल व्यक्ति के संघर्ष का क्रमानुगत संयोजन है । कार्य की तीव्रता, विचारों और आवेगों का संघर्ष तो किसी-न-किसी रूप में सभी नाटकों के वस्तु निर्माण में अन्तर्निहित रहता है । यह बात अलग है कि किसी एक नाटक के वस्तु निर्माण में किसी एक पक्ष को महत्त्व मिला है और दूसरे में दूसरे को । कलागत रचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो किसी द्वन्द्वात्मक विचार या चारित्रिक संघर्ष अथवा पूर्ण तनाव को संवेदना के स्तर पर लेकर चलने वाले नाटक क्रमश: कहीं अधिक नाटकीय सम्भावनाएं देने लगते हैं, क्योंकि सूक्ष्मता के कारण इन रूपों में तनाव की सम्भावना अधिक होती है । कार्य व्यापार को अधिक महत्त्व देने वाले नाटकों में, कार्य व्यापार की बाह्याभिव्यक्ति के कारण यह सम्भावना कम हो जाती है । यदि तीव्र कार्य व्यापार के मध्य नाटककार किसी सूक्ष्म संघर्ष को कल्पित नहीं करता है तो नाटक का पूर्ण कार्य

व्यापार घटनाओं के तीखेपन में बाह्य या स्थूल लगने लगता है । महत्व चाहे वस्तु निर्माण में तीव्र कार्य को मिले या विचारों के द्वन्द्व या व्यक्ति के आन्तरिक संघर्ष को मिले पर पूर्ण नाटक की सफलता वस्तु निर्माण में व्यंजित हो जाती है । वस्तु निर्माण में अनावश्यक प्रसंग एवं विस्तार, कारण-कार्य सम्बन्ध का अभाव, घटनाओं की कमी या अतिशयता, नाटकीय स्थिति की उपेक्षा, अतिरंजित स्थितियाँ आदि के कारण ऐसा भी हो सकता है कि सशक्त पात्रगत संघर्ष नाटक को रचनात्मक स्तर देने में असमर्थ हो जाय। स्पष्ट है कि वस्तु निर्माण में नाटकीय स्तर का गठन अपेक्षित है, जो पर्याप्त गतिशील स्थितियाँ देते हुए आन्तरिक तनाव और गतिशीलता को प्रभावित करे । वस्तु की शिथिलता पूर्ण नाटक को पंगु बना देती है ।

विवेचित नाटकों को देखें तो घटना-विन्यास के कुछ विशेष रूप मिलेंगे । या तो नाटककार वस्तु निर्माण में एक स्थिति प्रस्तुत कर, उस स्थिति से कारण-कार्य-सम्बन्ध से सम्बद्ध आसन्न परिवर्तन की द्योतक घटनाओं की क्रमबद्ध श्रृंखला को लेता है, अथवा किसी परिवर्तनशील आयाम देने वाली घटना के परिणाम में भिन्न स्थितियों के गतिरोध से वस्तु को निश्चित रूप देता है, या कभी आसन्न परिवर्तन की द्योतक कोई घटना वस्तु में नहीं रहती है, केवल एक-दूसरे से निःसृत कुछ स्थितियाँ रहती हैं, जो आवश्यक नहीं अपने चरम में विशिष्ट परिवर्तनीय मोड़ ले ही । जिस तरह वस्तु-विन्यास में कहीं आसन्न परिवर्तन की द्योतक घटनाओं का महत्व बढ़ जाता है, कहीं गौण घटनाओं का तो कहीं साधारण स्थितियों का, उसी तरह कहीं वस्तु कथा की समाप्ति से आरम्भ होकर अतीत और वर्तमान को साथ-साथ उद्घाटित करती है, कहीं वर्तमान से ही आरम्भ होकर किसी अन्त की ओर अग्रसरित होती है, और कहीं पूर्ण कथा के मध्य से आरम्भ होती है । इस सारे वैभिन्न्य में भी इतना निश्चित है कि नाटक के प्रारम्भ से ही कुछ-न-कुछ होना आरम्भ हो जाता है, जो भले ही संघर्ष न हो, पर संघर्ष की पूर्वपीठिका होती है और यह कुछ होना ही वस्तु निर्माण का स्थूल आधार है, प्राथमिक आयाम है । घटनाएं स्वयं में तो संघर्ष की अनुभूति देती हैं, पर जिस प्रकार उन्हें नाटकीय संरचना में गुम्फित किया जाता है, उसमें भी संघर्ष की प्रक्रिया अन्तर्निहित है । छोटी-बड़ी घटनाएं घात-

प्रतिघात से ही वस्तु को चरम सीमा की ओर प्रेरित करता हैं । नाटक का सूक्ष्म संघर्ष, जो पात्रों का संघर्ष है, वस्तु के कंकाल में अपनी नींव [illegible] कर लेता है, जिसे पात्र, क्रिया, भाषा, हाव-भाव से पात्र प्रस्तुत करते हैं । पात्र निर्मित वस्तु में अन्तर्निहित [illegible] स्थितियों पर अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया से प्रकाश डालते हैं और उनका संघर्ष, जो नाटक का सूक्ष्म संघर्ष है, वस्तु निर्माण पर आधारित रह कर विकसित होता है । अतः वस्तु निर्माण पूर्ण नाटकीय निर्माण की नींव है ।

-0-

"पात्र का विकास, सम्बन्धों को नाटकीय अर्थ में अभिव्यक्त करता है । ... परस्पर विरोध और प्रतिक्रिया में वे नाटकीय अर्थों को उद्घाटित करते हैं तथा नाटकीय कार्य-व्यापार को निर्देशित करते हैं ।"

--जे० एल० स्तयान् : 'द एलिमेन्ट्स आफ़ ड्रामा' से

पंचम परिच्छेद

-0-

पात्र-निर्माण

संघर्ष के सन्दर्भ में पात्र-निर्माण

वस्तु निर्माण के सन्दर्भ में घटनाओं के प्रतिबद्ध संयोजन पर महत्त्व दिया गया है । नाटक विभिन्न घटनाओं या स्थितियों के ऐसे संयोजन की अपेक्षा करता है,जो किसी अर्थपूर्ण अनुभूति या समन्वित दृष्टि को अभिव्यक्त करती हुई जान पड़े । वहां दृष्टि इस अर्थपूर्ण अनुभूति की अभिव्यक्ति की ओर है न कि उन स्थितियों में पड़कर पात्र क्या करते हैं की ओर है । घटना विन्यास मूलत: व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है, इस रूप में कथावस्तु का चरित्रों के व्यक्तित्व के विकास से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । पात्रों की गत्यात्मकता का बोध भी घटनाओं के मध्य से होता है, अत: यह स्वाभाविक ही है कि नाटकीय उलझन या कश-म-कश पात्रों को लेकर हो । साधारणतया नाटक की सूक्ष्म रूप से व्याख्या या विश्लेषण करते हुए पात्रों को ही विश्लेषित किया जाता है । 'दर्पन' या 'आधे-अधूरे' अथवा किसी भी अन्य नाटक की विवेचना करते हुए हम पूर्वी या सावित्री अथवा प्रमुख पात्रों के संघर्ष की चर्चा करते हैं,क्योंकि 'कार्य चाहे तीव्र हो, चाहे उत्तेजक, जब तक वह किसी पात्र का नहीं होता, ऊबा देने वाला होता है[१]।' रंगमंच पर हम पात्रों की क्रियाशीलता देखना

---

१ क्लिन्थ ब्रुक्स तथा राबर्ट हेलमैन : 'अंडरस्टैन्डिंग ड्रामा',पृ० ११

चाहते हैं, उनका संघर्ष चाहते हैं, ऐसा संघर्ष जो उन्हें वाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों के दबाव में बदले, और बदलते हुए उनके संकल्प से परिस्थितियाँ, परिवेश तथा अन्य व्यक्ति बदल सकें । प्राच्य और पश्चिमी नाट्यालोचक आज कथावस्तु की अपेक्षा पात्र-रचना को महत्व देने लगे हैं । रस और कथाश्रित रूपी उद्देश्य जीवन से संघर्ष करते पात्रों के चित्रण में परिवर्तित हो गया है, फलत: पात्रों का चारित्रिक विकास महत्वपूर्ण माना जाने लगा है । अति की दो स्थितियां, कि नाटक केवल स्थितियों और घटनाओं का क्रमबद्ध आयोजन है, या केवल चरित्र-चित्रण, अपने में भ्रामक परिकल्पना है । नाटक वास्तव में दोनों का समन्वय है, पात्रों तथा घटनाओं का अन्तर्गुम्फन है[१] । गॉल्सवर्दी का यह कहना कि "पात्र स्थितियां हैं[२]" इस सत्य की ओर इंगित करता है कि पात्र ही नाटक में कार्य को किसी निश्चित आयाम की ओर ले जाते हैं । रंगमंच से सम्बद्ध होने के कारण नाटककार को घटनाओं की शृंखला पात्रों के माध्यम से प्रस्तुत करनी होती है, इसी कारण सफल नाटक के लिए वे ही घटनाएं प्रासंगिक होती हैं जो पात्रों के व्यक्तित्व को उद्घाटित कर पाती हैं तथा आत्मोपलब्धि में सहायक होती हैं । इसी के समानान्तर नाटकीय चरित्र घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं । घटनाओं और पात्रों का यह पारस्परिक सम्बन्ध इस तथ्य की पुष्टि करता है कि ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं, नाटक में साथ-साथ अन्तर्गुम्फित हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करने वाले हैं ।

साधारणतया पात्र-विश्लेषण के सन्दर्भ में पात्रों के व्यक्तित्व पर बल दिया जाता रहा है, किन्तु संघर्ष के सन्दर्भ में नाटकीय कार्य-व्यापार को विकास देने में उनकी वैयक्तिक क्षमता को आंकना आवश्यक हो जाता है । बा:कर का कहना कि "नाटक का स्थायी मूल्य उसके चरित्रांकन पर निर्भर करता है[३]" सत्य को

---

१ जॉन गॉसनर : 'प्रॅड्युसइन्ग द प्ले', पृ०२२

२ 'प्रॅड्युसइन्ग द प्ले' में उद्धृत

३ जी०बा:कर : 'ड्रैमैट्इक टेकनीक', पृ०२३४

हो सकता है, पर व्यापक अर्थ तथा नाटकीय अनिवार्यता के सन्दर्भ में इसका तात्पर्य केवल पात्र द्वारा व्याख्या, आत्मविश्लेषण या एकांत आत्मप्रदर्शन नहीं लगाया जा सकता। नाटक में पात्र-रचना से तात्पर्य है कि वे क्या करते हैं, अपने अनुभव के आधार पर कैसा आचरण करते हैं,या किन्हीं प्रस्तुत स्थितियों में कैसा व्यवहार करते हैं। तात्पर्य कि उनके कर्म,अनुभूति और अभिव्यंजना चरित्र को व्यक्त और नियमित करते हैं। पात्र-निर्माण के सन्दर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि पात्रों का व्यवहार किस भांति नाटकीय संघर्ष को प्रभावित करता है, पात्रों की क्रियाशीलता विभिन्न सन्दर्भों में कितनी विश्वसनीयता और तनाव दे पाती है। इस दृष्टि से पात्र निर्माण में सहायक कुछ अनिवार्य तत्व या विशेषताएं हमें अपनी और आकर्षित करते हैं।

पात्र निर्माण के अनिवार्य तत्व

क्रियाशीलता // सर्व प्रथम पात्रों को क्रियाशील होना चाहिए। कुछ करने की स्थिति में ही वे नाटकीय पात्र होने की सम्भावना देते हैं। उनकी क्रियाशीलता,अन्तर्निहित विचार को गति देती है, संघर्ष की स्थितियां जुटाती है तथा नाटकीयता को सम्भव बनाती है। क्रियाशीलता में अपने व्यक्तित्व के उद्घाटन के साथ ही साथ वे संघर्ष के निर्माण में प्रवृत्त होते हैं।

प्रतिक्रियावादिता // यह क्रियाशीलता रंगमंच पर पात्रों के तटस्थ व्यवहार की अपेक्षा उनके एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रियावादी,गॉसनर के शब्दों में 'लेन-देनवादी' होने की मांग करता है। वह 'लेन-देन' की व्याख्या में कहता है कि रंगमंच पर चरित्रांकन के द्वारा अधिकतम प्रभाव डालने के लिए पात्रों को एक कोने में,जहां वे स्वयं में जियें,निर्वासित नहीं कर देना चाहिए, पर उन्हें एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया करने का अवसर देना चाहिए[१]। वस्तुत: पात्रों की प्रतिक्रिया कार्य को नाटकीय विकास देती है, और इस स्थिति में पात्रों को

----

१ जॉन गॉसनर : 'प्रोड्यूसिंग द प्ले', पृ० २४

तटस्थता, या रंगमंच पर उनको निर्वासित स्थिति नाट्यात्मक अनुभूति को खंडित ही करेगी । अत: यह आवश्यक हो जाता है कि पात्र दूसरे पात्रों के प्रति या परिवेश के प्रति प्रतिक्रियात्मक व्यवहार अपनाएं । यह अलग बात है कि उनकी व्यक्त प्रतिक्रिया एक-दूसरे से भिन्न आयाम दे । उदाहरणार्थ, 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्र अपनी आन्तरिकता से अधिक संचालित है और एक-दूसरे के प्रति तटस्थ है । 'नेफा की एक शाम' के पात्र-परिवेश की मांग और आवेगात्मक अनुक्रिया के आग्रह से कार्यरत हैं । इस तटस्थता और आवेगात्मक अनुक्रिया में आन्तरिक प्रतिक्रिया भिन्न रूप में अभिव्यक्त होती है । एक नाटक में यदि प्रस्तुत स्थितियों के प्रति बाह्य-प्रतिक्रिया के प्रदर्शन की अपेक्षा पात्रों का व्यवहार आन्तरिक प्रतिक्रिया द्वारा नियमित होता है, तो दूसरे नाटक में पात्रों की आन्तरिक प्रतिक्रिया प्रस्तुत स्थितियों के प्रतिकूल स्पष्टत: प्रकट न होकर पात्रों के व्यवहार को नियमित करती है । किन्तु उसका कुल महत्व पात्रगत संघर्ष को तीव्र करने और नाटकीय कार्य-व्यापार को प्रभावित करने में है ।

पारस्परिक विरोध / प्रतिक्रिया तभी सम्भव हो सकती है, जब पात्रों में विरोध की परिकल्पना नाटककार करें या पात्रों को विरोधात्मक परिवेश दे । सम्भवत विरोध के अभाव में न तो पात्र-संरचना सार्थकता पा सकती है, और न ही कार्य-व्यापार तीव्रगति पा सकता है । विरोध की परिकल्पना को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हुए जे०एल० स्तयान ने यहां तक स्वीकार किया कि प्रमुख पात्रों, उनके सम्भाषण तथा गति, विचार तथा प्रतिक्रिया के बीच किसी भी प्रकार का विरोध होना, किसी एक दृश्य के सैद्धान्तिक निर्माण का आवश्यक तत्व है[१] । आपसी और सामूहिक विरोध उन्हें उलझाव की स्थितियां देता है, जहां वे अपनी चारित्रिक विशेषता, आदर्श, विचार या आवेग, संवेग को दृढ़ता से स्थापित करना चाहकर अपने व्यक्तित्व की रक्षा में दूसरों से संघर्ष

---

१ जे०एल० स्तयान : 'ड्रैमैट्रिक एक्सपीरियंन्स', पृ०७६

करते हैं तथा स्वयं को उद्घाटित करते चलते हैं । 'दर्पन' की पूर्वी की सरलता और सौम्यता हरिमदम के विरोध में प्रकट होती है, करुणा, ममता, सहानुभूति सुजान के विरोध में, और दृढ़ता पिताजी के विरोध में । 'आधे अधूरे' की सावित्री के जीवन में मर चुकी कटुता महेन्द्रनाथ के विरोध में व्यक्त होती है, तो जगमोहन तथा जुनेजा के विरोध में उसकी तीक्ष्ण प्रतिक्रिया उसकी निराशा, कुंठा और विवशता को लेकर प्रस्तुत होती है । ये सभी विरोध एक और उसके व्यक्ति को उभारते हैं तो दूसरी और नाटकीय कार्य-व्यापार को विकसित करते हैं । देखा जाय तो दो पात्रों का विरोध 'कुछ विशेष' कहता है, क्योंकि पात्रों के प्रत्यक्ष संघर्ष के पीछे एक और संघर्ष, जीवन की दो पद्धतियों का रहता है, जिसे दार्शनिक संघर्ष भी कहा जा सकता है । दार्शनिक संघर्ष नाटकीय संघर्ष को सूक्ष्मता देता है । कालिदास का संघर्ष जीवनगत संघर्ष से परे कलाकार के रचनात्मक संघर्ष को व्यंजित करता है । पूर्वी और नन्द का संघर्ष मनुष्य के भिन्न चिरन्तन प्रश्नों के संघर्ष को अभिव्यक्ति देते हैं ।

नाटकीय संघर्ष की सघनता के लिए पात्रों के बाह्य विरोध के साथ उनके आंतरिक विरोध की परिकल्पना अनिवार्य सी हो जाती है, क्योंकि पात्रों का प्रदर्शित शारीरिक संघर्ष उनके अनुभवों पर आधारित होता है । रंगमंच पर व्यक्ति का शारीरिक संघर्ष गतिशीलता का प्रतीक है और मानसिक संघर्ष उस गतिशीलता को प्रभावी और सूक्ष्म बनाने का आधार । श्रेष्ठता की कसौटी पर बाह्य और आंतरिक संघर्ष को अलग-अलग रखना अनुचित होगा, क्योंकि पात्र की आन्तरिकता प्रेक्षक क्या पाठक की आन्तरिकता को, बाह्य गतिशीलता से ही स्पर्श या प्रभावित करती है[१] । यूं भी सूक्ष्म नाट्यानुभूति आन्तरिक और बाह्य संघात के मध्य से होती है[२] ।

---

१ सैम्युअल शेल्डन : 'द स्टेज इन एक्शन', पृ० २८४

२ 'अंडरस्टैंडिंग ड्रामा' में ब्रुक्स तथा हेलमैन ने स्थूल रूप से पात्रों में लिंग, आयु, श्रेणी आदि के आधार पर विरोध दिखाने के कई रूप बताये और उनमें नाटकीय संघर्ष के विकास के उदाहरण दिये ।

चयन एवं सन्तुलन / विरोध चाहे आन्तरिक संघर्ष या बाह्य संघर्ष का कारण हो पर नाटकीय संदर्भ उसके सन्तुलन की अपेक्षा करते हैं । सन्तुलन के लिए चयन की आवश्यकता पड़ती है । पात्र को सजीव बनाने तथा कार्य-व्यापार को नाट्यात्मक आयाम देने के लिए नाटककार को उन प्रतिक्रियाओं और विरोधों का चुनाव करना पड़ता है जो व्यक्तित्व के निर्माण और विकास के साथ ही वस्तु के भी अनुरूप हो । अधिक विरोध यदि पात्र निर्माण के उद्देश्य को खो देता है, तो कम वैभिन्य भी पात्र-संरचना को अधूरा छोड़ देता है । अति की स्थिति आकस्मिकता लाती है और अभाव की स्थिति नाटकीय विचार को बौद्धिक वाद-विवाद में बदल देती है । लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में पात्रों का संघर्ष सम्भवत: इस कारण भी बौद्धिक वाद-विवाद लगने लगता है । इसी तरह यदि कोई एक ही मनोभाव देर तक बना रहता है, या कोई तत्व निरंकुश हो जाता है, तब उसका प्रभाव नष्ट होने लगता है । 'औहस-नाइट म्युजिक' की रिहर्सल करते-करते इलिया कजान ने एक बार कहा था कि वह क्रोध करते-करते थक गया है[1] । प्रयाग रंगमंच के तत्वावधान में प्रदर्शित 'पहला राजा' के पृथु को लगभग एक ही भाव से शासित देखकर दर्शक ऊब गये थे ।

विश्वसनीयता एवं भावुकहीनता / नाट्यात्मक अनुभूति मूलत: एक भाव रूप नहीं हो सकती । वह निश्चित रूप से एक से अधिक भावों, विचारों, स्थितियों और व्यक्तियों के परस्पर विरोध और संघात का समन्वय हो सकती है । किन्तु अन्त:, बाह्य संघात की स्थितियों का रूप सामाजिक संबंधों का तनाव और दबाव वास्तविक होना चाहिए, अन्यथा वे नाट्यात्मक रूप न ले पायेंगे वास्तविक संघर्ष से तात्पर्य है कि व्यक्ति का आन्तरिक और बाहरी संघर्ष भावुकता से संचालित न हो, पर ऐसा हो जो व्यक्ति को निरपेक्ष, निष्क्रिय या गतिहीन नहीं रहने देता, किन्तु उसे विक्षुब्ध और विचलित करता है और ऐसा करने में उसे पात्रों की विश्वसनीयता की रक्षा करनी होती है । उनके क्रिया-कलाप, उनके चारित्रिक

---

१ जॉन गॉसनर : 'प्रोड्यूसिंग द प्ले', पृ०२६ पर उद्धृत

विकास को विश्वसनीय बनाना होता है, जीवन के उनके उतार-चढ़ाव, आवेग-संवेग के घात-प्रतिघात को मानवीय सन्दर्भ देने होते हैं । परिणामत: भावुकता रहित वास्तविकता तथा विश्वसनीयता संघर्ष को समुचित तनाव, सघनता और सूक्ष्मता दे सकें और इनके संयोजन से महत्वपूर्ण तत्व, रचनात्मकता पोषित हो सके ।

पात्रगत संघर्ष के आयाम

विभिन्न नाटकों में भाववस्तु के अनुरूप भिन्न रूप से पात्रगत संघर्ष प्रस्तुत होता है और उसकी नाटकीय अभिव्यक्ति के भिन्न आयाम भी हैं । नाटककार पात्रनिर्माण में रचनाशीलता को किसी भी स्तर क पर प्रस्तुत करें पर पात्रों का सम्पूर्ण नाटकीय संघर्ष व्यक्ति के चहुंमुखी संघर्ष को प्रस्तुत करता है । जिसे मोटे तौर पर निम्न आयामों में रखा जा सकता है :

(क) अच्छे-बुरे पात्रों का संघर्ष (टाइप पात्र)

(ख) व्यक्ति का परिवेश से संघर्ष

(ग) व्यक्ति का व्यक्ति से संघर्ष -- दृष्टिगत, प्रकृतिगत, आदर्शगत

(घ) व्यक्ति का मानसिक संघर्ष

अच्छे-बुरे पात्रों का संघर्ष / पात्रों के संघर्ष में अच्छे-बुरे पात्रों का संघर्ष, पात्र निर्माण का बड़ा ही स्थूल नाटकीय रूप है । इसमें चरित्र को बहुआयामी वैभिन्य नहीं मिल पाता है, क्योंकि पात्रों में व्यक्ति स्वभाव की कोई एक विशेषता प्रमुख हो जाती है । एकांगी चरित्रगत विशेषता पात्रों को 'टाइप' की श्रेणी में ला खड़ा करती है । व्यक्ति स्वभाव के एक पक्ष को ही नाटकीय संघर्ष में कल्पित करने से पात्रों में वह गम्भीरता, गहनता या कश-म-कश, मानवीय संवेदनाओं का ऊहा-पोह प्रकट नहीं हो पाता है, जो दर्शक या पाठक को प्रभावित कर उसे वास्तविक पीड़ा या उल्लास की अनुभूति दे सके । फलस्वरूप टाइप पात्रों के माध्यम से संघर्ष की परिकल्पना में नाटककार पात्रों के विरोध में सन्तुलन बनाए रखने का प्रयास करता है । संघर्ष की सम्भावना पात्रों की दृढ़ता तथा उसके समुचित विकास पर निर्भर करती है । प्रारम्भ से अन्त तक विरोध की

खाई को निरन्तर तीव्र बनाए रखना पड़ता है,जिससे विरोध और तनाव निरन्तर और क्रमश: विकसित होता हुआ तीव्र संघर्ष की अनुभूति दे सके, मात्र आभास नहीं । अच्छे पात्र जिस उद्देश्य को लेकर चलते हैं,बुरे पात्र उनमें बाधा स्वरूप आते हैं । दोनों पात्र अपनी विजय के लिए अपने स्वभाव या इच्छा पर दृढ़ रहते हैं और इसी कश-म-कश में नाटकीय संघर्ष की सम्भावना होती चलती है । भारतीय नाट्य साहित्य में साधारणतया अच्छा पात्र बुरे पात्र पर विजय प्राप्त कर लेता है और संघर्ष समाप्त हो जाता है । सदैव अच्छे पात्र की ही विजय की कल्पना संघर्ष की तीव्रता को विच्छिन्न कर देती है । हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'स्वप्नभंग' में अन्तर इतना ही है कि अच्छा पात्र द्वारा अन्त में पराजित होकर मृत्यु दण्ड प्राप्त करता है । पात्रों का यह संघर्ष दुखद भले ही हो पर पूर्ण प्रभाव में कोई प्रभाव नहीं छोड़ता । एक तो वस्तु की शिथिलता ही संघर्ष की सम्भावना को पोषित नहीं कर पाती,दूसरे पात्रों की सक्रियता विवरणात्मक अधिक है,स्थितियों में स्वयं उनकी गतिशीलता कम है । ये पात्र संघर्ष में उलझे हुए दिखाई नहीं देते पर व्यतीत या सम्भावित संघर्ष का विवरण या सूचना देकर रह जाते हैं ।

वैसे देखा जाय तो अच्छे-बुरे पात्रों के संघर्ष को, जो कि नायक खलनायक के रूप में जाना जाता रहा है, यदि व्यापक अर्थ में लें तो प्रसादोत्तर कालीन नाटकों में से अधिकांश नाटक ऐसे मिलेंगे,जिनमें तीक्ष्ण अनुभूति के आधार पर वास्तविक और घनीभूत संघर्ष की सम्भावना दे सकने वाला पात्रगत संघर्ष भी अन्त तक आते-आते अपने स्वरूप में टाइप पात्रों के संघर्ष से ऊपर नहीं उठ पाता है । यहां इसी व्यापक अर्थ में अच्छे-बुरे पात्रों के संघर्ष को देखने का आग्रह है । तात्पर्य कि इस सन्दर्भ में नायक-खलनायक के रूप में संघर्ष को देखने की अपेक्षा व्यक्ति स्वभाव के एक ही पक्ष से अनुप्रेरित पात्रों के बीच संघर्ष को देखने की ओर दृष्टि है । इन नाटकों में ये पात्र किसी-न-किसी अर्थ में अच्छे और बुरे पात्र-निर्माण कल्पना के निकट हैं । यह संघर्ष आदर्श-अनादर्श, नैतिक-अनैतिक, देवता-राक्षस,ईमानदार-भ्रष्टाचारी आदि अनेक अच्छे-बुरे रूपों का हो सकता है ।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का नाटक 'न्याय की रात' भ्रष्टाचारी,स्वार्थी तथा ईमानदार और कर्मठ व्यक्ति के बीच संघर्ष की परिकल्पना में नाटकीय कार्य-व्यापार को प्रवाह

देता है, जिसकी नींव घटनाविन्यास में पड़ जाती है । हेमन्त एक तम्बाकू कम्पनी के मध्य से भ्रष्टाचार करने वाला व्यापारी है । जो हर नैतिक-अनैतिक ढंग से रुपया कमाता है और अपने साथ सदानन्द जैसे भीरु किन्तु उच्च पदाधिकारी व सरकारी अफ़सर को भी रखता है । हेमन्त के विरोध में उसका ही बहनोई राजीव है,जो एक ईमानदार और कर्तव्यपरायण अधिकारी है । जुगलकिशोर भी इसी वर्ग को प्रस्तुत करता है । भ्रष्टाचारी व्यापारी और ईमानदार अफ़सर में संघर्ष की सम्भावना तब उत्पन्न होती है,जब तम्बाकू कम्पनी के काले कारनामों का उद्घाटन पुलिस द्वारा होता है, और राजीव हेमन्त को किसी भी ऐसे कार्य में मदद करने से साफ इन्कार कर देता है । बहनोई की दृढ़ता से निराश होकर वह अपने काले कारनामों व के साझेदार सदानन्द की मदद लेता है । फलत: वह एक शरणार्थी लड़की कमला को सदानन्द की सहायता से फांसता है । कमला,जिसकी आदर्शवादिता सदानन्द जैसे लम्पट व्यक्ति को सुधारने में अंशत: सफल होती है, उसी के आफिस में काम करती है । सदानन्द का सुधरना हेमन्त के संसर्ग में अर्थहीन हो जाता है, क्योंकि अपनी तिकड़मबाजी से उत्पन्न स्थिति में हेमन्त आत्मरक्षा के लिए हर संभव असम्भव रास्ता अपनाता है । कमला से तम्बाकू कम्पनी के मैनेजर पद पर रहने और त्यागपत्र देने वाले झूठे कागजों पर हस्ताक्षर करवाकर,उसे उन छ: महीनों का वेतन भी देकर यह सोच लेता है कि उसने आत्म-सुरक्षा का उपाय कर लिया है । यहाँ तक नाटककार पात्रों के किसी तीव्र संघर्ष की परिकल्पना में पूर्वपीठिका निर्मित करता है और लगभग यहीं से नाटक के तीव्र संघर्ष की सम्भावना बिखरने लगती है ।
परिस्थितियाँ हेमन्त के संघर्ष को तीव्र होने के अवसर देती है । सदानन्द से कलमा को पूर्णतया दोषी ठहराये जाने वाले कागज पर हस्ताक्षर करवा कर हेमन्त किसी निश्चित उद्देश्य से कमला को बहाने से अपने घर बुलाता है । सारे संघर्ष को समाप्त करने के लिए वह कमला को ही मार देना चाहता है, अत: पिस्तौल की नोक पर उसे लिखने के लिए बाध्य करता है कि वह प्रायश्चित स्वरूप आत्महत्या कर रही है । किन्तु तभी राजीव का नाटकीय आगमन अनायास ही सारी स्थिति को बदल देता है और हेमन्त आत्महत्या कर लेता है । हेमन्त प्रारम्भ से अन्त तक अपने काले-कारनाम से उत्पन्न स्थिति में अपनी सुरक्षा के लिए विभिन्न व्यक्तियों से संघर्षरत रहता है

और अन्त में रंगे हाथों पकड़े जाकर, बहनोई की हत्या न कर पाने की विवशता में आत्मघात कर लेता है ।

नाटक के प्रथम दृश्य से नाटकीय संघर्ष के विकास की जो अपेक्षाएं पाठक या प्रेक्षक करने लगता है, वह क्रमश: विकासक्रम में खण्डित होने लगती है । राजीव और हेमन्त की चारित्रिक दृढ़ता और आपसी सम्बन्ध यह सम्भावना देने लगता है कि सम्बन्धों की भावुकता तीव्र संघर्ष का कारण बनेगी, किन्तु किसी ऐसी सशक्त संघर्षात्मक स्थिति के पूर्ण विकास से पूर्व ही नाटककार हेमन्त की हत्या कर उस संघर्ष को आकस्मिक रूप से समाप्त कर देता है । सदानन्द अपनी चारित्रिक कमजोरी के साथ नाटकीय संघर्ष को तीव्र करने की अपेक्षा हेमन्त के हाथ की कठपुतली बनकर रह जाता है । आदर्श और भ्रष्टाचार के बीच जूझता सदानन्द कोई गहरी नाटकीय संवेदना नहीं दे पाता । यद्यपि उसका नाटक में होना, कमला की सुरक्षा करना, चाहते हुए आत्मसुरक्षा की ओर प्रवृत्त होते जाना कार्य व्यापार को गतिशीलता तथा हेमन्त के संघर्ष को तनाव भी देता है, किन्तु गहराई देने में असमर्थ हो जाता है । कमला भी एक कमजोरी के रूप में आती है । यह विश्वास नहीं हो पाता कि समाज और परिस्थितियों से जूझकर एम०ए० करने वाली कमला इतनी भोली होगी कि सदानन्द की कामुक हरकतों को पिता का स्नेह मान ले और चुपचाप सदानन्द की आज्ञा मानकर जालसाजी में फंस जाये । यदि ऐसा मान भी लिया जाय, क्योंकि नाटककार बारम्बार यह कहलवाता है कि वह सदानन्द के एहसानों के नीचे दबी पड़ी है, केवल उसकी अतिशय भावुकता को ही उद्घाटित करता है, तब भी नाटकीय संघर्ष को उसकी वैयक्तिकता कोई महत्वपूर्ण आयाम नहीं देता है । व्यक्ति को गतिहीन बनाने वाली भावुकता नाटकीय अर्थों में ग्राह्य नहीं हो सकती है । इसमें सन्देह नहीं कि नाटककार ने कार्य-व्यापार की तीक्ष्णता पर ध्यान दिया है, किन्तु किन्हीं असंगतियों के कारण पात्रों का संघर्ष बाह्य स्तर का होकर रह जाता है । इसके मूल में एक ओर तो पात्रों का टाइप होना माना जा सकता है, दूसरी ओर कुछ पात्रों के गहरे आत्ममंथन को उपेक्षित कर जाना है । हेमन्त का आत्मघात उसके तीव्र मानसिक द्वन्द्व का प्रतिफलन है, किन्तु नाटक में आन्तरिक

क्षण-म-क्षण की अनुभूति नहीं हो पाती है । राजीव और सदानन्द जैसे पात्रों के मानसिक संघर्ष को भी उद्घाटित या व्यंजित करने का प्रयास नाटककार नहीं करता । तीव्र कार्य व्यापार के चक्कर में वे मानवीय अनुभूतियां भी अछूती रह जाती हैं,जो कि नाटकीय संघर्ष को कुशलता दे सकती है ।
यदि नाटककार पात्रों को किसी एक चारित्रिक विशेषता को लेकर चलता है,तो उसे तीव्र नाटकीय संघर्ष के लिए भावप्रवण स्थितियों से बचना होगा । लक्ष्मीनारायण लाल की 'रातरानी' नाटकीय भाववस्तु में जिस वर्गगत संघर्ष की सम्भावना देता है, वह पात्रों के संघर्ष में कुन्तल की अच्छाई और जयदेव के स्वार्थ की कल्पना पर आश्रित हो जाता है । मालिक-मजदूर के संघर्ष का प्रश्न पृष्ठभूमि में रह जाता है और विशेषरूप से उभरता है, कुन्तल का संघर्ष, जो अपनी समस्त सहनीय,धैर्यशील नारी सुलभ विशेषताओं के साथ नाटककार के आदर्श ,रातरानी की तरह सुगंधदायिनी कल्याणी मां, का वहन कर चलती है,जिससे वस्तु और पात्रों का तालमेल नहीं बैठता है । संघर्ष वस्तुत: आन्तरिक तनाव से उपजता है, तनाव की स्थितियों से बच-बच कर चलने से नहीं । कुन्तल मां,देवी और कल्याणी है और जयदेव पुरुष,कठोर तथा स्वार्थी । जयदेव का व्यक्तित्व एक और मालिक-मजदूर के संघर्ष को तीव्रता देने का आभास देता है, दूसरा और घर के तनाव को संघर्ष में बदलने की सम्भावना देता है, किन्तु तनाव की ये सभी स्थितियां घर या बाहर की,कुन्तल की भावुकता और कल्याण-भावना में तिरोहित होती जाती हैं । ऐसा लगता है कि पात्रों के विचार-वैभिन्न्य को नाटककार संघर्ष में विकसित नहीं करना चाहता,क्योंकि पात्रों के उलझाव की प्रत्येक ऐसी स्थिति जो तीव्र संघर्ष की पूर्वपीठिका हो सकती है, जयदेव की कठोरता मजदूरों के तनाव को विकास देती-पलती है पात्रों के किसी समझौते या बात को टाल जाने से वहीं समाप्त हो जाती है। और जब वे किसी विध्वंसात्मक कार्य की ओर बढ़ते हैं,कुन्तल कल्याण और शांति का सन्देश लेकर उनके बीच जाती है और सहानुभूति से समस्या को सुलझाना चाहती है । नाटक के अन्त में मजदूरों के जुलूस का सामना भी वह इसी भावना से करती है । इसी तरह सुन्दरम के साथ कुन्तल के पहले मंगेतर निरंजन का आना, इसी घटना से सम्बद्ध जयदेव और कुन्तल के पूर्व तनाव को संघर्ष की गहरी सम्भावना दे सकता था,किन्तु निरंजन एक आदर्श पात्र के रूप में सामने आता है, परिणामत: उसका आना एक

साधारण संयोग की स्थिति ही बना रह जाता है । यदि यह मान लिया जाये कि नाटक में वास्तविक संघर्ष कुन्तलव T ह,जो कल्याण और शान्ति के आदर्श का वहन करता है,तो भी पूर्ण नाटक में उसका संघर्ष ऐसा नहीं जो नाटकीय तनाव को समुचित प्रवाह दे । पात्रों का आदर्श और भावुकता भावक को उद्वेलित भले ही न करे पर उसे अंगुली पकड़ कर एक आदर्श तक पहुंचा देता है, जो नाटकीय रचना शीलता के अभाव में नाटक को बहुत अंशों तक सार्थक नहीं रहने करता है ।
लक्ष्मीनारायणलाल के 'अंधा कुआं' में संघर्ष की यह स्थिति भिन्न हो जाती है । संघर्ष के निरन्तर वाह्य प्रवाह के कारण पात्रों की मानसिक आत्मिक स्थिति उभर नहीं पाती है और उनका आपसी संघर्ष अतिरंजना का शिकार हो जाता है । पात्रों के आपसी संघर्ष का एक तिकोन है । सुका के चरित्र में नाटककार ने संघर्ष को सूक्ष्म या आन्तरिक बनाने का जो प्रयास किया है, वह भगौती तथा इन्दर की तीव्र प्रतिक्रिया में बहुत सम्भावनाएं नहीं दे पाता । सुका भगौती से घृणा करती है, इसलिए अपने प्रेमी इन्दर के साथ भागती है, आत्महत्या का असफल प्रयास करती है । यहां तक कि क्रिया-प्रतिक्रिया तनाव को तीव्रता देती चलती है । भगौती द्वारा लच्छी के साथ दूसरा विवाह कर लेने की स्थिति से संघर्ष की वाह्य तीव्रता सुका के आंतरिक संघर्ष में परिवर्तित होती है । और पत्नीत्व के अधूरेपन की पीड़ा एक ओर उसे लच्छी को उसके प्रेमी के साथ भगाने में तत्पर करती है, दूसरी ओर बिस्तर पर पड़े गाली, गलौज करते उसी भगौती की देखरेख में व्यस्त करती है । भगौती द्वारा दी गई उपेक्षा को वह उसके अन्तिम दिनों में प्रतिशोध में नहीं बदलती पर उसकी रक्षा में अपने प्रेमी इन्दर के हाथों मारी जाती है । सुका का आन्तरिक द्वन्द्व और उसकी वाह्याभिव्यक्ति ही थोड़ा-बहुत नाटक को सम्हालती है,अन्यथा भगौती और इन्दर का संघर्ष इतना स्पष्ट और वाह्य है कि वह स्थूल लगने लगता है, जिसमें क्रोध और प्रतिशोध का उग्र रूप ही उभर कर आता है । दोनों के बीच सुका उनके तनाव को तीव्रता देती है । इन्दर उसको पाना चाहता है और भगौती उससे घृणा करते हुए उसे छोड़ना नहीं चाहता और अपनी कश-म-कश में यथासम्भव उसे यातना देता है । दोनों का हृदय-परिवर्तन होता है सुका की मृत्यु से जो अति-नाटकीय लगता है । घटनाओं के मध्य पात्रों की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत है कि उनका संघर्ष आन्तरिक भावनाओं

है, पात्रों की क्षमता का नहीं । क्योंकि आशा देवी के मानसिक उद्वेलन और उसका प्रतिक्रिया स्वरूप ज़हर खा लेना अत्यन्त तीव्र द्वन्द्वात्मक स्थिति का प्रतिफलन हो सकता था, किन्तु उसका व्यक्त संघर्ष बड़ा ही सतही लगता है और उससे भी सतही उसका डाक्टर त्रिभुवन को, ठीक होने के बाद 'पहला और अन्तिम' पुरुष मान लेने का निर्णय । उसके ये दोनों निर्णय आकस्मिकता और समझौते के परिणाम हैं, दो आवेगों, भावों या विचारों का तीव्र टकराहट के परिणाम नहीं । इसी कारण ऐसा लगने लगता है कि वह डाक्टर से यह सोचकर समझौता कर लेती है कि उमाशंकर नहीं तो डाक्टर ही सही । इसके बाद ही उमाशंकर को सबकुछ बताकर देवता बना देना भी विचित्र लगता है । उमाशंकर भी तब रहस्योद्घाटन करता है कि वह आशा से प्रेम करता है । किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक वह उसको पाने के लिए कहीं भी संघर्षरत नहीं है, केवल इस स्थिति के कि परिवार और समाज वालों के विरोध के बाद भी उसे अपने घर रखे रहता है । देखा जाय तो सभी पात्र भावुक हैं, किन्तु उनकी भावुकता संघर्ष का ऐसा रूप प्रस्तुत नहीं करती जो आन्तरिक तनाव का हो, वहां तो लगता है कि पात्र किसी विवशता में समझौता करने को बाध्य है और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया उसी से नियमित है । यह सारा संयोजन नाटकीय संघर्ष की बड़ी ही स्थूल अनुभूति देता है । यहां तो पात्रों की अप्रतिक्रिया संघर्ष को सतही बनाती है, या पात्रों को अच्छा-बुरा किन्तु उदयशंकर भट्ट के 'विद्रोहिणी अम्बा' में प्रतिक्रिया की अतिशयता पात्रों को टाइप पात्र की श्रेणी में ला खड़ा करती है । इसी वजह से अन्त तक आते-आते अम्बा का संघर्ष विवाह प्रथा या सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध न रहकर मात्र भीष्म से प्रतिशोध लेने में बदल जाता है । हरण के बाद शल्वराज द्वारा तिरस्कृत होने पर घटनाएं इस तीव्रता से घटती हैं कि अम्बा का संघर्ष प्रतिशोध की भावना से संचालित होकर स्थूल हो जाता है । इस तीव्रता में मानवीय उथल-पुथल और आन्तरिक कश-म-कश को स्थान नहीं मिलता । आकस्मिकता, तीव्रता से परिवर्तनीय मोड़ लेता हुआ पूर्ण संघर्ष अविश्वसनीय तथा बनावटी लगने लगता है ।

वस्तुत: इन नाटकों में, पात्र-निर्माण में, ऐसे तीव्र, सशक्त, जीवन्त, भावुकताहीन, निर्मम बौद्धिक संघर्ष का प्राय: अभाव है, जो नाटकीय संघर्ष को किसी रचनाशील स्तर पर

प्रस्तुत कर सके, मानवीय कश-म-कश को तीव्रता की सच्चाई से दिखा सके, व्यक्ति को तीव्र आकांक्षाओं, कामनाओं का विद्रोह दिखा सके । ये नाटक केवल व्यक्ति के साधारण, ऊपरी और महत्वहीन भावनाओं को सतही तौर पर दिखा कर रह जाते हैं ।

व्यक्ति का परिवेश से संघर्ष // व्यक्ति अपनी क्षुद्र कामनाओं को छोड़कर जब समूह के स्वार्थ की चिन्ता करता है, तो उसका प्रतिक्रिया समाज और वर्ग के प्रति होता है, या व्यक्ति परिवेश से तब संघर्षरत होता है, जब वह स्वयं को व्यतीत से अलग करना चाहता है या बीत रहे को अपनी सुरक्षा हेतु बदलना चाहता है । परिवेश की व्यापकता उसको बहुआयामी संघर्ष क्षेत्र देती है, जिनके सन्दर्भ में व्यक्ति का संघर्ष पीढ़ीगत हो सकता है, वर्गगत या व्यक्तिगत भी । परिवेश, मान्यताओं, रूढ़ियों आदि के विरुद्ध संघर्ष का रूप जो भी हो, पात्र की दृढ़ता की अपेक्षा करता है, क्योंकि परिवर्तन की आकांक्षा कमजोर पात्रों द्वारा सम्भव नहीं होती है । परिवर्तन चूंकि पहले आन्तरिक होता है, फिर बाह्य अतः लक्षित और व्यंजित संघर्ष का सन्तुलित प्रस्तुतीकरण पूर्ण संघर्ष को प्रभावी रूप में प्रस्तुत करता है । 'कोणार्क' इसी कारण 'पहला राजा' की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली बन जाता है और 'अलग अलग रास्ते', 'नये हाथ', 'रक्तकमल' जैसे नाटक अपने सम्पूर्ण प्रभाव में संघर्ष की दृष्टि से कमजोर हो जाते हैं तथा 'मैफा को एक शाम' अपेक्षाकृत सफल लगने लगता है ।

'कोणार्क' में जगदीशचन्द्र माथुर मालिक मजदूर के संघर्ष के मध्य पात्रों को बहुआयामी व्यापकता देते हैं । आर्थिक अव्यवस्था के बीच पीसता मजदूर अपनी आशाओं, आकांक्षाओं पर आर्थिक दबाव और पूंजीपति वर्ग के अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाता है, तो कलाकार के मन का द्वन्द्व उसकी रचनात्मक प्रतिभा का ब मूलाधार बनता है और व्यक्ति का व्यक्ति से दृष्टिगत संघर्ष उसकी अनेक मानसिक स्थितियों को प्रभावित करता है । प्रत्येक पात्र का अपना संघर्ष है और नाटक के पूर्ण संघर्ष में देखें तो वह एक व्यक्ति का नहीं लगता, पूरे समूह और वर्ग का लगता है । कलाकार विशु का संघर्ष न तो परिवेश से है और न ही व्यक्तियों से । उसका संघर्ष आंतरिक है, जिसके तीव्र उद्वेलन में वह निरन्तर कलात्मक भवनों का निर्माण करता आया है ।

अपने यौवन में उसने सारिका से प्रेम किया और कायरतावश उसे छोड़ आया। अतीत की वह घटना मर्मान्तक घाव बनकर उसकी भाव प्रवणता में समा गई । सारिका की स्मृति को रचनात्मक स्वरूप देने की तन्मयता में विशु को न तो राजचालुक्य के अत्याचारों का ज्ञान हो पाता है और न शिल्पियों की दु:खगाथा का । महाराज नरसिंहदेव के विरुद्ध राजचालुक्य का युद्ध भी उसे किसी के प्रति विद्रोही नहीं बनाता, वह तो इतना ही चाहता रहा कि उसको साकार कल्पना के प्रांगण में रक्तसंहार न हो, और उसकी अनुपम कृति उसकी पराजय का प्रतीक न बन सके, क्योंकि मन-ही-मन वह कोणार्क मंदिर को सारिका के प्रति,अपने अधूरे स्वप्न की कृति मानता है । इसी भाव के कारण वह उसे आक्रमणकारियों के हाथ जाने देने से पूर्व ही धाराशायी कर देता है और स्वयं भी उसमें समाधिस्थ हो जाता है । विशु का आन्तरिक संघर्ष एवं उसकी परिणति आकस्मिकता का परिणाम नहीं है, किन्तु उसकी उद्वेलनमयी मन:स्थितियों का परिणाम है, जिसमें सहायक होता है यह जानना कि मृत्यु की ओर उन्मुख धर्मपद और कोई नहीं, उसका और सारिका का ही पुत्र है । धर्मपद से साक्षात्कार और उससे पुन: बिछुड़ने की कल्पना, अतीत की सारी पीड़ा को घनीभूत कर, विशु को प्रतिक्रिया के लिए उत्तेजित करता है, किन्तु फिर भी यह प्रतिक्रिया किसी से प्रतिशोध लेने की भावना से प्रेरित नहीं है, पर कलाकार की उस भावना से सम्बन्धित है, जिसे उसका अहं माना जा सकता है ।

विशु के मानसिक संघर्ष और उसकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया के विरोध में धर्मपद का संघर्ष है । धर्मपद जागरूक शिल्पी है, जो मजदूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है । धर्मपद का संघर्ष सभी आततायियों और पूंजीपति-मालिकों से है, जिनकी क्रूरता से मजदूर वर्ग की दशा हीन से हीनतर होती चली जाती है । धर्मपद विद्रोह की चिनगारी ले कर आता है और उसका विद्रोह नाटक के पूर्ण कार्य-व्यापार को विश्राम करने नहीं देता । महाराज नरसिंह देव के सामने प्रकट उसका आक्रोश केवल उसका नहीं, पर पांच हजार शिल्पियों का है, जो वर्गगत संघर्ष को व्यक्त करता है । संघर्ष को तनावपूर्ण बनाये रखने के लिए नाटककार धर्मपद को एक दृढ़ व्यक्तित्व प्रदान करता है, ऐसी दृढ़ता जो नरसिंहदेव को राजचालुक्य के सम्मुख झुकने नहीं देती और किसी भी

सम्भावित संघर्ष के लिए उसे स्वयं शक्ति देता है । इसी दृढ़ता में वह अपने उद्देश्य की रक्षा में आत्म बलिदान कर देता है । धर्मपद का संघर्ष जो भिन्न स्थितियों में उसे तीव्र प्रतिक्रिया में व्यक्त करता है । अपने में गहराई का एक ठहराव लिए हुए है, क्योंकि उसका विद्रोही व्यक्तित्व आकस्मिकता की उपज नहीं है, पर बचपन से गरीबी के कष्ट और वैभव के अपमान सहते-सहते उसमें विद्रोह की प्रबल भावना घर कर चुकी है, जो राज्य में आकर मजदूरों और शिल्पियों के परिश्रम, उनके कष्ट और विवशता को देखकर तीव्र होती हुई उसे प्रत्यक्षत: कार्यशील करता है । धर्मपद की प्रतिक्रिया कार्य-व्यापार को निश्चित गति देने का प्रमुख आधार है । विशु की शान्त प्रकृति का आन्तरिक संघर्ष रचनाशीलता में बदलता है और धर्मपद की उग्र प्रकृति का आन्तरिक संघर्ष वाह्य बाधाओं से संघर्षरत होता हुआ कहीं-कहीं टाइप पात्र की परिधि का स्पर्श करने लगता है । फिर भी दोनों पात्रों के संघर्ष के आयाम पूर्ण कार्य में एक सन्तुलन का निर्माण करते हैं । विशु का पूर्ण संघर्ष हममें करुणा भरता है और धर्मपद का पूर्ण संघर्ष तीव्र प्रतिक्रिया । दोनों के उद्देश्य की दृढ़ता नाटकीय तनाव को आद्यन्त बनाए रखता है । धर्मपद का पिता विशु से मिलने के बाद लगभग अप्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण खटकता तो है, किन्तु ऐसा नहीं लगता कि इस कारण पूर्ण नाटकीय संघर्ष में बाधा आ गई हो । नारी पात्रों का नितान्त अभाव उस विरोध को अधूरा-सा छोड़ देता है, जो ब्रुक्स के अनुसार नाटकीय संघर्ष के विकास का महत्वपूर्ण आधार है तथा रंगमंच पर जिसमें आकर्षण का एक केन्द्र रहता है । सम्भवत: कार्य व्यापार की तीव्रता में नाटककार को इतना अवकाश ही न मिला हो कि वह नारी पात्रों की कल्पना करता ।

परिवेश के आर्थिक और राजनीतिक सन्दर्भ में आदर्शगत एवं प्रवृत्तिगत संघर्ष 'रक्तकमल' और 'पहला राजा' में भी है । दोनों नाटकों की शैली रंगमंचीय सम्भावनाओं को प्रस्तुत करती है, किन्तु पात्रों का संघर्ष यथार्थ के तनाव की अपेक्षा भावुकता और आदर्श की विवशता से प्रेरित होकर जीवन्त नाटकीय संघर्ष की अनुभूति नहीं दे पाता । लक्ष्मीनारायण लाल का 'रक्तकमल' देश और समाज में प्रस्तुत हो रहे अनेक जटिल प्रश्नों के विरोध में व्यक्ति के संघर्ष को प्रस्तुत करता है । नाटक का मुख्य पात्र कमल विदेश में सहे गये अपमान के कारण ही स्वदेश लौटकर कुछ काम करने को

अपेक्षा पूंजीपति वर्ग के भ्रष्टाचार और स्वार्थ नीति के विरुद्ध जनजातियों में जागरण का संदेश भरना चाहता है । किन्तु नाटक के भीतर का नाटक जो भाव वस्तु प्रस्तुत करता है,वह स्वाधीन भारत की स्थिति को लेकर है । उस नाटक को करने वाले निर्धन वर्ग के पात्र जब देश को खण्ड-खण्ड होती स्वतंत्रता का प्रतीकात्मक नाटक प्रस्तुत करते हैं तो वे उसका उतना ही अर्थ जानते हैं,जितना कमल उन्हें बताता है । उनकी चेतना कमल की दृष्टि तक सीमित रह जाती है । जनजातियों की अंधी श्रद्धा के आदर्श पात्र की तरह कमल अपने व्यापारी भाई की पोल उनके सामने खोलता है । पूर्ण नाटक में प्रस्तुत वह सारा व्यापार संघर्ष की तैयारी का है, किन्तु ऐसी तैयारी जिसमें ऊपरी भावुकता है, जो देश की स्थिति का प्रदर्शन तो कर सकती है, पर उस स्थिति के सुधार का संकल्प नहीं ले सकती,क्योंकि उसमें वास्तविक जागरण की अनुभूति नहीं है । संघर्ष की सम्भावना इसलिए भी विच्छिन्न होती है कि एक पात्र का संघर्ष दूसरे पात्र के विरोध में उभरने की अपेक्षा समझौते की तलाश करता है । कमल का अपने भाई या दलाल के साथ मतवैभिन्न्य या मजदूर वर्ग को जागृत करने अथवा अमलतरस्य को अपना अनुचर बनाने का प्रयास ऐसी ही भावप्रवण स्थितियां हैं,जिनमें नाटककार अपने पात्रों को संयम के कठोर शासन से लैस कर भेजता है,जिससे प्रत्येक निर्णय समझौते से हो सके । इस सारे प्रयास में नाटकीय संघर्ष उल्लेखनीय रूप में प्रभावी नहीं हो पाता है ।

जगदीशचन्द्र माथुर के नवीनतम नाटक 'पहला राजा' भी संघर्ष की दृष्टि से विशेष सम्भावनाएं नहीं दे पाता है । वस्तु में अन्तर्निहित संघर्ष को उद्घाटित कर सकने में पात्र असमर्थ होने लगते हैं,फलत: वे अपनी क्रियाहीनता को विवशता और भाग्य मानकर रह जाते हैं । नाटक में प्रारम्भिक संघर्ष ऋषि-भय का है जो अपने स्वार्थों के फलस्वरूप पृथु को अपना नायक बनाता है । राजा के रूप में पृथु के सामने जो प्रश्न आते हैं वे भावी संघर्ष की पूर्वपीठिका हैं । कवष से पृथु का मत वैभिन्न्य इसी संघर्ष की गहन भवितव्यता की ओर संकेत करता है । किन्तु प्रथम अंक में संघर्ष की सम्भावना देने वाली ये स्थितियां जो अतीव उत्साह को प्रस्तुत करती हैं,द्वितीय अंक में उदासीनता में बदल जाती हैं और चुनौतियों को चाहने वाला पृथु अर्चना के

राशि-राशि वैभव में मुंह छिपाकर पलायन को स्वीकार करता है । भूख अकाल से पीड़ित जनता का क्रन्दन एक बार फिर उसके संघर्ष को तीव्र होने की सम्भावना देता है । इसी बीच मुनि त्रय का षड्यन्त्र नाटकीय तनाव की स्थिति तो है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पृथु केवल उत्तेजित होता है और इसी उत्तेजना में वह जनसमूह के शोर और उनकी उत्तेजना को दमित करने के उद्देश्य से जाता है । उर्वी के सान्निध्य में वह पृथ्वी को समतल करने नदी पर बांध बनाने आदि कामों में प्रवृत्त होता है । किन्तु ये सब कार्य वास्तविक और नाटकीय संघर्ष को प्रस्तुत नहीं कर पाते हैं,क्योंकि पृथु एक कठपुतली के रूप में सामने आता है,जिसे जब चाहो तब नई दिशा की ओर प्रवृत्त कर दो । उर्वी के समक्ष लिया गया उसका संकल्प,जो अपने विकास क्रम में पात्र के तीव्र और सच्चे संघर्ष का द्योतक हो सकता था, विकसित नहीं होता है,क्योंकि वह यह संवाद सुनकर कि दृषद्वती के बांध के टूट जाने से उर्वी एवं कवष दृषद्वती की धारा में बह गये हैं , कुछ प्रतिक्रिया करने की अपेक्षा जड़ीभूत हो जाता है । इसकी अपेक्षा कि वह अपने प्रिय सखा कवष,प्रिय सखी उर्वी के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए कोई सशक्त कदम उठाये, वह एक आज्ञाकारी पुत्र की भांति अस्त्र-शस्त्र से पुन: सज्जित होता रहता है और अन्त में इस सारी असफलता को अदृश्य का विधान मानकर अपने धनुर्धारी रूप को स्वीकार कर लेता है। देखा जाय तो सारी कमजोरी पृथु के लचीले व्यक्तित्व के कारण है । वह किसी आन्तरिक हलचल या परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा से प्रेरित नहीं है, इसी कारण वह बाह्य दबावों में निरन्तर बदलता रहता है । मुनित्रय का स्वार्थहित व्यक्तिगत तथा सामूहिक पूर्ण कार्य भी पूर्ण कार्य व्यापार को सशक्त या प्रभावोत्पादक आयाम नहीं दे पाता है ।

विनोद रस्तोगी के 'नये हाथ' नाटक में पात्रों का संघर्ष परिवेश की मान्यताओं, रूढ़ियों आदि से दृष्टिगत वैभिन्न्य का संघर्ष है । एक दृष्टि अजयप्रताप और माधुरी की है,जो प्राचीनता की प्रतीक है । दूसरी दृष्टि नवीन विचारों के समर्थक महेन्द्रपाल तथा शालिनी की है और एक तीसरी दृष्टि माला,सतीश,बालो और विजय की है, जो नवीन विचारों से प्रभावित तो है पर उनमें इतना साहस नहीं है कि वे अपने अधिकारों की मांग करें । पात्रों में इस तरह सन्तुलित विरोध की कल्पना कर

नाटककार वस्तु में प्रस्तुत स्थितियों में इन पात्रों को क्रिया-प्रतिक्रिया के लिए अवसर देता है । अंगूठी पहनाने की घटना के पूर्व तक का पूर्ण संघर्ष अन्तिम दृष्टियों का है, जिसमें महेन्द्रपाल माला, सतीश तथा बाली में नव जागृति भर कर उनमें अधिकारों की मांग को ललक पैदा करता है तथा उन्हें प्राप्त करने के संघर्ष के लिए प्रेरित करता है । शालिनी विजयप्रताप की भावुकता की अपेक्षा बुद्धि से काम करने के लिए प्रेरित करती है । इन पात्रों का संघर्ष साधारण रूप से विकसित होते हुए जिस तनाव और कौतूहल का निर्माण करता है, वह सतीश द्वारा माला को अंगूठी पहनाने की घटना के बाद से विशृंखलित होने लगता है, क्योंकि कुछ पात्रों का बदलना आकस्मिकता का परिणाम लगता है । उससे आगे बढ़े तो देखेंगे कि पात्र अपने-अपने विचारों को लिए संघर्ष करने की अपेक्षा आदर्शवादी हो जाते हैं, जिससे संघर्ष का तनाव एकांगी हो जाता है और संघर्ष की सम्भावना अजयप्रताप की एक-के-बाद-एक आत्मस्वीकृति की स्थिति में समाप्त हो जाती है, तथा दृष्टिगत संघर्ष की तीव्र सम्भावना समझौते में बदलती है । शिथिलता समझौता हो जाने से नहीं आती, पर शिथिलता उस समझौते की अतार्किकता तथा आकस्मिकता से आती है । अपनी परम्परा और शान-शौकत के इतने दृढ़ हिमायती, अपनी इज्जत के लिए भाई विजय को कलंक का टीका लगाने वाले अजयप्रताप का इतनी सहजता से नये विचारों और मान्यताओं को स्वीकृति दे देना वास्तविक नहीं लगता है । बदलने की प्रक्रिया किसी सशक्त विचारक्रम से प्रेरित नहीं है, जैसे कि इब्सन के नाटक 'पिलर्स आफ सोसाइटी' में बर्निक द्वारा अपने अपराधों को, जिसका कलंक दूसरे पात्र पर है, स्वीकार करने की स्थिति उसके तीव्र आन्तरिक उद्वेलन, गहरी मानसिक उथल-पुथल तथा आन्तरिक दबाव का परिणाम है । नाटकीय अर्थों में तीव्र और गहन संघर्ष की प्रस्तुति इस शिथिलता के कारण प्रभावोत्पादक नहीं बन पाती, और नाटक एक उपदेश-सा देता लगने लगता है कि बीती पीढ़ी को बदलते युग के साथ बदलना चाहिए । भाषा भी ऐसा कोई रचनात्मक आयाम नहीं दे पाती कि नाटक में प्रस्तुत प्रारम्भिक संघर्ष नाटक को विशिष्टता दे सके, परिणामत: अपने पूर्ण प्रभाव में नाटक साधारण स्तर का बोध देकर रह जाता है ।

लगभग ऐसी ही तर्कहीनता में अश्क जी का 'अलग अलग रास्ते' नाटक का संघर्ष अन्त तक आते-आते स्तरीय और बाह्य लगने लगता है । रानी अपने पति के स्वार्थी और

धन लोलुप होने के कारण उसे छोड़कर पिता के घर चली आती है । वह पत्नी के रूप में स्वयं को सहधर्मिणी मानती है,दासी नहीं,और इस रूप में उसका संघर्ष एक ओर पति से है,जो उसपर शासन करना चाहता है,दूसरी ओर पिता से है जो यह मानकर चलता है कि शादी के बाद चाहे जो हो लड़की को पति-गृह में ही रहना चाहिए । रानी का नाटक में संघर्ष पिता से ही आरम्भ होता है जो उसे पति के पास धन तक देकर भेजने को तैयार है । रानी धन लोलुप स्वार्थी पति के साथ रहने की अपेक्षा अपने पैरों पर खड़े होकर कुछ भी करने को तत्पर है । किन्तु संघर्ष की यह परिकल्पना जिस प्रकार नाटक में प्रस्तुत होती है,उससे निराशा होने लगती है । पिता का विरोध कर रानी पति-गृह न जाकर भाई पूरन के सहारे घर छोड़ देती है,क्योंकि पिता के साथ मत-वैभिन्न्य की चरम सीमा में वह अनुभव करती है कि सभी पुरुष एक जैसे होते हैं । किन्तु भाई के साथ नये जीवन की खोज में पिता,पति का त्याग तनाव को तीव्र नहीं करता है, पर अति-नाटकीय बनाता है,क्योंकि रानी यदि बेकार बैठे भाई के साथ जाकर जीवन के मार्ग का निर्णय कर सकती है,तो उसी श्रेणी के पिता या पति के साथ क्यों नहीं । जब अन्तत: उसे सहारे की ही आवश्यकता है तो रूढ़ियों और परम्पराओं से विरोध की बात असंगत लगती है । नाटक की दूसरी पात्र राजो के लिए संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह अपने पति द्वारा दूसरा विवाह करने पर भी उसी घर में रहना चाहती है और सास-ससुर के स्नेह के बल पर जीवन बिता देने का निश्चय कर रखती है ।

पात्रों के इस संघर्ष से कार्य-व्यापार को गतिशीलता और नाटकीय तनाव तो मिलता है,पर यह सारा आयोजन संघर्ष की बड़ी सतही और थोथी अनुभूति देता है ।पात्रों का चिन्तन और उनके निर्णय आकस्मिक भावावेश के प्रतिफलन हैं,किसी सशक्त, बौद्धिक या भावात्मक आदर्श से अनुप्रेरित नहीं । इसी कारण उनका विरोध तीव्र प्रतिक्रिया है, घनीभूत मानसिक उथल-पुथल का परिणाम नहीं ।
मिथ्याभावातिरेक,यथार्थ प्रतिक्रियाहीनता के कारण बहुत गम्भीर प्रश्न को लेकर चलने वाले नाटक संघर्ष की दृष्टि से बहुत कुछ उपलब्ध नहीं करा पाते हैं । लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस' विषय और शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी और

रंगमंचीय होने के बावजूद भी पात्रगत संघर्ष की सघन वास्तविक अनुभूति नहीं दे पाता है । 'मादा कैक्टस' में अरविन्द हिन्दू-विवाह-पद्धति पर अविश्वास करता है,क्योंकि वह सोचता है कि विवाह कला की उन्नति में बाधा है । इसी कारण वह अपनी पत्नी का त्याग कर आनन्दा को अपनी कला प्रेरणा के लिए ढूढ़ निकालता है । नाटक में अरविन्द के लिए संघर्ष का कोई प्रश्न नहीं है,क्योंकि उसे अपने इस प्रयोग में आस्था है,और विश्वास है कि आनन्दा भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार करती है । संघर्ष की सम्भावना आनन्दा में है । वह ऊपर से अरविन्द की प्रेरणा बनी रहकर भी स्वाभाविक रूप से नारी है, वह अरविन्द से प्रेम करते हुए भी उसकी साधना और विचारधारा को खण्डित नहीं करना चाहती है, फलत: वह अन्दर-ही-अन्दर घुलती रहती है, जिस कारण उसके फेफड़े खराब हो जाते हैं । नाटक के प्रतीक संघर्ष को किसी भी स्तर पर प्रभावित करते हों, ऐसा नहीं लगता । पात्रों के आपसी तनाव या संघर्ष की स्थिति निर्मित नहीं हो पाती है, अरविन्द इस निश्चय में जीता है कि आनन्दा उसकी प्रेरणा है और आनन्दा अरविन्द के लिए अपने व्यक्तित्व की हत्या करने का प्रयास करती है । ऐसा भी नहीं है कि आनन्दा का अपेक्षित आन्तरिक संघर्ष,अपने आदर्श में ही, नाटकीय तनाव का निर्माण कर पाया हो । भावप्रवणता का प्राधान्य,अतार्किक आयोजन में साधारण स्तर का हो जाता है । नाटक के अन्य पात्र भी संघर्ष की दृष्टि से कुछ उपलब्ध नहीं करा पाते हैं । केवल सुजाता किसी गहन संघर्ष की अनुभूति देती है, पर नाटक में उसको अवसर नहीं मिल पाता है ।

इन सभी नाटकों से कुछ स्तरों पर भिन्न अग्निहोत्री के 'नेफा की एक शाम' के पात्र युद्धकालीन परिवेश से संघर्षरत हैं । यद्यपि कुछ युद्धकालीन पात्रों का संघर्ष और उनका कार्य आदर्श से अनुप्रेरित हुआ करता है,किन्तु नाटक में प्रस्तुत आदर्श एक लम्बी और वास्तविक द्वन्द्वानुभूति से उद्भूत है । सभी पात्र अपनी वैयक्तिकता की रक्षा करते हुए सामूहिक संघर्ष में उलझे हुए हैं । व्यक्तिगत रूप में नोमो और देवल,नोमो और मां का संघर्ष नाटक के प्रारम्भिक तनाव को निर्मित करता है । नोमो का अपने भाई देवल और मां माताई से गूंगी सुहाली के कारण संघर्ष है । नोमो को छोड़कर सुहाली को कोई भी नहीं चाहता है । माताई यह समझती है कि जब से गूंगी सुहाली आयी है,नोमो उसका नहीं रहा है, फलत: उसकी ममता विशेषरूप से छोटे-बेटे देवल

पर टिक जाती है, क्योंकि देवल छोटा तो है पर माँ की भांति वह भी सुहाली को पसन्द नहीं करता है । देवल के प्रति माँ का अधिक ममता नीमों को खलता है । उसे लगता है कि देवल कुम पर भी नहीं जाता, रात-रात भर गायब रहता है, और सुहाली को भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखता है । पात्रों का आपसी विरोध सम्बन्धों में तनाव लाता है । तनाव का इस पृष्ठभूमि पर देवल को गोगो के साथ आक्रमण करने के संघर्ष में व्यस्त देखकर भावी संघर्ष की रूपरेखा उभरने लगती है तथा शीकाकाई के आने और तंवाग के नष्ट हो जाने के संवाद देने से पात्रों के संघर्ष को तीव्रता मिलती है । अब तक लगभग सभी पात्र व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए या अपने पर बीती किसी दु:खद घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप संघर्ष रत हैं, किन्तु बांगचू और फुंगशी के आने का सारा घटना-क्रम सभी पात्रों को एक उद्देश्य में आबद्ध कर जाता है । पात्रों का आपसी तनाव समाप्त होता है और नीमों अत्यन्त तनाव की स्थिति में देवल को रक्षा कर नाटकीय ढंग से बांगचू का हत्या करता है । माताई भी इस घटना से उसी उद्देश्य में शेष पात्रों के साथ संघर्षरत होती है । पृष्ठभूमि में तीव्र होते युद्ध के सन्दर्भ में इन पात्रों की क्रियाशीलता भी तीव्रता लेती है और धीरे-धीरे नाटकीय संघर्ष सियांग नदी के पुल को उड़ाने के उद्देश्य पर टिक जाता है । पात्रों का पूर्ण संघर्ष मानवीय कमजोरियों और नाटकीय दृढ़ता से शासित है । सियांग नदी के पुल को उड़ाये जाने से पूर्व पात्रों का आपसी संघर्ष, उनका मानवीय उद्वेलन संघर्ष को कुशलतापूर्वक गहराई देता है । पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया आकस्मिक या अविश्वसनीय नहीं प्रतीत होती, ऐसा भी नहीं लगता कि उनकी प्रतिक्रिया अधिक हो गई हो । यद्यपि पात्रों का संघर्ष बहु आयामी व्यापकता नहीं देता पर 'क्रान्तिकारी' के पात्रों की भांति वे 'टाइप' पात्र भी नहीं है । वहां संघर्ष की प्रतिक्रिया तीव्रता में बाह्य अनुभूति से आक्रान्त लगती है, पात्रों की क्रियाशीलता उलझाव की अनुभूति नहीं दे पाती, क्योंकि संवादों में वह क्षमता नहीं है, जो सूचना में जीवन्तता का आभास दे सके, फलत: वे वर्णनात्मक लगते हैं । इसमें हमारी रुचि का केन्द्र पात्रों के बीच की प्रत्येक उलझन भरी स्थिति है, क्योंकि उस उलझाव से नये संघर्ष की सम्भावना को हम ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं । पुल के के टूट जाने से नीमो, देवल का संघर्ष तो

समाप्त हो जाता है,क्योंकि उनकी मृत्यु हो जाती है,किन्तु नाटक का संघर्ष अभी समाप्त नहीं होता,'अभी शुरुआत है, शुरुआत' की घोषणा में घनीभूत हो जाता है; पुल टूटने में एक सफलता का मिलना है, पूर्ण संघर्ष का अन्त होना नहीं यह अनुभूति गहरी होने लगती है । वस्तुत: यह कबीला दुश्मनों के मार्ग में जहां तक हो सके, बाधा डालने का उद्देश्य सामने रखकर संघर्षरत है । इस क्रियाशीलता में कुछ पात्र स्वयं परिस्थितियों के दबाव में बदलते हुए दूसरों को भी बदलने का प्रयास करते हैं किन्तु यह बदलना स्वाभाविकता से होता है । नीमों द्वारा दुलाली की हत्या भावातिरेक का परिणाम नहीं है और न ही डोमिनाबाई तथा देवल का सम्बन्ध आकस्मिकता का परिणाम ।

कार्य-व्यापार की तीक्ष्णता में यद्यपि नाटककार वैसी सम्भावनाएं तो नहीं दे पाता है,जैसी कि 'अंधा युग' में भारती द्वारा द दी गई हैं, किन्तु फिर भी नाटक का अपना एक प्रारूप है,जिसमें यथार्थ की घटना का ऐसा नाटकीय रूपान्तर है,जो संघर्ष को ऊपरी तथा सतही हो जाने से बचाने के लिए तनाव के सहारे संघर्ष की स्थितियों को प्रस्तुत करता है ।संघर्ष बाह्य तो है , किन्तु ऐसा नहीं लगता कि संघर्ष की स्थितियां अनायास प्रकट हो गयी हो अथवा आकस्मिकता में अविश्वसनीयता का बोध देती हो ।

व्यक्ति का व्यक्ति से संघर्ष -- दृष्टिगत,प्रकृतिगत,आदर्शगत / स्थूल रूप में देखा जाय तो प्रत्येक आयाम व्यक्ति से व्यक्ति के संघर्ष को ही प्रस्तुत करता है,किन्तु जब वही संघर्ष थोड़ी विशिष्टता लेता है तो व्यक्ति के आदर्श,प्रकृति या दृष्टिकोणका संघर्ष प्रस्तुत करता है। सूक्ष्मता में अच्छे-बुरे पात्रों का, या परिवेश से द्वन्द्वरत पात्रों का संघर्ष भी आदर्श दृष्टि अथवा प्रकृति का हो सकता है । सूक्ष्म रूप से व्यक्ति के व्यक्ति से संघर्ष में ये ही आयाम व्यक्त होते हैं,उन्हें उनके आदर्शों की भिन्नता, दृष्टि अथवा प्रकृति की विभिन्नता संघर्ष को प्रस्तुत करती है । जिन नाटकों की चर्चा की जा चुकी है, उनमें से कुछ नाटकों के पात्रों का संघर्ष व्यक्ति के इस संघर्ष को भी पोषित करता है ।'कोणार्क' में परिवेश के सन्दर्भ में तो आर्थिक संघर्ष प्रस्तुत है,किन्तु विशु और धर्मपद के प्रत्यक्ष संघर्ष में अन्तर्व्याप्त संघर्ष उनकी दृष्टिगत भिन्नता का है । विशु कलाकार के कार्य क्षेत्र को केवल उसका कलागत

रचनाशीलता तक सीमित मानता है । बाह्य उलझनों और चिन्ताओं के बीच से अलग कलाकार के अस्तित्व को कलाजगत की सुन्दरता तक ही सीमित मानता है, जब कि धर्मपद मानता है कि कलाकार को केवल सौन्दर्य का प्रणेता ही नहीं, जीवन के संघर्षों का प्रणेता भी होना चाहिए, क्योंकि वह मानता है, जीवन की पूर्णता सौन्दर्य और संघर्ष दोनों में होती है । उनकी दृष्टिगत भिन्नता ही वर्गगत संघर्ष को उभारती है तथा पूर्ण संघर्ष को तनावपूर्ण आयाम देती है । 'अलग अलग रास्ते' में रूढ़ियों से व्यक्ति के विरोध में मूलत: व्यक्ति की विचारगत भिन्नता का संघर्ष है । राजी नवीन विचारों से प्रभावित, पिता और पति की परम्परित विचार-धारा से विरोध रखती है । पूरन भी नवीन विचारों का हिमायती है । पात्रों में इस वैभिन्न्य के कारण उलझाव की स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं । इसी तरह 'रातरानी' और 'मादा कैक्टस' के पूर्ण संघर्ष में पात्रों के आदर्श का संघर्ष है । 'रातरानी' में कुन्तल का आदर्श जीवन को कल्याण तथा शान्ति के स्तरों से सुखी बनाने का है, जब कि जयदेव का आदर्श धन है । कुन्तल अपने आदर्श के कारण त्याग, दया और सहानुभूति का मार्ग अपनाता है और जयदेव अधिक धन प्राप्ति के लिए क्रूर और उग्र व्यवहार का प्रयोग करता है । उसके लिए कुन्तल का मार्ग प्राचीनता का द्योतक है और कुन्तल के लिए जयदेव का मार्ग स्वार्थ का । जीवन को सुखी बनाने का उनका यह भिन्न आदर्श अपनी तीव्रता में जब उलझता है तो संघर्ष की संभावना देता है, किन्तु देखा जा चुका है कि यह सम्भावना प्रतिफलन में निराशा ही देती है । 'मादा कैक्टस' में इसी तरह विवाह के परम्परित रूप से विद्रोह कर जब अरविन्द नये रूप की खोज करता है तो वह सारे परम्परित बन्धनों को अस्वीकार कर आनन्दा की शरण जाता है । उसका आदर्श सम्बन्धों को बन्धनहीन मानने का है, जब कि आनन्दा का आदर्श परम्परित या कहें नारी मन की स्वाभाविकता का ही है । मिश्र जी ने 'सिन्दूर की होली' में पात्रों का संघर्ष भिन्न आदर्शों को ही लेकर है । पात्रों में संघर्ष की परिकल्पना गहराई नहीं ले पाती है, एक तो इसलिए कि वस्तु का गठन ही इस सम्भावना को पोषित नहीं करता है और दूसरे पात्रों का पूर्ण संघर्ष अविश्वसनीय लगने लगता है, क्योंकि पात्रों के आदर्श नाटकीय तर्क संगति से नहीं उतरते हैं, आदर्श प्रस्तुत रूप का कोई भी कारण गहरी

भावुकता के प्रतिफलन की अपेक्षा आरोपित लगता है, जिसपर सहजता को विश्वास भी नहीं हो पाता है । चन्द्रकला की रजनीकान्त पर आसक्ति स्वाभाविक हो सकती है, किन्तु मरते हुए रजनीकान्त को पति बनाकर अपने पत्नीत्व के आदर्श की रक्षा बुद्धिग्राह्य नहीं है । मिश्र जी के पात्र साधारण व्यक्ति नहीं, 'अतिमानव' लगते हैं, क्योंकि उनमें व्यक्ति की कामनाओं और वासनाओं का विक्षोभ, व्यक्ति की प्राकृतिक आवश्यकताओं और आदिम प्रवृत्तियों की टकराहट और उलझन नहीं है । पात्रों की यह परिकल्पना संघर्ष का निर्माण करने में विफल होने लगती है और ये सभी बातें नाटकीय पात्रों को, इनसे बहुत दूर ले जाती हैं । इसके विपरीत नरेश मेहता के 'खंडित-यात्राएं' के पात्रों में प्रतिक्रिया इतनी कम है कि वे अपनी ही स्थिति के इर्द-गिर्द घूमते हुए नाटकीय संघर्ष की सम्भावना को विच्छिन्न-सा कर देते हैं । सामंतीय परम्पराओं में पले, उनमें जीते हुए, उनसे अलग होने की कामना वे नहीं करते और जीवन की सारी विवशताओं के बीच चलाते जाने की स्थिति को भावुकता और दार्शनिकता से ओढ़े रहते हैं । स्वयं को बदलने की कामना उनमें है ही नहीं, और यदि उन्हें कोई बदलना चाहता है तो वे अपनी विवशता प्रकट कर रह जाते हैं ।

अपने अस्तित्व की सार्थकता समझने के लिए व्यक्ति को ऐसे सत्य की खोज में तत्पर होना पड़ता है, जिसमें आस्था रखी जा सके । किसी बने-बनाये आदर्श को स्वीकार करने की अपेक्षा स्व निर्मित आदर्श को स्वीकार करने के लिए मनुष्य को कार्यरत होना पड़ता है । लक्ष्मीनारायणलाल के 'दर्पन' नाटक में व्यक्ति के इसी आदर्श की खोज का संघर्ष प्रस्तुत हुआ है । बचपन में ही बौद्ध-भिक्षुणी बना दी गई पुर्वी युवावस्था में पहुंचकर उस वातावरण को स्वीकार नहीं कर पाती है । सांसारिक जीवन में लौटने की स्थिति में उसका साक्षात्कार हरिपदम से होता है और वह उसकी ओर आकृष्ट होती है । हरिपदम में अपनी आसक्ति को वह समझने का प्रयास करती है । उसके मन में इतनी करुणा और मानवता है कि वह हरिपदम से अपने विवाह को पूर्णतया स्वीकार भी नहीं कर पाती है । इसी मन:स्थिति में कभी वह हरिपदम की ओर बढ़ती है और कभी उससे दूर हटने का प्रयास करती है । द्विविधा की इस मन:स्थिति में क्षय के रोगी एक दंडी, जिसकी वह पहले सेवा-सुश्रुषा कर चुकी है, से साक्षात्कार होने पर वह अपने जीवन के सत्य को पहचान कर पुन: मठ में लौट जाती है । इस तरह पुर्वी का संघर्ष जीवन के उस आदर्श या सत्य की खोज का है, जो व्यक्ति स्वत: खोज निकालता है,

परम्परित रूढ़ियों द्वारा आरोपित नहीं करने देता है । नाटकीय विरोध की दृष्टि से सभी पात्र पूर्वी के संघर्ष को उद्घाटित करते हैं । सुजान के सान्निध्य में उसका मानवीय रूप उभर कर आता है और हरिपदम के सामने उसके व्यवहार की कृत्रिमता उसके व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है । ममता और उसके बीच का वैषम्य भी उसकी मानवीय विशेषता को उजागर करता है और हरिपदम के पिता के विरोध में इन्हीं चारित्रिक विशेषताओं को और स्थायित्व मिलता है । देखा जाय तो नाटक के पूर्ण संघर्ष का आधार पूर्वी का ही संघर्ष है, अतः उसके संघर्ष की ओर ही हमारा ध्यान जाता है । नाटककार ने उसे जिन विशेषताओं से विभूषित किया है, वे ही पात्र की स्वाभाविकता को नष्ट करती है । करुणा और दया का इतना प्रवाह असंगत लगता है, क्योंकि उसके आधार का ज्ञान नहीं हो पाता, इसी तरह पूर्वी के मठ छोड़कर आने में उसकी वास्तविक कामना का ज्ञान हमें नहीं हो पाता है । किसी एक स्टेशन पर अनायास बीमार हरिपदम की सेवा करते हुए उसके घर तक जाकर सांसारिक जीवन जीने की कामना का पूर्ण प्रारूप तार्किक स्तर पर निराशा देता है । आदर्श का उदात्त स्तर संघर्ष के क्षणों को गहराई नहीं दे पाता है और पूर्वी नाटकीय पात्र के रूप में अविश्वसनीय लगने लगती है । रोगी देही से उसका साक्षात्कार और उसकी मानसिक स्थिति का परिवर्तन जिस स्थिति में होता है, वह आकस्मिकता और अविश्वसनीयता का बोध देता है । वस्तुतः परिवर्तनीय मोड़ देने वाले ऐसे क्षणों का अभाव, जो नाटकीय ढंग से पात्र की विशेषता को व्यक्त कर दे, भी संघर्ष की विशृंखलता या अपरिपक्वता का कारण माना जा सकता है । मन्नु भंडारी के 'बिना दीवारों के घर' में पात्रों का संघर्ष उनकी प्रकृति के कारण तीव्रता लेता है । पति-पत्नी की प्रकृति स्वनिर्माण की क्रियाशीलता के बुनियादी अन्तर में आपसी तनाव को इतना विकास देती है कि शोभा घर छोड़कर चली जाती है । शोभा पढ़-लिख अपने मार्ग पर स्वच्छन्दता से आगे बढ़ना चाहती है । उसकी महत्वाकांक्षा उसे आगे बढ़कर ऊँचे पदों को स्वीकार करने को प्रेरित करती है, किन्तु अजित जो स्वयं शोभा को इस मार्ग पर लाता है, अन्ततः उसकी स्वच्छन्दता से विरोध भी रखने लगता है । दृष्टिकोण का यह विरोध उनकी प्रकृति का अंग बन जाता है, फलतः वे प्रत्येक बात को आत्मसम्मान का प्रश्न मानकर उलझ जाते हैं । एक छोटी-सी बात भी बड़ी बात बन जाती है और तनाव कम करने की इच्छा स्वभावतः तनाव को तीव्र कर देता है । आन्तरिक कोमलता

व्यंग्य और कटुता से आच्छादित होकर चरमसीमा तक आते-आते प्रमुख बन जाता है । आपसी सम्बन्धों में भरता तनाव नाटक को संघर्षमय गत्यात्मक आयाम देता है । नाटक में संघर्ष और तनाव तो है, किन्तु नाटककार का दृष्टि उसे गहराई देने की अपेक्षा विस्तार देने में अधिक रही है । विस्तार में पात्रों के उलझाव का एक ही प्रारूप बार-बार दुहराया जाकर अपना आकर्षण खोने लगता है । पात्र तनाव की जिस अप्रिय स्थिति से गुजरते हैं, उसका उनके व्यक्तित्व पर क्या प्रभाव पड़ता है, उनकी आन्तरिक प्रक्रिया इस सन्दर्भ में मौन रहकर व्यक्ति के मानसिक संघर्ष को उदय तक नहीं करती । वह दबाव जो उन्हें एक-दूसरे के प्रति असहिष्णु बना देता है, किसी क्षणिक आवेगों का परिणाम होने की अपेक्षा किसी अस्वीकार की प्रतिक्रिया है । नाटकीय संघर्ष इस तरह साधारण प्रभाव डालकर रह जाता है ।
देखा जाय तो इन पात्रों के संघर्ष में वह सघनता, विश्लेषणीयता और मानवीय संवेदनाओं का उद्वेलन नहीं है, जो 'अंधा युग' के पात्रों में है, 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास या मल्लिका में है, 'लहरों के राजहंस' 'आधे अधूरे' या 'एक और दिन' के पात्रों में है । लगभग ये सभी नाटक एक ओर व्यक्ति के अन्तर्जगत की उथल-पुथल को प्रस्तुत करते हैं और दूसरी ओर पात्रों के आपसी संघर्ष को, दोनों का समन्वय कार्य को गत्यात्मक आयाम देते हुए पूर्ण कार्य को चरम सीमा की ओर प्रेरित करता है ।
व्यक्ति का मानसिक संघर्ष दो व्यक्तियों के आपसी सूक्ष्म संघर्ष को, जो उसके आदर्श, उसकी प्रकृति और दृष्टिकोण का है, पात्रों का मानसिक संघर्ष गहराई और सूक्ष्मता प्रदान करता है । जिन नाटकों की चर्चा यहां की जा रही है, उनमें से अधिकांश नाटकों के पात्रों की क्रियाशीलता, उनके आदर्श आदि उनकी आन्तरिकता से अनुप्रेरित होकर पूर्ण नाटकीय कार्य को विकास देती है । तात्पर्य यह कि दूसरे व्यक्ति के सन्दर्भ में उनका संघर्ष एक ओर आदर्श और दृष्टिकोण का है, दूसरी ओर ये आदर्श और दृष्टिकोण उनके आन्तरिक संघर्ष से प्रेरित है । संघर्ष का बाह्य प्रदर्शन आन्तरिक दबाव के गहन क्षणों का परिणाम है, इसी कारण पूर्ण प्रभाव में उनका संघर्ष व्यक्ति के संघर्ष के सभी सम्भावित आयामों को सन्निकट रूप से आत्मसात् कर चला है । अलग-अलग रह जाने

वे पर ये सभी संघर्ष एक पूर्ण संघर्ष की वास्तविक और तीव्र अनुभूति देते हैं । अतः उनको अलग रखना अनावश्यक विस्तार होगा । पूर्ण प्रभाव में इन कुछ नाटकों के पात्रों का संघर्ष किसी गहरी नाटकीय सम्भावना को देने लगता है । अश्क जी का 'कैद' नाटक अप्पी की प्रकृति में घर कर चुकी घुटन और विफल प्रेम की पीड़ा के अन्तर्व्याप्त संघर्ष को प्रस्तुत करता है । पात्रों के संघर्ष की जो गहरी अनुभूति भिन्न स्तर पर 'आधे-अधूरे' और 'एक और दिन' में होती है, उसी अनुभूति का एक प्रारंभिक रूप इसमें उभरता है । नाटक में अप्पी के जीवन की पीड़ा और विवशता को लेकर नाटककार किसी संघर्ष को प्रस्तुत नहीं करता है, पर संघर्ष के तनाव को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है, जिसमें पूर्ण तनाव भावुकता और सहानुभूति के कारण घुटन के भाव से निर्देशित है । प्राणनाथ का संघर्ष उसी में कैद है, क्योंकि अप्पी के जीवन को नष्ट करने का उत्तरदायी वह स्वयं को मानता है, और मन-ही-मन उसकी व्यथा को अनुभव कर उद्वेलित होता है । अप्पी प्रेम और कर्तव्य के संघर्ष को जीते-जीते चिड़चिड़ी हो गई है और अपना आक्रोश एक ओर बच्चों पर उतारती है दूसरी ओर गृह-काज की उदासीनता से देख एक प्रकार के बिखराव में व्यक्त करती है । किन्तु दिलीप मनोमन्थन की स्थिति में सर्जनशीलता की ओर प्रवृत्त होता है । आन्तरिक संघर्ष की ये स्थितियाँ दिलीप के असनूर पहुंचने पर बाह्य रूप से व्यक्त होती है । अप्पी का परिवर्तित व्यवहार घर की सफाई और बच्चों को दुलार उसके संघर्ष को नाटकीय आयाम देने के आधार हैं । किन्तु नाटक में शायद आन्तरिक विश्वसनीयता नहीं है, या एक प्रकार की कृत्रिमता है या नाटककार की भावुकतापूर्ण दृष्टि है, जिस कारण नाटक पूर्ण प्रभाव में कुछ अधूरा सा लगता है । और उसका नाटकीय प्रभाव सूक्ष्म अनुभूतियों को आन्तरिक रूप से नहीं उभार पाता है ।

धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' युद्ध से उत्पन्न अनेक बाह्य एवं आन्तरिक संकटों की समस्या को लेकर चलता है । पात्र हमारे जाने-पहचाने हैं और कथा भी महाभारत के युद्ध की है । किन्तु इस ऐतिहासिक आधार पर नाटककार जिन पात्रों को प्रस्तुत करता है, वे किसी भी युग के पात्र हो सकते हैं और उनका संघर्ष किसी भी ऐसे पात्र का हो सकता है, जिसे वैसी स्थितियों में जीना पड़ा हो । प्रत्येक पात्र की वैयक्तिकता, उसका अपना संघर्ष, दूसरे पात्रों के विरोध में उसकी प्रतिक्रिया नाटकीय संघर्ष को अत्यन्त सघनता और सूक्ष्मता प्रदान करती है । सभी पात्र सामूहिक रूप से दो दलों में विभक्त

है । व्यक्ति से व्यक्ति के संघर्ष के सन्दर्भ में उनका संघर्ष दो समूहों का अपने आदर्श एवं दृष्टि को लेकर है । धृतराष्ट्र, गांधारी, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कृतवर्मा कौरव पक्ष के अवशेष हैं, जिनमें से अश्वत्थामा इस समूह के संघर्ष को गत्यात्मक आयाम देने वाला प्रमुख पात्र है । उसका आक्रोश जो गहरी आन्तरिक पीड़ा और आत्म उद्वेलन का प्रतिफलन है, रह-रहकर तीव्र प्रतिक्रिया के परिणाम में विध्वंसात्मक कार्य में प्रकट होता है । यह ज्ञान कि सत्य और धर्म के लिए लड़ा जाने वाला यह युद्ध वस्तुतः असत्य और अधर्म से खेला गया है, उसके मनोमन्थन का कारण भी है और उत्तेजित करने का आधार भी । गुरु-पिता द्रोण की छल से हत्या और भीम तथा दुर्योधन के द्वन्द्व युद्ध में कपट से दुर्योधन को पराजित करना प्रमुख रूप से अश्वत्थामा के संघर्ष को तीव्र करते हैं । युद्ध का परिणाम देखकर चिन्तन करके, गांधारी की व्यथा का अनुभव कर यह संघर्ष तीव्र प्रतिक्रिया में बदलता है, जिसे प्रकाशित होने का निश्चित मार्ग मिलता है, बलराम के इन शब्दों से 'वे निश्चय ही मारे जायेंगे अधर्म से' और उलूक तथा कौवे के संघर्ष से ।

आन्तरिक मनोमन्थन और शक्तिशाली दबाव में वह पाण्डव-शिविर को तहस-नहस करने जाता है । कृष्ण और अर्जुन का उस पर आक्रमण उसके तीव्र आक्रोश को अन्तिम परिणति देता है, जब कि वह ब्रह्मास्त्र फेंक कर उसे वापिस लेने की असमर्थता में उत्तरा के गर्भ पर लक्ष्य कर देता है तथा कृष्ण द्वारा शापग्रस्त होता है । अश्वत्थामा का गहन, घनीभूत आन्तरिक संघर्ष अन्य पात्रों से विरोध में बाह्याभिव्यक्ति पाता हुआ पूर्ण नाटकीय संघर्ष को प्रभावशाली तथा स्थायी गत्यात्मक एवं परिवर्तनीय मोड़ देता है । पिताहन्ता से प्रतिशोध लेने की उसकी उत्कट इच्छा पर्याप्त नाटकीय है और इच्छा की प्रतिक्रिया नाटकीय कसाव लिए हुए है । अश्वत्थामा के संघर्ष का तीव्रतम शेष पात्रों के सघन संघर्ष से नियमित होता है । गांधारी का संघर्ष बाह्य प्रतिक्रिया में केवल कृष्ण को शाप देने के रूप में प्रकट होता है, अन्यथा उसका पूर्ण संघर्ष अन्तर्निहित और अन्तर्व्याप्त है । गांधारी का मानसिक संघर्ष उस मर्मान्तक पीड़ा से शासित है, जिसे एक माँ अपने सभी पुत्रों की मृत्यु पर भोगती है और उस व्यक्ति पर अपनी अनास्था और क्रोध व्यक्त करती है, जो उसका प्रिय पात्र ही भी है, और उसके सारे कुटुम्ब के विनाश का हेतु भी । कृष्ण के प्रति उसका आक्रोश इसी

द्विविधा का है और यही द्विविधा शापग्रस्त अश्वत्थामा के प्रति सहानुभूति के क्षण में तीव्र प्रतिक्रिया में नाटकीय मोड़ लेती है । आक्रोश का वह परिणति कृष्ण के शाप स्वीकार कर लेने पर आत्म-व्यथा और आत्मग्लानि के भाव से अनुरंजित हो जाता है । ममता,क्रोध,घनीभूत पीड़ा सब जैसे उसे पराजित छोड़ जाते हैं और विच्छिन्न-सी गांधारी का सम्पूर्ण अन्तर्द्वन्द्व उसकी स्थायी पीड़ा और पछतावे का प्रतीक बन जाता है । गांधारी के अन्तर्मन का क्रन्दन रुदन में परिवर्तित नहीं होता न ही किसी अन्य वाह्य स्थूलता में, पर अत्यन्त सूक्ष्मता और सघनता से नाटक में अन्तर्व्याप्त रहकर नाटकीय तनाव को महत्वपूर्ण आयाम देता हुआ सघन बनाता है । धृतराष्ट्र का आत्म उद्वेलन अपनी अन्धी प्रवृत्तियों के परिणाम और अपनी असमर्थता में सुने हुए युद्ध को हाथ से छू-छूकर देख आने के से उत्पन्न गहरी वितृष्णा की पीड़ा का है । कृष्ण जो इन सभी संघर्षों से ऊपर है,कर्म,विश्वास और श्रद्धा के पात्र हैं के विरोध में अन्य पात्रों को संघर्ष की स्थितियां मिलती हैं । गांधारी के शाप को वे जिस सहजता से ग्रहण करते हैं,उससे नाटकीय संघर्ष को कोई क्षति नहीं पहुंचती है,बल्कि तीखा संघर्ष 'युग संध्या की कलुषित छाया' के रूप में सभी के मन पर अंकित होकर अपना स्थायी प्रभाव जमा लेता है । विजय की अनुभूति विश्वासध्वस्तता से ग्रसित हो जाती है । धृतराष्ट्र का आन्तरिक संघर्ष पूर्ण युद्ध की विध्वंसात्मक उपलब्धि से उत्पन्न यातना, अमानुषिकता, जर्जर व्यक्तित्व और असुरक्षित अमंगल भावी युग के अंधियारे को अनुभव करने का है । विदुर नाटक में एक ऐसा पात्र है,जिसका संघर्ष अनेक बिखरे सूत्रों को जोड़ता है, किन्तु ये जोड़ नाटक में पैबन्द की भांति भद्दे नहीं लगते,अपितु अन्तरालों और विचारों को गहराई देने वाले सप्राणसूत्र हैं । युयुत्सु,जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज सुनकर सत्य का पक्ष स्वयं निर्धारित कर अपने भाइयों के विपक्ष में युद्ध करता है, अपनी विजय और अपने परिवार की पराजय की अनुभूति से द्वन्द्वरत है । दोनों ओर से वह जो अर्जित करता है,उस घृणा और अनास्था को लिए वह नाटक में सूक्ष्म तनावसूत्रों को पोषित करता है । देखा जाय तो प्रत्येक पात्र अपने में जीता हुआ,अपने ढंग से युद्ध की परिणति को,उसकी पीड़ा को,भोगता हुआ चिन्तन के स्तर पर उसे विश्लेषित करता हुआ, पूर्ण संघर्ष को गहरी नाटकीय रचनात्मक संवेदना देता है । प्रत्येक पात्र प्रहरी से वृद्ध याचक तक युद्ध की विभीषिका और उसमें होने के अपने एहसास को,अपने कर्मों को

अनुभूति की, आस्था-अनास्था और भविष्य के प्रति आशा-निराशा के प्रश्नों को लेकर किसी-न-किसी स्तर पर आन्तरिक उद्वेलन से विचलित है । इन पात्रों का आन्तरिक संघर्ष और उसकी संयमित अभिव्यक्ति मुख्य पात्रों के तीखे संघर्ष और उसकी परिणति को गम्भीर स्थायित्व प्रदान करती चलती है । भिन्न स्तरों पर नाटक के पूर्ण संघर्ष को विभक्त कर नाटककार उसकी समग्रता में एक निश्चित रचनात्मक प्रभाव प्रस्तुत करने में सफल होता है, जिसमें उत्तेजना भी है और गम्भीरता भी, बाह्याभिव्यक्ति और सूक्ष्मता भी है ।

'अंधा युग' का बहुआयामी व्यापक परिप्रेक्ष्य जिस गहरे सामाजिक संघर्ष की अनुभूति देता है, कुछ वैसी ही अनुभूति 'आषाढ़ का एक दिन' व्यक्ति की भावप्रवणता के परिप्रेक्ष्य में देता है । अम्बिका, मल्लिका, कालिदास और विलोम भिन्न आदर्शों और दृष्टिकोणों को लेकर चलते हैं और इनके साथ व्यक्ति का आन्तरिक उद्वेलन कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठता है । अम्बिका माँ है और उसने जीवन को यथार्थ की दृष्टि से देखा है । वह अपने अनुभवों के आधार पर जीवन के प्रति व्यावहारिक दृष्टि रखती है । उसका पूर्ण संघर्ष, आन्तरिक और मल्लिका या कालिदास से इसी आधार पर है । कालिदास के कवि पर उसे विश्वास नहीं है, क्योंकि वह भावना की अपेक्षा उसकी अकर्मण्यता को देखती है । वह अनुभव करती है कि कालिदास के सान्निध्य में मल्लिका की भावना कितनी ही घनी क्यों न हो जाय पर यथार्थ जीवन इस भावना पर नहीं बिताया जा सकता । इसी कारण वह निरन्तर इस प्रयास में रहती है कि मल्लिका का विवाह हो जाय, किन्तु मल्लिका से अपने स्नेहवश, उसपर अपनी इच्छा को आरोपित भी नहीं करना चाहती, परिणामतः वह निरन्तर अपनी अन्दर की माँ और बाहर की माँ से संघर्षरत रहती है । कालिदास का उज्जयिनी जाकर तटस्थ हो जाना और राजवधू प्रियंगुमंजरी का आकर घर की भित्तियों के परिसंस्कार करने, मल्लिका से किसी राजकर्मचारी से विवाह के प्रस्ताव रखने, उसकी भावना के मूल्य करने की बात से रुग्ण अम्बिका का निरन्तर संचरित घनीभूत संघर्ष ग्लानि और अपमान के अनुभव से उद्वेजित होकर आक्रोश और व्यंग्य में अभिव्यक्त होता है । उसकी शान्त, गंभीर घनीभूत वेदना राजवधू के व्यवहार में उत्तेजित होकर विद्रोह कर उठती है, पर आवेगों की सघनता के क्षणों में वह राजवधू के सामने सब कुछ कह नहीं पाती है और उसका प्रस्थान विक्षिप्त अम्बिका को वह सब कहने पर

बाध्य करता है,जिसे केवल उसने इतने वर्षों में अपने मन में भोगा है । अम्बिका के संघर्ष के माध्यम से नाटककार पूर्ण नाटकीय संघर्ष को तीखा तनावमय आयाम देता है,जिसकी त्रासदी को हम प्रारम्भ से अनुभव करने लगते हैं, और निरन्तर यह अनुभूति तीव्र होती जाती है कि अम्बिका जो सोचती है,मल्लिका नहीं जानती वही उसका अन्त है । इस रूप में अम्बिका का पूर्ण संघर्ष जहां गहरे यथार्थ के अनुभव क्षेत्र का है,वहां सघन नाटकीय क्षणों की सार्थकता देने का भी ।उसके संघर्ष के विरोध में मल्लिका जीवन के प्रति बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण लिए प्रस्तुत होती है । मल्लिका जीवन की सारी आवश्यकताओं को भावना की व्यापकता के सामने तुच्छ और नगण्य मानती है । जीवन की यथार्थ आवश्यकताओं की ओर उसका कभी ध्यान नहीं जाता है और जब जाता है तो वह उसके लिए वारांगणा बन जाने को भी विशेष महत्त्व नहीं देती,क्योंकि उस रूप में भी वह आन्तरिक रूप से वही मल्लिका बनी रहती है । उसका संघर्ष सघन अनुभूतियों का संघर्ष है, जिसे निरन्तर भोगती हुई वह वाह्य रूप से तो पूर्ण अभाव को सहते हुए टूटती जाती है,पर अपने अन्तर को इस अभाव से नहीं भरने देती । कभी न कभी कालिदास के लौटने की आशा को पाले,उसकी अनुपस्थिति में उसके स्वागत की कल्पना में अपने हाथ से भोजपत्रों का निर्माण करती है, उसकी अनुभूति को तरो-ताजा बनाए रखने के लिए पर्वत शिखर तक नित्य जाती है,किन्तु जब कालिदास गांव आकर भी उससे मिलने नहीं आता, और बदले में प्रियंगुमंजरी उसकी भावना का मूल्य आंक कर उसे अपमानित कर जाती है तो वह अन्दर से व्यथित होकर भी दूसरे पात्रों के द्वारा कालिदास की आलोचना,कटु व्यंग्य को चुपचाप सह लेती है, अथवा उस सब को उनकी संकुचित दृष्टि मानकर सान्त्वना पाती है । कालिदास के अनपेक्षित व्यवहार से व्यथित होकर भी उसके प्रति मन में विपरीत भाव नहीं लाती । कालिदास के न आने से प्रतीक्षा का वाह्य संघर्ष तो समाप्त सा हो जाता है, किन्तु यह वाह्य निराशा गहरी आस्था बनकर सूक्ष्म रूप से उसके पूर्ण व्यक्तित्व में अन्तर्निहित हो जाती है । इसी कारण वर्षों के अनन्तर जब उसे मातुल से यह संवाद मिलता है कि सम्भवत: कालिदास ने संन्यास ले लिया है,तब वह आन्तरिक रूप से विचलित होती है,क्योंकि वह अपनी सार्थकता कालिदास की रचनाशीलता में देखती आयी थी और इस कल्पना से ही कि

कालिदास उसके व्यक्तित्व की उपेक्षा कर रहा है, उसका आन्तरिक संघर्ष तीव्र होता है । मनोव्यथा के उद्वेलन का यह एक लम्बी, निरन्तर मनोव्यथा की प्रतिक्रिया है जो कालिदास के आगमन और प्रस्थान से स्पष्ट होकर अभिव्यक्ति पाती है । मल्लिका का पूर्ण संघर्ष व्यक्ति की आस्था और आशा का है जो उसके भावुक परिवर्तनीय स्थितियों में निरन्तर तीव्र और गहन होता जाता है । संघर्ष के प्रस्तुतीकरण में इतनी गहराई है कि मल्लिका का संघर्ष किन्हीं सघन, विश्वसनीय और तीव्र उद्वेलनमय क्षणों के परिणाम की अनुभूति देता है तथा नाटकीय तनाव के माध्यम से भावक की रुचि को अत्यन्त चतुरता से केन्द्रित किये रहता है ।

कालिदास का अभिव्यक्त संघर्ष व्यक्ति की उस विवशता का है जो परिस्थितियों से घिरा हुआ अनचाहा, कृत्रिम जीवन जीने के लिए बाध्य हो जाता है । मल्लिका से वह प्रेम करता है और इसी कारण उसके अनुरोध पर वह उज्जयिनी जाता है । गाँव छोड़ते हुए वह इस संघर्ष से आक्रान्त है कि अभाव के इस जीवन के बाद वैभव का वह जीवन क्या उपलब्ध करायेगा । किन्तु कालिदास का वहाँ जाकर तटस्थ हो जाना अनेक प्रश्नों को जन्म देता है जो वस्तुत: उसके संघर्ष से सम्बद्ध है और जिनका उत्तर वह अन्तिम अंक में देता है । नये प्रतिष्ठा और वैभवपूर्ण वातावरण में जाकर, अभाव की प्रतिक्रिया में जीने की आकांक्षा में, सहसा किसी अज्ञात प्रेरणा से प्रशासकीय वातावरण में उलझता चला जाता है । किन्तु उसका कलाकार व्यावहारिक जीवन से समझौता नहीं कर पाता है । परिणामत: उस वातावरण में रहते हुए वह रचना के विशाल क्षेत्र में रहने की कामना के लिए छटपटाता है और इसी छटपटाहट में मल्लिका के द्वार से लौटता है । वह अपनी मानसिक अस्थिरता के क्षणों में मल्लिका का साक्षात्कार नहीं करना चाहता था, क्योंकि उसे विश्वास था कि उसके सम्मुख जाकर वह और अधिक उद्वेजित हो उठेगा । फिर वह इस आशा को सदैव पाले रहता है कि एक दिन अवश्य ही वह प्रशासन और रचना के क्षेत्र पर समान रूप से अधिकार करने योग्य हो जायेगा और तब वह मल्लिका के सामने आयेगा । कालिदास का संघर्ष उसके उस विश्वास का भी परिणाम है जो मल्लिका में पूर्ण आस्था को रोपित कर चलता है, क्योंकि वह सदा यह सोचता रहा कि विपरीत से विपरीत स्थिति में मल्लिका के मन में कुछ अन्यथा नहीं आयेगा और यही विश्वास उसके पूर्ण

संघर्ष का आधार बनता है । मल्लिका से दूर रहकर वह जिस तीव्र और घनीभूत पीड़ा को अनुभव करता है वही उसकी रचनाशीलता का रूप लेती है । और एक दिन जब वह लौटता है तो उसकी सारी कल्पनाएं विध्वंस हो चुकी होती है,क्योंकि समय उसके लिए रुकता नहीं है । यह अनुभूति कि जिस यथार्थ को पाने के संघर्ष में उसने इतने वर्ष खो दिए वह रुका नहीं रहा उसकी मनोव्यथा को तीव्र भी करता और स्थायी भी । पराजय की एक तीखी अनुभूति लिए वह वहां से चला जाता है। कालिदास का द्वन्द्वपूर्ण नाटकीय तनाव की चरम परिणति है,वह तनाव जिसका निर्माण अम्बिका के संघर्ष में होता है, विलोम मल्लिका के संघर्ष में और आंतरिक प्रतिफलन कालिदास के संघर्ष में । इन पात्रों के अलावा एक अन्य पात्र विलोम है जो सत्य है,और अपनी दृढ़ता में पात्रों की आलोचना करता हुआ या तो उनके संघर्ष को तीव्र करता है या तनाव के सूक्ष्म सूत्र प्रदान करता है । उसका संघर्ष जीवन से समझौते का नहीं, उसे यथार्थत: पाने का है, इसी कारण समय उसके लिए व्यर्थ नहीं जाता और वह भोग करता है । विलोम का चरित्र संघर्ष को तीव्र बनाता है। ये सभी पात्र,प्रियंगुमंजरी,मातुल, [illegible] संघर्ष की स्थितियां प्रस्तुत करते हैं और उसमें उलझते हैं । मुख्य पात्रों का संघर्ष तीव्र शारीरिक प्रतिक्रिया की अपेक्षा उनके आचरण,कथन तथा चिन्तन में निहित है । अपने संघर्ष से शासित वे दूसरे पात्र के विरोध में नाटकीय संघर्ष को आन्तरिक विकास देते हैं । नाटकीय संघर्ष अपनी समग्रता में भावक को आन्तरिक रूप से उद्वेलित कर किसी गहरी पीड़ा और करुणा से भर जाता है । नाटकीय संघर्ष सघनता के जिस स्तर से प्रारम्भ होता है,वह तीसरे अंक तक आते-आते गहरी होती जाती है,जिसे रचनात्मक स्तर का बनाने में शेष नाटकीय प्रभाव और भाषा भी सहायक होती है ।

'लहरों के राजहंस' मोहन राकेश का दूसरा नाटक है । यहां यद्यपि पात्रों का आंतरिक संघर्ष गहरी नाटकीयता का बोध देता है, किन्तु उनके आपसी विरोध में अन्त में वह नाटकीयता नहीं बनी रहती जो कि प्रारम्भ में निर्मित होती है । नंद का व्यवहार उसके प्रारम्भिक संघर्ष को विशेष प्रभावी नहीं बनाता और सुन्दरी का नितान्त निराशा पूर्ण के संघर्ष की तीव्र सम्भावना को विशृंखलित कर देती है । नन्द का संघर्ष सांसारिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के ग्रहण या त्याग का है । सुन्दरी अत्यन्त स्पष्टरूप से सांसारिक जीवन जीने की लालसा लिए हुए है और इसी कारण

वह नन्द को तथागत के प्रभाव से बचाये रखने के संघर्ष को भोगता है । वह स्वयं भी कहीं भयभीत है, जिसके परिणामस्वरूप वह कामोत्सव का आयोजन करता है । कामोत्सव की नितान्त असफलता उसे और नन्द दोनों को ही उत्तेजित करता है । इस उत्तेजना के तनाव में सुन्दरी नन्द को अपने सौन्दर्य में आसक्त रखकर उसे आध्यात्मिक या बौद्धिक चिन्तन से बचाने का प्रयास करती है । अपने सौन्दर्य के आकर्षण पर विश्वास कर वह नन्द को नदी तट पर जाने देती है । द्वितीय अंक तक उसका संघर्ष अत्यन्त सशक्त संघर्ष की पूर्वपीठिका के रूप में निर्मित होता है किन्तु यहां से विशेषत: कमलताल से राजहंसों के उड़ जाने की घटना के बाद से वह अत्यन्त कमजोर और भावुक हो जाती है । सुबह से गये नन्द का संध्या तक न लौटना उसे हताशा से भर जाता है और नन्द के प्रवेश से उसकी प्रतिक्रिया वास्तव व क्रम पर एक साधारण से भ्रम का परिणाम लगती है । फलत: उसका संघर्ष उसके व्यक्तित्व के खण्डन की अनुभूति की अपेक्षा उसकी भावुकता के खण्डन की अनुभूति देता है । इसकी अपेक्षा नन्द का संघर्ष व्यापक अनुभूति का संघर्ष है, जिसे किसी न किसी स्तर पर आज प्राय: व्यक्ति अनुभव करते हैं । मन मुक्ति की कामना करता है, जब, तब वह सांसारिक बन्धनों में जकड़ा आकुल हो उठता है और यही उसके मानसिक संघर्ष की नींव पड़ती है । नन्द का संघर्ष भी इसी मुक्ति और भोग का है । जीवन की सार्थकता और उसके सही अर्थ की खोज में वह तथागत की ओर आकर्षित होता है, किन्तु सुन्दरी का आकर्षण भी उसके लिए मिथ्या नहीं है । इसी कारण नदी तट जाकर लौट आने की कामना में आस्था का पलड़ा भारी है और जाते-जाते अन्यमनस्कता में सांसारिक भोग का । केश मुंडित, विक्षिप्त नन्द के लौटने से एक बार पुन: पात्रों के तीव्र आपसी नाटकीय संघर्ष की सम्भावना होती है, किन्तु सुन्दरी की निराशाभरी प्रतिक्रिया के आधार पर नन्द के आध्यात्मिक संकट के निर्माण करने की कल्पना प्रभावित नहीं कर पाती है, क्योंकि किसी गहरे आध्यात्मिक संकट का आधार इतना साधारण और दुर्बल नहीं हो सकता । नन्द की व्यथा, उसका आन्तरिक संघर्ष बौद्धिक और भावात्मक दोनों स्तरों का है, किन्तु कोई भी संघर्ष विशेष प्रभावोत्पादक रूप नहीं ले पाता है । वास्तव में नाटकीय संघर्ष की कमजोरी केश मुंडित नन्द के लौटने पर निर्मित होती है । द्वितीय अंक में जिस सशक्त और गहन संघर्ष को प्रस्तुत किया गया है, उससे यह सम्भावना होती है कि नन्द के आगमन पर सुन्दरी का आहत सौन्दर्य कोई

निश्चित रूप होगा और तब नन्द का वैरागी तथा सांसारिक प्रवृत्तियाँ जीवन्त एवं सूक्ष्म संघर्ष को प्रस्तुत कर उसके प्रस्थान को इंगित करेगा । किन्तु ऐसा होता नहीं है, सुन्दरी की भावुकता में नन्द एक साधारण भ्रम की स्थिति में प्रस्थान कर जाता है । नाटक में श्यामांग का प्रलाप और बौद्ध भिक्षु का नन्द के साथ आना संघर्ष को कोई विशिष्ट आयाम नहीं देता है ।

मोहन राकेश का आधे अधूरे संघर्ष की एक मध्यस्थ स्थिति प्रस्तुत करता है । जहाँ तनाव और संघर्ष एक तीखेपन से आक्रान्त है । पात्र जिस संघर्ष को भोगते आ रहे हैं, उस भोग्य संघर्ष की वह स्थिति इसमें प्रस्तुत है जब संघर्ष की तीखी परिणति झल्लाहट, असन्तोष, चीख-पुकार में रहती है । इसलिए इन पात्रों में गहरे उभारों वाली त्रिआयामिता नहीं है, किन्तु जीवन के विघटन और ऊब की सघन अनुभूति में नाटकीय तनाव पर्याप्त सूक्ष्मता और गहनता से प्रस्तुत होता है । अनुभूतियों की सघनता संघर्ष को सतही या छिछला नहीं होने देती है । सभी पात्र दोहरे संघर्ष को प्रस्तुत करते हैं । स्त्री-पुरुष का आपसी संघर्ष चुके हुए सम्बन्धों के बीच साथ-साथ रहने और आभासित सम्बन्ध को ढोने का है । कोई आपसी आकर्षण उनमें नहीं है । विवाह के प्रेम, घृणा सम्बन्ध में घृणा ही उभरती चली जाती है, और आपसी सम्बन्धों में तनाव निरन्तर तीखा होता जाता है । अपने-आप में अपूर्ण दूसरों की अपूर्णता को ढोने में अक्षम किसी पूरेपन की तलाश में लगभग सभी पात्र बाहर जाते हुए बार-बार टकरा कर यहीं लौटते हैं, किसी भावात्मक सम्बन्ध की खोज करने । आपसी विरोध में पात्रों का संघर्ष गहरे तनाव को प्रस्तुत करता है तथा पात्रों को प्रतिक्रिया का पर्याप्त अवसर भी मिलता है । महेन्द्रनाथ एक निकम्मे, पत्नी की कमाई पर बैठकर खाने वाले पति के रूप में सामने आता है । अपने निकम्मेपन को आवेश की स्थिति में वह दूसरों पर व्यंग्य कर उनकी आलोचना कर अथवा इस घर में अपनी स्थिति की जानकारी पर प्रश्न उठाते हुए छिपाता है । जब-जब कोई पात्र उसकी उपेक्षा करता है, अपने अहं की रक्षा में वह अपनी नियति को स्वीकार करने की अपेक्षा विद्रोह करता है, घर में अपने अधिकारों की माँग करता है और जब कुछ नहीं होता तो घर छोड़कर चला जाता है, किन्तु इस घर के बिना उसकी गति नहीं है, इसलिए बार-बार जाकर भी वह यहीं लौट आता है । फिर से अपनी आन्तरिक

सफलता को जाने के लिए । सावित्री अभाव जनित मानसिक असन्तोष की वितृष्णा को सहती है, निठल्लेपन,अतृप्त कामनाओं का असहनीय बोझ बनकर आने वाली बड़ी लड़की,जवान नकार बेटे और कान्वेंट में पढ़ने वाली तेज़ तरार लड़की को सहती है,उनकी दुविधा का ध्यान रखती है । अपने आन्तरिक अधूरेपन को भरने के लिए पुरुष मित्रों के साथ घूमती है,उन्हें अपने घर आमंत्रित करती है,क्योंकि वह असहाय है और उसे अपनी बोझिल गाड़ी चलानी है । उसको खींचने के लिए उसे किसी नामुराद मोहरे या रबड़ स्टैंप जैसे व्यक्ति की आवश्यकता नहीं है, उसकी असमर्थता तो अपना बोझ ढोने में परिलक्षित है, इसी वजह कभी वह घर का दामन पकड़ती है और कभी बाहर का । अपने आदर्श के पुरुष की खोज में वह जगमोहन,मनोज, जुनेजा सबसे टकराती है,पर सब उसके साथ खेलते हैं और एक स्थिति के बाद उसे छोड़ कर चले जाते हैं । बिखरे स्वप्नों को लिए वह अपने आक्रोश को फिर घर और बच्चों पर उतारती है । पूर्ण परिवार से धिक्कारे जाने पर दिल्ली लौट आये जगमोहन के साथ चले जाने का निर्णय करती है और वहां से निराशा लेकर लौटती है । जुनेजा की निष्ठुरता में अपने घिनौने स्वार्थ और कामना का रूप देखकर लगभग कुचल ही जाती है । अशोक के साथ महेन्द्रनाथ के लौट जाने क से संघर्ष की पूर्ण अनुभूति और भी गहरी हो जाती है । मां-बाप के बीच तीन बच्चे तीन विरोधी प्रकृतियों के पात्र हैं और नाटक में उनके संघर्ष को प्रस्तुत कर नाटक किन्हीं विशिष्ट प्रश्नों को उठाता है । बड़ी लड़की बिन्नी घर की कलह से ऊबकर एक पुरुष के साथ घर से भाग जाती है, किन्तु वहां भी वह अपने इस घर के वातावरण से मुक्त नहीं हो पाती है । और उसे लगता है कि वह अपने अन्दर कुछ ऐसा ले गयी है,जो उसे किसी भी स्थिति में स्वाभाविक नहीं रहने देता । अपने अन्दर की इस विभ्रान्त स्थिति को खोजने के लिए वह बार-बार इस घर में आती है, किन्तु उतनी ही बेचैन लौट जाती है । लड़का अशोक घर के प्रति अपने आक्रोश में निठल्ला होकर अभिनेत्रियों की तस्वीरें इकट्ठा करता है, यौन सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है और वर्णा से प्रेम करता है । मां की लाडली छोटी लड़की किन्नी अभी से ही मुंह फट आत्मकेन्द्रित,उच्छृंखल लड़की हो गई है । कैसनोवा की पुस्तकें,यौन सम्बन्धों में रुचि रखते हुए तेज तर्रार लड़की सावित्री की विफलता का प्रमाण बनती है ।

तीनों बच्चों का आन्तरिक संघर्ष स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों का एक और तो आलोचना करते हुए तनाव को तीखा करता है, दूसरी ओर उनकी प्रतिक्रियाओं को परिवर्तनीय तीखा आयाम भी देता है । सभी पात्र संघर्ष की निरन्तर तीव्र अनुभूति में लगभग एक से ही चिड़चिड़ेपन, आक्रोश और खीझ से संवलित हैं और इसी कारण नाटकीय तनाव में तीखापन अधिक उभरता है । पुरुष पात्रों की परिकल्पना में 'पहला', 'दूसरा', 'तीसरा' और 'चौथा' पुरुष की परिकल्पना कोई विशेष अर्थ नहीं रखती, क्योंकि सावित्री के सन्दर्भ में नामहीन पुरुषों को रखकर नाटककार जिस सांकेतिकता का निर्माण करना चाहता है, वह तो स्वत: सावित्री और जुनेजा के प्रसंग में स्पष्ट हो जाता है । इसी पृष्ठभूमि पर शांति मेहरोत्रा का 'एक और दिन' अपेक्षाकृत अधिक सांकेतिक और अन्तर्निहित संघर्ष को प्रस्तुत करता है । 'आधे अधूरे' की भांति उसमें विस्तार का प्रयास नहीं है, पर कम-से-कम उतना ही उससे सशक्त रूप में अभिव्यक्त है । अत्यन्त तटस्थ रूप में एक दिन की साधारण दिनचर्या में घटित कुछ विशिष्ट के मध्य से पात्रों के आन्तरिक और आपसी विरोध में भरते जाते या भरे हुए तनाव का संकेत किया गया है । यह तनाव प्रारम्भ से अन्त तक पर्याप्त कसावट लिए हुए है । महेन्द्रनाथ की स्थिति यहां किसी स्तर पर स्त्री भोगती है, किन्तु पुरुष अपनी स्थिति में सावित्री से अधिक सशक्त है । सावित्री की भांति वह अपने अधूरेपन में टूटता, बिखरता नहीं है पर स्वयं स्वाभाविक बने रहकर दूसरों को तोड़ता है और इस तरह तनाव को सक्षम नाटकीय आयाम देता है । लड़की और लड़का, बिन्नी और अशोक की स्थिति दुहराते हैं, उनकी भांति ये पात्र अपने संघर्ष से टूट बिखर कर पराजित और नकारा नहीं हुए हैं, पर अपने संघर्ष के आक्रोश में, प्रतिक्रिया में सजग क्रियाशीलता की भावना से अनुप्रेरित हैं । इसी कारण ये सभी पात्र 'आधे अधूरे' के पात्रों की भांति अपनी विफलता के कारण चीखते-चिल्लाते हैं नहीं हैं । घर से घृणा करते हुए भी तीखे और उत्तेजित होकर उसकी भर्त्सना नहीं करते । स्त्री-पुरुष के आन्तरिक सम्बन्धों में कब, क्यों कौन सी दीवार आ खड़ी हुई है, वे स्वयं नहीं जानते, क्योंकि यहां वह सब नहीं घटित हुआ है, जो सावित्री और महेन्द्रनाथ के बीच में । अन्दर का कोमलतम कब बाह्य सम्पन्नता में तिरोहित हो अपने पीछे अजनबीपन छोड़ गया, यह सांकेतिक रूप से चारों पात्रों के एक-दूसरे के प्रति व्यवहार में प्रकट होता है और प्रत्यक्षत: हम

उनके आपसी तनाव को अनुभव करते हैं । जिस चतुरता से नाटककार पारिवारिक विघटन की स्थिति और छोटे-छोटे कारणों, जो वस्तुत: कोई कारण नहीं होते, पर फिर भी पात्रों में आन्तरिक तनाव भर जाते हैं, को अन्तर्निहित करता है, वह अपनी व्यंजना में पूर्ण नाटकीय संघर्ष को तनाव के सूक्ष्म सूत्र प्रदान करते हैं ।

शम्भुनाथ सिंह के 'दीवार की वापसी' में 'क' (एक सामान्य व्यक्ति) का संघर्ष यद्यपि व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के आन्तरिक यथार्थ में बनावटीपन के उद्घाटन का है, किन्तु पात्र के संघर्ष को व्यापकता देकर नाटककार, नाटक के आन्तरिक तनाव पर दृष्टि रखता है । उपरोक्त दोनों नाटकों 'आधे अधूरे' एवं 'एक और दिन' में नाटककार इसी व्यापकता को लाने का प्रयास करता है, पर परम्परित नाट्यान्विति के कारण पात्र का संघर्ष हमारी करुणा को उद्वेलित करता है और हमारी अनुभूतियां व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध रहती हैं, किन्तु यहां हमारी करुणा एक पात्र से न होकर एक स्थिति के पूर्ण उद्घाटन से होती है । इसी कारण आन्तरिक यथार्थ की खोज के प्रयास में नाटक काफी दूर तक पात्रगत संघर्षों से ऊपर उठकर नाटकीय संवेदना के स्तर पर तनाव की प्रस्तुति का प्रयास है ।

उपसंहार

व्यक्ति के संघर्ष के ये आयाम नाटक में मूल रूप से देखा जाये तो किसी-न-किसी रूप में व्यक्ति के संघर्ष को ही प्रस्तुत करते हैं । अन्तर परिमाण तथा स्तर का है । अत्यन्त स्थूल रूप में यह संघर्ष अच्छे-बुरे पात्रों का है । चरित्र की कोई एकांगी विशेषता महत्वपूर्ण होकर दूसरे पात्र के सन्दर्भ में इसी विशेषता के कारण विरोध उत्पन्न करती है । इस तरह किसी विशिष्ट, जटिल संघर्ष की सम्भावना भी प्रस्तुति के सन्दर्भ में स्थूल संघर्ष के प्रतिमान स्थापित कर रह जाती है । परिवेश के सन्दर्भ में व्यक्ति का यही संघर्ष कुछ और विशिष्टता लेता है, क्योंकि परिवेश से संघर्ष की स्थिति आन्तरिक आवश्यकता के सघन दबाव के कारण उत्पन्न होती है । व्यक्ति रूढ़ियों मान्यताओं या परम्पराओं को तभी बदलना चाहता है, जब कि उन्हें बदलने की आन्तरिक आवश्यकता तीव्र इच्छा में बदल कर

परिवर्तन की कामना करता है । और जब व्यक्ति निरन्तर परिवर्तनीय परिवेश को अपने अनुभव जन्य क्षेत्र में आत्मसात् कर अपना एक दृष्टिकोण अथवा आदर्श निर्धारित करता है, या अपनी बुद्धि और आवश्यकता के अनुसार अपनी एक चिन्तन पद्धति निर्मित कर लेता है तो उसका बदलना कठिन होता है । अपनी दृढ़ता में दूसरों के चिन्तन या आदर्श पर वह हावी होना चाहता है और इसी कामना में उसके संघर्ष की सम्भावना होती है । दूसरों को बदलने की आकांक्षा या न बदल पाने की निराशा में संघर्ष अनेक आयाम लेता है । अनुभूतियाँ सघन हो जाती हैं, क्योंकि निर्मित आदर्श आकस्मिकता का परिणाम नहीं हो सकता है पर व्यक्ति के अनुभवजन्य उद्वेलन का परिणाम होता है । व्यक्ति के ये सभी संघर्ष वस्तुत: उसकी मानसिक उद्वेलनमयी क्रिया से नि:सृत है । प्रत्येक स्थिति में कम या अधिक रूप में वह आन्तरिक विविधता को भोगता है और इसी के परिणाम की प्रतिक्रिया प्रस्तुत होती है । मानसिक संघर्ष के सन्दर्भ में किन्तु उसका आन्तरिक संघर्ष, विरोधी आवेगों, प्रवेगों, विचारों, आदर्शों की अपनी जटिलता में दूसरे पात्रों के संघर्ष को प्रभावित करता है । प्रत्येक आन्तरिक विरोध भिन्न स्थितियों में ग्रहण या त्याग की दुविधा में ही कभी प्रकट होकर पूर्ण संघर्ष को शासित करता है या कभी आन्तरिक उथल-पुथल में ही सन्तुलित होकर वाह्य क्रियाशीलता में प्रकट होता है । इस तरह नाटक में प्रस्तुत संघर्ष व्यक्ति के आन्तरिक तर्क संगत सूक्ष्म संघर्ष में गहरी नाटकीय सम्भावनाओं को देता है । संघर्ष के ये सम्भावित आयाम एक-दूसरे से सम्पृक्त तो रहते हैं, किन्तु नाटक में प्राय: पूर्ण संघर्ष का कोई एक आयाम अधिक शक्तिशाली हो उठता है । नाटक पात्रों के तीव्र किन्तु वास्तविक संघर्ष की कामना करता है । जीवन का संघर्ष बहुत सम्भव है, किसी स्तर पर साधारण हो, किन्तु अपनी कलात्मक अभिव्यंजना में वह विशिष्टता की अपेक्षा करता है । पात्रों का संघर्ष जितना सूक्ष्म और जटिल होता है, तार्किक और संगत होता है, नाटक उतने ही उज्ज्वल तनाव को प्रस्तुत कर पाता है । हिन्दी नाटकों में किए गए विवेचन के आधार पर पात्रों के संघर्ष की प्रस्तुति निराशात्मक अनुभूति देती है । नाटकीय संघर्ष की परिकल्पना में प्राय: नाटकों में नाटककार की दृष्टि एकांगी हो गई है और वह नाटकीय संघर्ष के बीच प्रारम्भ से अन्त तक ज अपेक्षित तनाव को प्रस्तुत करने में असमर्थ हो जाता है, जिससे तीव्र संघर्ष की सम्भावना बिखर जाती है ।

इस विच्छिन्नता में या तो नाटककार की आदर्शवादी दृष्टि है या उसकी भावुकता जो एक प्रकार से कटु यथार्थ के प्रस्तुतीकरण से दामन बचा कर चलती है, या फिर पात्रों का निर्मित संघर्ष इतना संकुचित आयाम देता है कि उनके द्वारा दी जाने वाली अनुभूति नाटकीय अर्थों में सम्प्रेषित नहीं हो पाती है। या पात्रों का संघर्ष समग्र प्रभाव में पाठक या प्रेक्षक को किसी गहन, गंभीर, विश्वसनीय और मानवीय संवेदनाओं से ओत प्रोत व्यक्ति की अनुभूति नहीं दे पाता है, परिणामत: पूर्ण संघर्ष सतही, थोथा और बाह्य लगने व लगता है, संघर्ष आरोपित लगता है, पात्र उसमें डूबे हुए नहीं, उससे अलग-थलग दिखायी देते हैं। कुछ नाटकों में यदि नाटककार ने गहन संघर्ष की परिकल्पना की है तो नाटक के शेष उपकरण उसे आंतरिक रचनात्मक ऊर्जा देने में विफल हो जाते हैं। अथवा उनका संघर्ष इतना व्यक्त है कि हमारी आन्तरिकता को स्पर्श नहीं कर पाता है। कुछ पात्रों को यदि नाटकों में से निकाल दिया जाये तो उनकी अनुभूति नाटकीय संवेदनाओं को तो प्रस्तुत करती है, किन्तु नाटकीय सन्दर्भ में उनकी सार्थकता पर दो विचार हो सकते हैं। पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच सन्तुलन के अभाव में या तो पात्र अतिशय प्रतिक्रिया करते हुए दिखाई देते हैं, या चिन्तन के बोझ में निष्क्रिय दिखाई देते हैं। कुछ नाटकों के पात्र इस कारण नाटकीय संवेदना को उभारने में सफल होते हैं, क्योंकि पात्रों की तात्कालिक क्रमिक अनुभव-परिणति ब्यौरे के साथ प्रस्तुत होती है, जिससे दर्शक अन्तर्मुख हो अपने ही अनुभव संसार को टटोलने लगता है। इस कारण ऐसे पात्र निर्माण गहरी रचनाशीलता की अनुभूति देते हैं। कार्य व्यापार की सही नाटकीय प्रस्तुति पात्र संघर्ष द्वारा ही होती है, अत: पात्र संघर्ष की दृष्टि से अत्यन्त साधारण नाटक नाटकीय संवेदना के सन्दर्भ में कुछ उपलब्ध नहीं करा पाते हैं। नाटकीय संवेदना सशक्त पात्र-निर्माण के आधार पर अनेक रंग सम्भावनाओं तथा अर्थबिम्बों को उजागर करती है जिससे पोषित नाटक अपने सम्पूर्ण निर्माण की कलात्मकता को बहुत अंशों तक अंतिम प्रारूप दे जाता है। इस तरह पात्रगत संघर्ष की नाटकीय प्रस्तुति नाटकीय संवेदना का प्रभावोत्पादक रूप प्रस्तुत करने में सहायक होती है।

-0-

षष्ट परिच्छेद : नाटकीय संवेदना का संयोजन और प्रभाव

नाटकीय संवेदना का संयोजन

प्रभावसूत्र : अर्थ, विशेषता, संयोजन के रूप एवं प्रभाव

प्रवेग : अर्थ, विशेषता, संयोजन के रूप एवं प्रभाव

नाटक :

'अंधा युग' -- धर्मवीर भारती

' आषाढ़ का एक दिन' -- मोहन राकेश

'आधे अधूरे ' -- मोहन राकेश

एक और दिन' -- शांति मेहरोत्रा

नई परम्परा के नाटक :

'ऊसर' -- भुवनेश्वर

'तांबे के कीड़े'-- भुवनेश्वर

'भग्नस्तूप के अज्ञात स्तम्भ' -- राजकमल चौधरी

'अपना अपना जूता' -- लक्ष्मीकांत वर्मा

'तीन अपाहिज' -- विपिन अग्रवाल

'ऊंची नीची टांग का जांघिया'-- विपिन अग्रवाल

'अखबार के पृष्ठों से' -- विपिन अग्रवाल

उपसंहार

'स्पष्टतया प्रवेग तथा लय न केवल प्रतिबिम्बों को प्रस्तुत करते हैं, पर पूर्ण दृश्य को भी नियमित करते हैं ।... परोक्षत: प्रवेग चाहे वह यांत्रिक रूप से या चेतन रूप से निर्मित हों पर हमारे आन्तरिक जीवन, हमारे आवेगों तथा हमारी आन्तरिक अनुभूति को रचनात्मक आयाम देते हैं,... जिससे पूर्ण नाटक की संवेदना नियमित होती है और नाटकीय अर्थों को सघनता मिलती है ।'

--स्तानलावस्की : 'बिल्डिंग कैरेक्टर' से ।

षष्ठ परिच्छेद

-०-

नाटकीय संवेदना का संयोजन और प्रभाव

नाटकीय संवेदना का संयोजन

प्रभाव सूत्र : अर्थ, विशेषताएं, संयोजन के रूप एवं प्रभाव

जैसा कि हम देख आये हैं, यह सत्य है कि नाटक में पात्र-निर्माण या पात्रगत संघर्ष बहुत कुछ देता है, किन्तु फिर भी वह नाटक को पूर्ण अर्थ देने का एकमात्र साधन नहीं है । नाटककार जिन अनुभवों और विचारों को अभिव्यक्त करना चाहता है, उनके लिए ये चरित्र वाह्याधार बनते हैं, जिससे संघर्ष उनका होकर रोचकता तथा नाटकीय गति को बनाये रखता है एवं नाटक की रचनात्मक शक्ति को पर्याप्त प्रभावित भी करता है, किन्तु नाटक की सिद्धि इस या अन्य इकाइयों की निजी सार्थकता से नहीं होती, नाटक में अभिव्यक्त नाटककार के जीवनानुभवों, विचारों और व्यक्तित्व की क्रिया-समष्टि से व्यंजित होने वाली सांकेतिकता से होती है । एक श्रेष्ठ नाटक से सभी-- अभिनेता, निर्देशक, पाठक, प्रेक्षक रचनात्मक तत्व की मांग करते हैं, जो सामूहिक रूप से उन्हें संतुष्ट कर सके, किसी आकर्षण से बांध सके । यह आकर्षण वाह्य रूप में पात्रों के संघर्ष में निहित है, पर परोक्ष रूप में उन नाट्य-बिम्बों में अन्तर्निहित है जो एक ओर पात्रों के आपसी टकराव में किन्हीं सूक्ष्म अर्थों को सम्प्रेषित करते हैं और दूसरी ओर नाटक-कार के किन्हीं अर्थ-बिम्बों को रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत करते हैं । देखा जाय

तो नाट्यात्मक अनुभूति एक प्रकार की [illegible] अनुभूति है,क्योंकि नाट्यात्मक अनुभूति में जीवन की [illegible] की, गति की, चेतना की [illegible] होती है,वह 'है' से अधिक 'होने' से सम्बद्ध है। नाटककार को इसी से सदा गतिमान मानवीय दृश्य की पकड़ होनी चाहिए, वह दृश्य चाहे फिर व्यक्तिगत हो, चाहे सामुहिक। भाव,विचार या स्थिति का कोई बिन्दु कथा के लिए पर्याप्त हो सके,नाटक में कहीं से उस बिन्दु तक या उस बिन्दु से कहीं या किसी और बिन्दु तक गति आवश्यक है। इसका वाह्य घटनात्मक होना अनिवार्य या आवश्यक नहीं, आन्तरिक जीवन या भाव-दशाओं की गति और परिणति ही मुख्य है।[1] इस दृष्टि से नाटक,जो कि पूर्ण अभिव्यक्ति का एक साहित्यिक विधा है,का मुख्य तत्त्व किसी मूल भाव के विचार सूत्र को रूपायित करने वाला कार्य-व्यापार अर्थात् [illegible] भाव या विचार का क्रमश: एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक का संचरण हो जाता है,जिसे जे० एल० स्तयान[2] ने 'साक्वेंन्स आफ़ इम्प्रेशन' के रूप में देखा और स्तानलावस्की[3] की भांति प्रवेग (टैम्पो) और लय (रिदम) को अर्थ संचरण के महत्त्वपूर्ण तथा गहन अर्थ देने वाले तत्त्व मानकर उन्हें नाटकीय प्रभावों को वैशिष्ट्य देने वाला माना।

स्तयान मानता है कि कोई नाटक जब विशिष्टता की सीमा का स्पर्श करता है तो इस कारण नहीं कि पात्रों का संघर्ष या उनका सम्भाषण सजीव है, पर इस कारण कि उस नाटक में ऐसे अर्थों का संचरण हो सका है, जो भावात्मक प्रभावों को सजीवता देने में समर्थ हैं। यह सजीवता तब सम्भव होती है,जब विचार नियताप्ति तक कार्य में नियोजित होकर दृढ़तापूर्वक संचरित होता है। अन्तर्निहित विचार को नाटककार किसी निश्चित दिशा,जिसे स्तयान 'उद्देश्य दिशा' (लाइन आफ़ इनटेनशॅन) मानता है, के माध्यम से ले जाता है। जो वस्तु नहीं है, पर वस्तु में निहित कोई

----

१ नेमिचन्द्र जैन : 'रंग दर्शन',पृ०३२

२ जे०एल० स्तयान: 'द एलिमेन्ट आफ़ ड्रामा'

३ स्तानलावस्की :' बिलडिंग द कैरेक्टर'

ऐसा सशक्त प्रभाव केन्द्रित कर नाटककार पूर्ण विचार को ग्राह्यात्मक बनाता है। इसी कारण संवेदना के स्तर पर प्रभावों के संयोजन और उसके संचरण की बात महत्वपूर्ण हो उठती है, जिससे रंगमंचीय अनुभव द्वारा सम्प्रेषित अर्थ भावक की संवेदना में बदलते हैं। इस प्रकार नाटककार की कल्पना के अर्थ बिम्ब भावक की कल्पना के अर्थ-बिम्ब से सम्पृक्त हो जाते हैं, किन्तु उनका मूल्य तभी स्वीकार किया जा सकता है, जब कि वे नाटकीय अन्विति की रक्षा करते हों, किसी-न-किसी प्रकार के उत्कर्ष को लेकर चलते हों और प्रत्येक पूर्व निर्मित प्रभाव अगले प्रभाव के स्वरूप को व्यंजित करता हो, अर्थात् पूर्ण प्रभावों में प्रतिबद्ध नैरन्तर्य हो[१]। इनके कारण ही प्रभावपुंजों में सम्बद्धता सम्भव होती है तथा वे महत्वपूर्ण बन जाते हैं।

सांकेतिकता और सघनता — इस तरह स्तयान नाटककार के कल्पना बिम्बों को प्रभावों के अर्थ संचरण में नियोजित मानकर सांकेतिकता तथा नाटकीय सघनता पर बल देता है। प्रभावों का संचरण, जो वस्तुत: किसी भाव या विचार के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक संचरण है, अनेक रूपों में नाटकीय विचार को व्यंजित करता है। साधारणतया देखें तो सांकेतिकता की जितनी रक्षा हो पाती है तथा अनुभूतियां जितनी सघनता से प्रस्तुत होती हैं, नाटकीय संवेदना उतनी ही घनीभूत होती है। 'अंधा युग' में गांधारी का यह कथन :

'माता मत कहो मुझे
तुम जिसको कहते हो प्रभु
वह भी मुझे माता ही कहता है।'

सघन अनुभूतियों का तीव्र संश्लेषण प्रस्तुत करता है। अत्यन्त कुशलता से नाटककार 'वह भी मुझे माता ही कहता है' के मूल मर्म को 'माता मत कहो मुझे' के साधारणीकरण के विरोध में रखकर सांकेतिक रूप से व्यंजित करता है। कृष्ण के प्रति

---

१ द्रष्टव्य : स्तयान लिखित 'ड्रेमैटिक एक्सपीरिएंन्स'
'द एलिमेन्ट आफ़ ड्रामा'

उसकी अगाध ममता, उसी की वजह अपने पुत्रों के नाश की आशंकित पीड़ा, ममत्व भरा आक्रोश, उत्तेजना और भावावेश, आन्तरिक व्यथा और धैर्य जैसे रंग बिम्ब सघन अनुभूतियों को अभिव्यंजित कर जाते हैं ।

रचनात्मकता // निर्देशक और अभिनेता चूंकि पूर्ण कृतकला और सूक्ष्म उद्देश्य रेखा की खोज निकालते हैं, इसी आधार पर पाठक और प्रेक्षक को रचनात्मक तत्व, स्थिति के विन्यास तथा नाटक के विचार की अनुभूति होती है । इस तरह बहुत सम्भव है कि पूर्ण नाटक या किसी एक पूर्ण दृश्य को कोई एक प्रभाव ही व्यंजित कर जाये । 'आषाढ़ का एक दिन' का यह उद्धरण द्रष्टव्य होगा--

'अम्बिका : मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूं । तुम्हारे साथ उसका इतना ही सम्बन्ध है कि तुम एक आधार हो, जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है । परन्तु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो ? तुम्हारे प्रति उसका या तुम्हारा कोई कर्तव्य नहीं है ? कल जब तुम्हारी मां का शरीर नहीं रहेगा, और घर में एक समय के भोजन की व्यवस्था भी न होगी, तब जो प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित होगा, उसका तुम क्या उत्तर दोगी ? तुम्हारी भावना उस प्रश्न का समाधान कर देगी ? फिर कह दो कि यह मेरी नहीं विलोम की भाषा है ।'

(मल्लिका पुन: सिर झुकाये कुछ क्षण धरती को नखों से खोदती रहती है । फिर अम्बिका की ओर देखती है ।)

मल्लिका : ' मां, आज तक का जीवन जिस किसी तरह बीता ही है । आगे भी बीत जायेगा । आज जब उनका जीवन एक नई दिशा ग्रहण कर रहा है, मैं उनके सामने अपने स्वार्थ का उद्घोष नहीं करना चाहती ।'

यहाँ आकर अब तक का इस संदर्भ का प्रभाव एक निश्चित रूप लेता है । कालिदास के प्रति अम्बिका का चिन्तन हमारी रुचि को केन्द्रित करता है । अनुभवी अम्बिका का व्यावहारिक ज्ञान कालिदास के प्रति शंका उठाता है कि कालिदास भिन्न सिद्ध होगा या नहीं ? मल्लिका क्या सोच-समझ कर, अनुभव कर यह कह रही है कि आज तक का जीवन जिस किसी तरह बीता ही है । आगे भी बीत जायेगा । या क्या वह अपनी भावना की पवित्रता के कारण ही नष्ट हो जायगी, अथवा किसी विकल्प को अपना लेगी । और इन प्रश्नों के बीच से उभरता एक प्रभाव हमें विशिष्ट रूप से आकर्षित करता है, वह है अम्बिका की मल्लिका की दृढ़ता के सामने पराजय । पूर्ण दृश्य इस अर्थ को सार्थक करता है और किन्हीं सूक्ष्म बिम्बों को इसी आधार पर निर्मित कर जाता है, जो मल्लिका की आन्तरिक विडम्बना को व्यंजित करते हैं ।

'आधे-अधूरे' की प्रस्तावना भी इसी तरह का संकेत करती है । नाटक के विषय में संदेहास्पद स्थिति उसके अन्दर की पूर्ण अनिश्चितता का बोध देता है । वहाँ कुछ भी हो सकता है, ऐसा नहीं तो वैसा, पर नाटक में जो है, वह तो होना ही है । इस 'होने' की तलाश में नाटकीय संवेदना उभरती है, परम्परा से अलग किन्तु पर्याप्त सघनता लिए हुए ।

नाटकीय व्यंग्य // नाटकीय व्यंग्य के माध्यम से प्रभाव संचरण विशिष्ट नाटकीय सघनता प्राप्त करते हैं । नाटकीय व्यंग्य से तात्पर्य उस स्थिति से है, जब कि भावक प्रभाव सूत्रों के संचरण से किसी पात्र-विशेष या स्थिति-विशेष की उस विडम्बना को जान लेता है, जिससे नाटक के पात्र अपरिचित रहकर अपना निश्चित कार्य करते जाते हैं और तब भावक के लिए नाटक के निहित अर्थ विशिष्ट महत्व और आकर्षण के हो जाते हैं । किसी भी श्रेष्ठ नाटक में नाटकीय व्यंग्य किसी न किसी स्तर पर ध्वनित रहता है । गांधारी की आशा कि दुर्योधन की जय होगी, हमारे सामने स्पष्ट है, किन्तु गांधारी द्वारा संजोई गई झूठी आशा हमारी अनुभूतियों को मार्मिकता से स्पर्श करती है और हम उस प्रभाव का अनुसरण करते हैं जो दुर्योधन की पराजय पर गांधारी की क्रिया-प्रतिक्रिया के स्वरूप को प्रकट करने का है । नाटकीय व्यंग्य के दूसरे रूप में, जो विशेषतः प्रवेग का महत्वपूर्ण संयोजन प्रस्तुत

करता है, 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका की अव्यक्त आशा का है । घोड़ों की टापों का निरन्तर समीप आना, ठहरना और लौट जाना एक ऐसी स्थिति है, जो नाटकीय संवेदना की गहराई से प्रभावित करती है ।

विषयक कथन या सूत्र कथन // कुछ विषयक (Thematic Words) कथन, अर्थात् ऐसे वाक्य जो नाटक के विषय को एक सूत्र रूप में व्यंजित करते हों, या संचरित अर्थ-बिम्बों के प्रभाव सूत्रों को प्रभावशाली बनाते हैं । 'नेफा की एक शाम' के अन्त में दोहराया जाने वाला वाक्य '... यह शुरुआत है... शुरुआत ।' प्रत्यावर्तित रूप में नाटकीय संवेदना को प्रभावी रूप में गहराई देता है । नाटक की समाप्ति के बाद अनायास ही इस अर्थ बिम्ब से सम्पृक्त होकर हमारी रुचि संवेदना की अन्तर्निहित सूक्ष्मता की ओर आकृष्ट होती है ।

प्रवेग : अर्थ, विशेषताएं, संयोजन के रूप एवं प्रभाव

प्रभाव सूत्र जब एक-दूसरे का प्रतिबद्ध रूप में अनुसरण करते हैं तो उससे एक नई विशेषता उत्पन्न होती है, क्योंकि प्रभावों को एक निश्चित गति और लय से निश्चित समय में दूसरे प्रभावों का अनुसरण करना होता है । इस विशेषता को प्रवेग कहते हैं[1] । प्रवेग देखा जाय तो पूर्ण नाटकीय विरोधों को महनीय अर्थ दे सकने वाला तत्व है, वह स्वयं भी एक प्रकार के विरोधी तत्वों पर आधारित है और नाटक के पूर्ण संघर्ष तथा विरोध को भी विशिष्टता प्रदान करता है । पर प्रवेग कार्य या क्रिया नहीं है, किन्तु लय का प्रत्यावर्तन है जो कि एक दृश्य को पूर्ण और [illegible] आयाम देता है[2] । प्रवेग को कार्य की सतह का परिमार्जन नहीं माना जा सकता, वह तो पूर्ण नाटक का अन्तर्भूत तत्व है । उसको न तो रंगमंच के निर्देशों से प्रस्तुत किया जा सकता है, न ही अभिनेता द्वारा अध्यारोपित किया जा सकता है, और न मात्र वैभिन्य से उसे अलंकृत किया जा सकता है । सर्वप्रथम और अनिवार्यरूप से प्रवेग को नाटककार की ही परिकल्पना में होना चाहिए । प्रवेग एक ओर तो नाटकीय बिम्बों को प्रस्तुत करते हैं और

---

१ जे०एल० स्तयान : 'द एलिमेन्ट आफ़ ड्रामा', पृ० १४१

२ जॉन गॉसनर : 'प्रोड्यूसिंग द प्ले', पृ० २७६

नाटकीय अर्थ को सघन बनाते हैं,दूसरी और पूर्ण नाटक की रचनाशीलता को प्रभावित करते हैं[१] । मनोभावों का प्रवेग उनकी गहनता का मापदण्ड है, जो संघर्षरत आवेगों को विरोधी शक्ति से विशिष्टता देते हैं । प्रवेग साधारणतया संघर्षरत तत्वों की सम्भावित प्रबलता के अनुरूप बदलता रहता है । एक दृश्य का प्रवेग संघर्षरत तत्वों के आन्तरिक नाटक द्वारा निर्धारित होता है और एक स्थिति द्वारा बहुआयामी गहनता में उद्वेजित होता है[२] । यदि दो विरोधी पात्र विभिन्न लय,ताल में बोलें और क्रियाशील हों तो उनके अन्तरत मनोवेग प्रवेग के प्रत्यावर्तन से दृश्य के प्रवेग को निर्धारित करेंगे । किन्तु इन सब के साथ प्रवेग को भाववस्तु के अनुरूप होना चाहिए और नाटकीय विचार के सम्प्रेषण पर ही इसका सम्प्रेषण सम्भव है । प्रवेग साधारणतया चढ़ाव उतार,आरोह-अवरोह,घटाव-बढ़ाव के नियम से संचरित होता है । प्रभावोत्पादक वह तभी हो सकता है, जब कि रंग व्यापारों को उभारता हो तथा व्यंजित अर्थ को गहराई देता हो । इन विशेषताओं से पोषित प्रवेग कहीं एक पूर्ण दृश्य को नियन्त्रित करता है, कहीं केवल एक प्रभाव को और कभी पूर्ण नाटक को ।

विरोध / एक दृश्य की उत्तेजना,केऑस दूसरे दृश्य के शांत,स्थिर वातावरण का अनुसरण कर सकता है, दो पात्रों की दो विरोधी भावनाओं से व्यंजित अर्थ का पोषण कर सकता है । 'अंधा युग' में अश्वत्थामा के आन्तरिक द्वन्द्व की प्रतिक्रिया का दृश्य निष्क्रिय,कारुणिक,मार्मिक आत्माभिव्यक्ति के दृश्य का अनुसरण करता है । 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रथम दो अंक देखें । कालिदास के जाने वाला दृश्य आंधी,वर्षा बिजली का है,किन्तु दूसरा दृश्य शान्त और स्थिर । एक-दूसरे के विपरीत भावों को प्रस्तुत करने वाले इन दृश्यों का अर्थ इसलिए भी सघन हो जाता है कि प्रवेग का कुशल संयोजन उसमें है । 'लहरों के राजहंस' में नन्द के नदी तट पर जाने से पूर्व का वातावरण एक तरह की उत्तेजना और तीव्र ताल (high beat) लिए हुए है

---

१ स्तानिस्लावस्की : 'बिल्डिंग अ कैरेक्टर',पृ० २०२-२०३
जे० एल० स्त्यान : 'द एलिमेन्ट्स आफ़ ड्रामा',पृ० १४१
२ जॉन गॉसनर : 'प्रोड्यूसिंग द प्ले', पृ० २७७

और जाने के निश्चय से तीव्रता मन्द और स्थिर हो जाती है । इस तरह नाटककार उन अर्थों पर दबाव डालने में समर्थ हो पाता है, जिनको वह कुछ विशिष्टता देना चाहता है ।

विभिन्न लय और ताल

इसी तरह पात्र भी जब विभिन्न लय-ताल में बोलते हैं, भले ही वे एक सूत्र को दोहरायें तो प्रवेग का नियमन होता है । 'नेफ़ा का एक शाम' में :

गोगो : क्या कुम पर जा रहे हो ?

नीमों : (व्यंग्य से) और हाँ, गोगो । घड़ियालों के शिकार से तो पेट भरता नहीं ।

देवल : (गोगो से) और पेट भरना बहुत ज़रूरी है, गोगो ।

नीमों : (पुल पर से झुक कर) और अगर किसी की ज़बान लम्बी हो जाये, तो उसे काट लेना भी ज़रूरी है, गोगो ।

देवल : (गोगो से) पर उससे पेट तो भरता नहीं ।

नीमों : (चीखकर) उससे दिल तो भरता है ।

पात्रों के बोलने के ढंग में साधारण भिन्नता और लय का साधारण उतार-चढ़ाव है । नीमों और देवल गोगो के माध्यम से अपनी बात कहते हैं और जैसे-जैसे नीमों की उत्तेजना बढ़ती जाती है, देवल का संयम नियमित होता जाता है । साधारण रूप से प्रकट भिन्न लय ताल नाटकीय रंग इकाइयों को स्पष्टतया उभार देता है । 'अंधा युग' में दो प्रहरियों का सम्भाषण भाषा की व्यंजना-शक्ति तथा अन्तर्निहित प्रवेग के कारण सूक्ष्म रूप से कई रंग इकाइयों को ध्वनित करता है :

"प्रहरी एक : थके हुए हैं हम
पर घूम घूम पहरा देते हैं
इस सूने गलियारे में ।

प्रहरी दो : सूने गलियारे में,
जिसके इन रत्नजटित फर्शों पर
कौरव वधुएं
मन्थर-मन्थर गति से

सुरभित पवन तरंगों से चलता थी,
आज वे विधवा हैं ।

....

प्रहरी एक : पर यह जो हम दोनों का जीवन
सूने गलियारे में बीत गया

प्रहरी दो : कौन इसे अपने जिम्मे लेगा ।

....

प्रहरी एक : सूने गलियारे से सूना यह जीवन भी बीत गया

....

प्रहरी दो : इसलिए सूने गलियारे में,
निरुद्देश्य, निरुद्देश्य
चलते हम रहे सदा
दाएँ से बाएँ
और बाएँ से दाएँ ।'

इतनी बार दोहराया जाने वाला यह वाक्य प्रत्येक बार भिन्न लय और ताल को निर्मित करता है । पहला प्रभाव साधारण है कि 'सूने गलियारे में घूम-घूम कर पहरा देते रहे', दूसरे में थोड़ी विशिष्टता आती है कि ''ऐसा सूना गलियारा...', तीसरे में उसकी अनुभूति तीव्र होती है, चौथे में वह व्यंग्य लगता है कि आख़िर युद्ध संकट की इस कालावधि में 'गलियारे या सूना जीवन, बीत हो गया' । और अन्त में निराशा, व्यथा, पीड़ा, पराजय, सारे भाव एकत्र होकर गहरा प्रभाव उत्पन्न करते हैं सूक्ष्म तरंगों का स / जीवन में प्रवेग अत्यन्त कोमल, कम विवेचित या स्पष्ट होते हैं,
सुनियोजन / किन्तु नाटक में उनका सुनियोजन साधारण अर्थों को भी गहन बना देता है । कालिदास का 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के द्वार से लौट जाने का पूर्ण प्रभाव प्रवेग की किन्हीं सूक्ष्म कम्पन-तरंगों को व्यंजित करता है । पास आती घोड़े की टापों की आवाज़ से सम्बद्ध होकर भावात्मकता और आवेग बड़ा व्यापक आयाम ले लेंगे ।

मल्लिका : "मैं अनुरोध करती हूं कि आप इस समय यहां ठहरने का हठ न करें ।
(उसे बांह से पकड़ कर खींचना चाहती है । पर विलोम अपने स्थान से नहीं हिलता । दूर से घोड़ों की टापों का शब्द सुनाई देने लगता है ।)
... मैं कह रही हूं कि आप चले जाइए । यह मेरा घर है । मैं नहीं चाहती कि आप इस समय मेरे घर में हों ।
(विलोम अपने स्थान से नहीं हटता । टापों का शब्द निकट आता जाता है । मल्लिका उसके पास से हटकर अम्बिका के पास आ जाती है और कंधों को पकड़ लेती है ।)
मां इनसे कहो ये यहां से चले जाएं । मैं नहीं चाहती कि इस समय यहां कोई आकस्मिक स्थिति उत्पन्न हो । तुम स्वस्थ नहीं हो और मैं नहीं चाहती कि कोई ऐसी बात हो जिसका तुम्हारे स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़े ।
(अम्बिका उसके हिलने से इस प्रकार हिलती है,जैसे वह चेतन न होकर जड़ हो । उसके माथे पर बल पड़े रहते हैं और आंखें अपलक सामने की ओर देखती रहती है । घोड़े की टापों का शब्द बहुत पास आ जाता है । मल्लिका अम्बिका के पास से हटकर विलोम के निकट चली जाती है ।)

मल्लिका : आर्य विलोम, मैंने आपसे कहा है कि आप यहां से चले जाएं । आप...
(सहसा घोड़े की टापों का शब्द बहुत पास आकर दूर चला जाता है । मल्लिका ऐसे हो जाती है,जैसे उसकी वाणी खो गई हो । विलोम धीरे से झरोखे के पास से मुड़ता है ।)

विलोम : चला जाता हूं ।"

साधारणरूप से यहां अन्तर्निहित प्रवेग तीव्र लय से निर्देशित है,पर इस रूप में शक्तिशाली आन्तरिक विरोध को अनुभव किया जा सकता है । मल्लिका के शब्द,उसकी शारीरिक गतिशीलता जो पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है, अम्बिका और

विलोम की गतिहीनता में व्यंजित अर्थ की सहजता से प्रेक्षक तक सम्प्रेषित होती है । जैसे-जैसे घोड़े की टापों की ध्वनि समीप आती जाती है, वैसे ही वैसे मल्लिका की गतिशीलता में भय, आशंका और विश्वास की तरंगें व तीव्रता लेता है । पहले केवल विलोम की बांह पकड़ कर उससे 'अनुरोध' करना, फिर 'मां इनसे कहो', मां के माध्यम से वह अनुरोध तीव्रता में बदलता है कि 'ये चले जायें' और तीसरी बार 'आर्य विलोम' में उसकी उग्रता, किन्तु जो अत्यन्त संयत है, प्रकट होती है । घोड़े की टापों का समीप आती ध्वनि से मल्लिका के आन्तरिक जगत् को सम्पृक्त कर नाटककार इस एक स्थिति से अनेक नाटकीय रंगों को उभारता है । अम्बिका और विलोम की निष्क्रियता, उनकी जड़ता यह बताने लगती है कि वे दोनों कालिदास के इस आगमन को एक आलोचक की दृष्टि से देखेंगे, मल्लिका की भांति न तो वे उसके प्रति सहानुभूति रखते हैं और न ही उसपर आस्था । ऐसे सघन द्वन्द्वात्मक क्षणों को नाटककार रंगमंच द्वारा रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत करने के लिए छोड़ देता है । नाटकीय सन्दर्भ में कालिदास का प्रस्थान नाटक के संचित अर्थों का वाहक है । उस क्षण से ही जब कि घोड़े की टापों पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है, हम दो प्रश्नों से आक्रान्त होते हैं कि वह कालिदास ही है अथवा कोई और, इससे भी अधिक हमारी कल्पना, कालिदास के आने पर सम्भावित स्थिति क्या होगी, सोचने में सक्रिय होती है । किन्तु अन्तत: उसका द्वार पर से ही प्रस्थान संघर्ष को अत्यन्त गहन बनाता है और नाटकीय रूप में गूंथी नाटकीय संघर्ष तीव्रता से सम्प्रेषित होता है, जहां भावक को सक्रिय होने का अवसर मिलता है ।

प्रभाव सूत्रों एवं प्रवेग का संयोजन तथा संचरण सम्मिलित रूप में हमें नाटकीय संवेदना को ग्रहण करने अर्थात् नाटककार के अर्थों को रचनात्मक स्तर पर अनुभव कराने के लिए महत्वपूर्ण आधार का कार्य करते हैं । संवेदना का प्रभावोत्पादक रूप सांकेतिकता और बहु अर्थक व्यंजना की मांग करता है । नाटकीय संवेदना की खोज करनी होती है, क्योंकि वह प्रच्छन्न और गूढ़ रूप में श्रेष्ठ नाटक में व्याप्त रहती है तथा व्यंग्य, कौतूहल, प्रवेग के सहारे व्यंजित होकर भावक की कल्पना को प्रबुद्ध करती है, क्रियाशील करती है ।

नाटक

जिन नाटकों की चर्चा हम पूर्ववर्ती अध्यायों में कर आए हैं,उनमें से अधिकांश तो वस्तु-निर्माण के सन्दर्भ में ही हमारी अपेक्षाओं को खण्डित कर देते हैं । दूसरे कुछ पात्र-निर्माण के सन्दर्भ में । शेष जो कुछ नाटक बचते हैं,वे नाटकीय संवेदना के स्तर पर गहरी नाटकीय और काव्यात्मक अनुभूति को उभार नहीं पाते हैं । उनमें व्यक्त पूर्ण विचार,नाटककार के बिम्ब-प्रतिबिम्ब अत्यन्त स्पष्ट हैं,नाटक की अपेक्षा सरल और वाह्य हैं । तात्पर्य कि नाटकीय व्यंग्य,सम्प्रेषित आवेग और अर्थ बिना किसी कठिनाई और उलझाव के,प्रत्यक्ष रूप से पाठक और प्रेक्षक के आवेगों और अर्थों से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं । कोई एक ऐसा गूढ़ या जटिल सूत्र नहीं मिलता जो अकस्मात् पूर्ण शक्ति से हमारी भावना या बुद्धि को स्पर्श कर नये बिम्ब का निर्माण कर सके, या नाटक में ही व्यंजित कोई विशिष्ट अर्थ,गूढ़ संवेग कौंध जाये । 'कोणार्क' में मालिक-मजदूर के संघर्ष का विचार,'नेफा की एक शाम' में युद्धकालीन संकट में एक दल की बहादुरी और दृढ़ता का प्रस्तुतीकरण ,'बिना दिवारों के घर' में परिवार के विघटन का विचार नाटक के विषय ही हैं, प्रच्छन्न साध्य नहीं । इनमें नाटकीय वातावरण तो है, पर रचनात्मक स्तर का नाटकीय संवेदना नहीं ।'मादा कैक्टस' और 'दर्पन' में एक प्रच्छन्न विचार है, नाटककार का एक बिम्ब है,किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक नाटककार उसका निर्वाह नहीं कर पाता है ।

देखा जाय तो अधिकांश नाटकों में प्रस्तुत विचारगत विनिमय को पाठक या प्रेक्षक तत्काल ग्रहण कर लेते हैं और अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत कर पात्रों और अभिनेताओं से नये आवेग और कार्य के शीघ्र प्रस्तुतीकरण की मांग करते हैं । कारण,निरन्तर प्रस्तुत होती स्पष्टता देर तक बिना एकरसता तथा आकर्षण के तर्कसंगत बिखराव के नहीं रह सकती । सरलतम रूप में सम्प्रेषित प्रभाव,प्रवेग आदि अपने विकासक्रम में सशक्त तो होते जाते हैं,किन्तु भिन्न दृश्यों में प्रस्तुत होने वाले भिन्न प्रभावों के आवेग मूलत: एक ही दिशा का अनुसरण करने लगते हैं । अत: भावक के मस्तिष्क में वे कोई निश्चित या स्थाई स्थान बना सकने में बहुत अंशों में सफल नहीं होते ।

परिणाम यह होता है कि समग्र रूप से सम्प्रेषित अर्थ बहुरूपदर्शिता नहीं उत्पन्न करते और नाटकीय बिम्ब किसी गहरी नाटकीय संवेदना से संचालित नहीं हो पाते,भले ही

नाटकीय विचार कितने भी प्रभावोत्पादक रूप से उठाया और प्रस्तुत किया गया हो। कम-से-कम किसी भी तरह उनकी रचनाशीलता उस स्तर की सांकेतिकता और बहुआयामी व्यापक धरातल नहीं दे पाती, जिस स्तर की संवेदनशीलता धर्मवीर भारती या मोहन राकेश अथवा भुवनेश्वर और विपिन अग्रवाल आदि के नाटकों में प्रस्तुत है। प्रत्यक्ष सम्प्रेषित अर्थों से निर्मित होते प्रभाव व्यंजित बिम्ब या प्रच्छन्न विचार को कुशलता-पूर्वक चरम सीमा तक ले आते हं, जिन्हें विशेष रूप से नियमित करता है नाटकीय सांकेतिकता, सम्पीड़ित प्रभाव, प्रवेग या लय। इसी कारण ऐसे नाटक रचनात्मकता की बारम्बार नई आशाएं दे सकते हैं।

'अंधा युग'
-- धर्मवीर भारती

'अंधा युग' के प्रत्यक्ष प्रभाव या भावबस्तु की संवेदना का जहां तक प्रश्न है, वह [illegible] से परम्परित किन्तु परिष्कृत प्रारूप ही अपनाती है, किन्तु प्रभाव सूत्रों से एक एक निश्चित प्रभाव का निर्माण जिसमें पात्रों के सूत्र (लिंकिंग) कथन नाटकीय व्यंग्य की सृष्टि कर जाते हैं, और उस प्रथम प्रभाव का दूसरे प्रभाव तक का अर्थगत संचरण और विस्तार, जिसे पूर्णतया नियमित करता है नाटकीय प्रवेग, एक-दूसरे से सम्बद्ध रूप में पूर्ण संवेदना को प्रभावित करते हं। हमारी रुचि के की निश्चित उद्देश्य बिन्दु निम्न प्रभाव सूत्रों से मिलता है --

"विदुर : निश्चय उनसे मैं
अशकुन भयानक है।
पता नहीं संजय
क्या समाचार लाये आज ? (पृ०१५)

धृतराष्ट्र : विदुर !
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है।
(पृ०१६)

याचक तो हूं झूठा भविष्यमात्र
मेरे शब्दों का इस वर्तमान में
कोई मूल्य नहीं
मेरे जैसे

जाने कितने
झूठे भविष्य
ध्वस्त स्वप्न
गलित तत्व
बिखरे हैं कौरव नगरी में
गली-गली ।
माता हैं गांधारी
ममता में पाल रही हैं सब को ।

(प्रहरी मुद्राएं लाकर देताहै)

जय हो दुर्योधन की,
जय हो गांधारी की

(जाता है)

गांधारी : होगी,
अवश्य होगी जय ।
मेरी यह आशा
यदि अन्धी है तो हो
पर जीतेगा, दुर्योधन जीतेगा ।

(दूसरा प्रहरी आकर दीप जलाता है)

विदुर : डूब गया दिन ...
धृतराष्ट्र : पर
संजय नहीं आये "

(पृ०२५)

इन अंशों से प्रथम अर्थ जो हम ग्रहण करते हैं,वह पूर्व विनिमय के आधार पर यह है कि महाभारत के युद्ध की अन्तिम परिणति जानने की जिज्ञासा में कौरव नगरी संजय की प्रतीक्षा कर रही है, किन्तु देखे जाते अपशकुनों से अनिष्ट का भय भी सब के मन में भर गया है । अनिष्ट का भय धृतराष्ट्र को विशिष्टरूप से उद्वेलित करता है, जिसे

हम 'प्रथम बार' के अर्थ से ग्रहण करते हैं । इतने दिनों तक धृतराष्ट्र को आशंका नहीं व्यापी, आज ही वे अपने सीमित संसार की परिधि को अनुभव कर अनिष्ट की कल्पना से भयभीत हो उठे हैं । यहीं से भावक अनिष्ट की कल्पना, पात्रों की कल्पना से अधिक करने लगता है । याचक के पूर्ण कथन से व्यक्त प्रभाव सूत्र गांधारी की आशा की निराशा में प्रतिफलित होने की व्यंजना देता है जो भावक की कल्पना को पुष्ट करता है । उसके बाद ही प्रहरी का दीप बुझाना "डूब गया दिन" "पर, संजय नहीं आये" का अनुकरण हमारे मस्तिष्क में अनेक अर्थों को व्यंजित कर जाता है जो क्रमशः दूसरे प्रभाव तक सघनता से संचरित होता है । उत्सुकता से यह प्रभाव हमारी रुचि को केन्द्र बिन्दु तथा कथा सूत्र देता है । कौरवों की पूर्ण पराजय की अनुभूति हमें देकर नाटककार नाटकीय पात्रों के लिए उसे रख रखता आवश्यक है, और हमारे लिए अश्वत्थामा के अन्तर्द्वन्द्व से दूसरा प्रभाव निर्मित करता है, जिससे नाटकीय पात्रों की संवेदनशीलता और असमर्थता का आत्म-उद्घाटन साथ-साथ बने रहकर नाटकीय संवेदना को सघन अनुभूतियों से पोषित करते रह सकें । दूसरा तीव्र प्रभाव प्रथम से क्रमशः प्रतिबद्ध रहकर नये केन्द्र बिन्दु को निर्मित करता है :

" (नेपथ्य स्वर दूर जाता हुआ)

बलराम : ....

सारी तुम्हारी कूट बुद्धि

और प्रभुता के बावजूद

शंखध्वनि करते हुए

अपने शिविरों को जो जाते हैं पाण्डवगण,

वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से !

अश्वत्थामा : (दोहराते हुए)

वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से !

कृपाचार्य : वत्स,

किस चिन्ता में लीन हो ?

अश्वत्थामा : वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से ।
मातुल मैंने बिल्कुल सोच लिया
....

'वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से' वाक्य,प्रवेग के आरोह-अवरोह में हमें नया अर्थ देता है कि अश्वत्थामा अवश्य ही अपने अन्तर्द्वन्द्व की प्रतिक्रिया में अधर्म, छल और कपट का सहारा लेगा । इस प्रभाव को सार्थकता मिलती है कौवे और उलूक की लड़ाई में व्यंजित संकेत से । इस प्रभाव को नाटककार गांधारी के शाप देने तक सक्रियता में बदलता है और गांधारी के शाप से कृष्ण मृत्यु तक पूर्व निर्मित अर्थ गहराई से व्यक्त होते हैं और मूल रूप से नाटकीय संवेदना को घनीभूत करते हैं । इन प्रभावसूत्रों में देखा जाये तो कोई जटिलता नहीं है, वैसी भावात्मक जटिलता भी नहीं जैसी कि 'आषाढ़ का एक दिन' में,किन्तु एक प्रभाव से दूसरे प्रभाव तक का अर्थ संचरण किन्हीं सूक्ष्म बिम्बों को रेखांकित करता है । प्रवेग से नियमित प्रभाव संचरण आन्तरिक अर्थों के सम्प्रेषण में हमारी रुचि को विशिष्टता से केन्द्रित करते हैं । नाटकीय बिम्ब सीधे अनुभव की अपेक्षा संवेदना से अनुभव में प्रत्यावर्तित होते हैं, परिणामतः महाभारत के युद्ध से कृष्ण मृत्यु तक की कथा नाटककार के सूक्ष्म अनुभवों,अनुभवजन्य बिम्बों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाती है । संवेदना की व्यापकता में कथा,पात्र निमित्त लगने लगते हैं और समग्र प्रभाव की तीक्ष्णता में कुछ ऐसे चिरन्तन प्रश्न उभरते हैं,~~जिसे प्रश्न उभरते हैं~~,जिसे युद्धकालीन और युद्धोपरान्त की सभ्यता और संस्कृति भोगती है ।

'यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
....
दोनों पक्षों की खोना ही खोना है'

अपने में साधारण अर्थों को वहन कर चलता है, किन्तु एक बार नाटकीय संवेदना की ओर हल्का-सा ध्यानाकर्षण होने पर प्रारम्भिक कथागायन के इस सूत्र में किसी व्यापक अनुभूति का संकेत हमें मिलता है, जो आधुनिक सन्दर्भ में किसी भी देश,काल या जाति से सम्बद्ध हो सकती है । 'यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है' नाटकीय संवेदना को एक स्तर पर प्रतिध्वनित कर देता है और भावक इस प्रश्न की प्रस्तुति के ढंग पर सतर्क होकर उसके अर्थ सम्प्रेषण के लिए स्वयं को व्यवस्थित कर लेता है । 'अब' शब्द की गम्भीरता 'कब' की जिज्ञासुकता के विरोध में आज के बहुचर्चित प्रश्न

कि विश्वशान्ति कैसे सम्भव है, को गहराई से उठाता है, और युद्ध की विभीषिका को एक चिन्तनशील ठहराव देते हुए 'दोनों पक्षों को खोना ही खोना है' के अर्थ संचरण से उत्पन्न गम्भीरता और विडम्बित संवेद्य अनुभूति को, पूर्ण नाटक में सापेक्ष परिवेशों और विषम परिस्थितियों के माध्यम से व्यंजित करता है ।
प्रहरियों के सन्दर्भ के प्रभावयुक्त युद्धकालीन जन साधारण की मन:स्थिति को व्यंजित करते हैं : 'जैसे पहले थे वैसे ही अब हैं', का व्यंग्य कोभूत होकर प्रत्येक शब्द के अर्थ को इस प्रकार सम्प्रेषित करता है कि वह जन साधारण की आन्तरिक [illegible] का बोध देता है । संवेदना की व्यंजना के स्तर पर थोड़ा वैशिष्ट्य लेकर यह प्रभाव युक्त जो अर्थ संचरित करता है, वह व्यक्ति के अस्तित्व की क्षीणता का हो जाता है । जो वास्तव में निरीहता और टूटन की ऐसी अनुभूति से उपजा है, जिसे युद्धकालीन का जन समाज अनुभव करते हुए व्यापक उद्वेलन से पीड़ित होता है ।
पूर्ण नाटक में नाटककार इस बात के लिए प्रयत्नशील है कि नाटकीय संवेदना शारीरिक उत्तेजना की अपेक्षा मानसिक उथल-पुथल के स्तर पर उठ सके । इस उद्देश्य के हेतु वह 'अन्तराल' में तीन पात्रों का आत्मालोचन को प्रस्तुत करता है :

'मैं युयुत्सु हूं
मैं उस पहिए की तरह हूं
जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा
पर जिसे अब लगता है कि वह ग़लत धुरी में लगा था,
और मैं अपनी धुरी से उतर गया हूं ।
मैं संजय हूं
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है

....
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता ।
मैं विदुर हूं
कृष्ण का अनुगामी भक्त और नीतिज्ञ

....
और अब मेरा स्वर संशयग्रस्त है

क्योंकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गये हैं
और जो खुद घूम नहीं सकती "

नाटकीय प्रवेगात्मक लय और नाटकीयता में युयुत्सु, संजय और विदुर के अनुभवों का अनुभूति व्यापक युद्ध परिस्थिति के अनुकूल सत्य की अनुगूंज में प्रत्यावर्तित हो जाता है। साधारण रूप में नियोजित अलंकृत भाषा और निश्चित लय के कारण प्रत्येक कथन एक उद्घोष लगता है जो चरम पर आकर भावक के मस्तिष्क में विशिष्ट चिन्तन सूत्र देता है। "मैं युयुत्सु हूँ", "मैं संजय हूँ" या "मैं विदुर हूं" पंक्तियां पूर्व की तीव्र लय को एक ठहराव-सा देती हुई सम्प्रेषित नाटक सत्य की अनुगूंज को तीव्रता से फैलने का अवसर देती है तथा आगे के अर्थ संचरण के लिए शक्ति का संचय भी करती है। पूर्ण प्रभाव में 'पहिये' और 'धुरी' शब्द तनाव की दो स्थितियां हैं, क्योंकि प्रत्येक पात्र का कथन इन दोनों के सम्बन्ध को अपने संदर्भ में भिन्न रूप से कहता है, किन्तु मूल रूप में एक बात सभी कहते हैं कि युद्ध के दौरान में 'पहिये', 'धुरी' के साथ जुड़े थे किन्तु युद्धोपरान्त उससे विलग टूटे, घिसे या उतरे हुए व्यर्थ और निष्क्रिय हैं।"... मेरे प्रभु उस निकम्मी धुरी की तरह हैं, जिसके सारे पहिये उतर गये हैं और जो खुद घूम नहीं सकती" अनायास सारे अर्थ की संवेदना के मध्य व्यक्ति की आस्था, मान्यता और आशा में बदल जाता है और पूर्ण प्रभाव को अभिव्यक्ति में हम इस प्रकार ग्रहण करते हैं-- अन्तर्दृष्टि के बल पर सत्य का पक्ष लेकर युद्ध में क्रियाशील रहने वाला व्यक्ति उत्पीड़न तथा उपेक्षा से यह अनुभूति लेकर रह जाता है कि उसने स्वयं को गलत दिशा में संचालित कर दिया था। युद्धोपरान्त सिवाय अपने को भ्रमित विश्वास के कारण टूटा और घिसा हुआ अनुभव करने के कुछ नहीं मिलता, यहां तक कि उस भ्रमित विश्वास का सहारा भी व्यर्थ हो जाता है। जो कर्मशील नहीं होते, केवल तटस्थ होते हैं, वे अपनी निष्क्रियता पर लज्जित अनुभव करने लगते हैं, विघटन और विनाश का दारुण चित्र उन्हें उद्वेलित छोड़ जाता है और जो पूर्णतया आस्था और आशामय होकर चलते हैं, उनकी गति भी विभ्रमित हो जाती है। इन बिम्बों को ग्रहण करने पर युद्ध हमें एक सांस्कृतिक-बुराई लगने लगता है। अन्त में युधिष्ठिर के

नाट्कौशल के प्रभाव सूत्र में बहुरंगी प्रवेग से गहरे अर्थों का व्यंजना के कारण युद्ध केवल विजय और पराजय का प्रतीक न रहकर संवेदना के स्तर पर व्यापक त्रासदी का अनुभूति देता है । युद्ध के बाद का विनाशकारी आस्थाहीन, निराशा से उद्वेलित स्वयं में खंडित समाज हमारी संवेद्य अनुभूतियों की रचनात्मकता के दोहरे आयाम में विलनकारि बना जाता है । इस सारे अर्थ सम्प्रेषण से उद्वेलित, अस्त व्यस्त हमारी संवेदना निम्न प्रभावसूत्र के व्यंजक बिम्ब से सघनीभूत होकर पूर्ण संवेदना के प्रश्नात्मक पक्ष को अत्यन्त सूक्ष्मता से अनुभव करती है:

'एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिल कर फलीभूत
होने वाला आत्मघात'

एक-एक शब्द का अर्थ जैसे अनुभूति को कचोटता है। 'लम्बा' और 'धीमा' शब्द विरोध के तीक्ष्ण प्रभाव देते हैं, जिसके बीच का अलक्ष्य प्रभाव 'तिल-तिल' के अर्थ-सम्प्रेषण में अन्तहीन लगने लगता है और कहीं उसी लय का चरम सीमा 'आत्मघात' में सारे तनाव को उतनी तीक्ष्णता से अभिव्यक्त कर देता है । यदि गहरी आस्था की भी यही परिणति है तो व्यक्ति किस आन्तरिक शक्ति का सहारा लेकर क्रियाशील होगा ? तब नाटककार मानव-भविष्य की रक्षा के चिन्तन सूत्र को निर्मित करता है :

युयुत्सु : '............
अंधे युग में जब-जब शिशु भविष्य मारा जायेगा ब्रह्मास्त्र से
....
उनको बचाने कौन आयेगा
क्या तुम अश्वत्थामा ?
तुम तो अमर हो ?

अश्वत्थामा : किन्तु मैं हूं अमानुषिक अंधतम
तर्क जिसका है घृणा और स्तर पशुओं का है ।

युयुत्सु : तुम संजय
तुम तो हो आस्थावान् ?

संजय : "पर मैं तो हूं निष्क्रिय
निरपेक्ष सत्य !

....
कर्म से पृथक
खोता जाता हूं क्रमशः
अर्थ अपने अस्तित्व का !

युयुत्सु : इसीलिए साहस से कहता हूं
नियति हमारी बंधी प्रभु के मरण से नहीं
मानव भविष्य से है !
परीक्षित के जीवन से !
कैसे बचेगा वह ?
कैसे बचेगा वह ?"

युयुत्सु के कथन गति का बोध देते हैं और अश्वत्थामा तथा संजय के स्थिरता और निष्क्रियता के । युयुत्सु के कथन से,जो अर्थ सघनता और वस्तुपरकता से भरा है, चुनौती और मानसिक उथल-पुथल का कारण बनता है और अश्वत्थामा तथा संजय के सम्भाषण से आत्मसीमित तथा संकुचित है तथा कुंठा और निराशाजन्य अनुभूति को व्यक्त करते हैं । विरोध की इस स्थिति में यह प्रभाव हमें एक चुनौती देता है कि यदि व्यक्ति इसी प्रकार युद्धरत रहा तो मानव-भविष्य का क्या होगा, "कैसे बचेगा वह ?" क्या व्यक्ति अपनी नियति को अपनी विभ्रान्त,टूटी,घिसी आस्था से सम्बद्ध करेगा? प्रश्न की यह अनुगूंज तीव्र होते हुए याचक के पुनर्जन्म लेने के संकेत में आशा की स्थापना करती है । इसके साथ ही नाटककार आज के मानवमात्र को सचेत करते हुए चुनौती के रूप में

वृद्ध : "..............
वे हैं भविष्य
किन्तु हाथ में तुम्हारे हैं ।
जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करो
जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो,जीवन लो ।"

इस प्रभाव सूत्र के अन्तर्निहित अर्थ को संचरित करता है कि मानव-भविष्य आज के मानव के ही हाथ में है ।

इस तरह युद्धोपरान्त की घुटनभरी विजयश्री, पराजित आस्थाएं, खंडित व्यक्तित्व का एक चटक रंगों वाला चित्र हमारे मानस-पटल पर अंकित हो जाता है । तीव्र अनुभूतियों की सघन संवेदना भावक में उस सारे युद्ध का साक्षात्कार करा जाता है और देखते ही देखते एक पूरा युग जैसे हमारे सामने से गुज़र जाता है और हममें अपने विघटित संत्रास की अनुगूंज छोड़ जाता है । नाटकीय संवेदना कार्य व्यापार की उत्तेजना और चिन्तन की सूक्ष्मता तथा ठंडक में घनीभूत हो उठती है और अपनी प्रस्तुति में किसी एक व्यक्ति, देश या काल की न रहकर व्यापकता में किसी भी उस युग, देश और व्यक्ति से सम्बद्ध हो जाता है, जिसने युद्ध कालीन संकट भोगा हो । क्योंकि साधारणरूप से तो यह लगता है कि पात्र युद्ध की विभीषिका को अपने सन्दर्भ में सोचते हैं, किन्तु जब ये नाटकीय बिम्बों को पोषित करने लगते हैं तो व्यापक अर्थों के पोषक बन जाते हैं ।

नाटकीय संवेदना प्रारम्भ से अन्त तक व्यंजकता में जितनी सम्प्रेषित है, उतनी ही प्रच्छन्न भी और गहरी भी । यह गहराई बहुअर्थक व्यंजना, अनेक रंग छायाओं का सुनियोजन तथा बहुआयामदर्शिता की रक्षा प्रवेग के सुनियोजन के कारण भी है । पूर्ण नाटक का प्रवेग मुख्यरूप से आवेग और निरावेग की लय से बद्ध है, किन्तु एक दृश्य दूसरे दृश्य के समानान्तर नहीं है और न ही एक पूर्ण दृश्य एक लय में है । प्रवेग किसी एक आवेग का अनुसरण भी नहीं करता पर प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षण में रचनात्मक लय से पोषित है । प्रथम अंक में गांधारी का आवेश बाह्य रूप से धृतराष्ट्र की आत्मग्लानि और विदुर की आस्था से सन्तुलित है और प्रहरियों के निरावेग, ठंडी आत्मपीड़ा से अनुप्रेरित है, तो आन्तरिक रूप में वह ममता, स्नेह, पीड़ा, मातृत्व की व्यथा, आक्रोश किन्तु धैर्य और क्षमा जैसे आवेगों से भी संचरित है । इसी तरह अश्वत्थामा का तीव्र क्रोध और प्रतिक्रिया, दृश्य के परिप्रेक्ष्य में युयुत्सु की यातनाभरी प्रतिक्रियाहीनता, कृपाचार्य की मर्यादा और कृतवर्मा के क्षोभ से नियोजित है और ये भी सभी पात्र अपने आन्तरिक उद्वेलन से भी आक्रान्त हैं । बहुआयामी भावनाओं का आपसी टकराव, उनकी लय-ताल असन्तुलित नहीं

लगती, इसी कारण विच्छिन्न या एक रंगीय भी नहीं । संक्षेप में कहा जा सकता है कि पूर्ण नाटक में प्रवेग का गुम्फन भाषा की काव्यात्मकता में इस प्रकार गुंफित है कि प्रत्येक बार पढ़ते हुए या उसकी मंच-प्रस्तुति देखते हुए उसकी रचनात्मक क्षमता के नये आयामों की, सूक्ष्म बिम्बों की खोज की जा सकती है, या उन्हें अनुभव किया जा सकता है और किसी रचना की सार्थकता इन्हीं अर्थों में पोषित होती है ।

मोहन राकेश के तीनों नाटकों में एक यद्यपि पात्र-निर्माण की दृष्टि से विश्रृंखलित की जाती है पर फिर भी उनके तीनों नाटक गहरी नाटकीय संवेदना से पोषित है । विभिन्न सन्दर्भों में व्यक्ति के संघर्ष और उसके कारण तथा परिणाम की एक ऐसी अनुभूति हमें मिलती है, जो स्वयं में सीमित क्षेत्र की नहीं है, पर हमारे मानसिक जगत् के गूढ़ और जटिल उलझनमय संसार की अनुभूति है, जिसे कलाकार की चेतना भोगती है, व्यक्ति की आत्मा भोगती है या फिर सामाजिक स्तर पर जीवन के विघटन को किसी भावात्मक विवशता में प्रत्येक व्यक्ति भोगता है, कम या अधिक ।

'आषाढ़ का एक दिन' — मोहन राकेश

यह नाटक स्थूलरूप से देखा जाय तो भावात्मक सम्बन्धों की मार्मिक कथा का नाटक है । व्यक्ति-रूप में कालिदास और मल्लिका की विडम्बनीय मानसिक स्थिति हमें गहरी अन्तर्वेदना से भर जाती है । एक दारुण चित्र जिसमें मल्लिका के अभावग्रस्त जीवन की जर्जरित स्थिति और परिस्थितियों से घिरे कालिदास की विवशता अंकित है । भावुकता में कालिदास अपने मानसिक उत्पीड़न को सर्जन में मूर्त रूप देता है और मल्लिका अपने आन्तरिक भाव को हर आंधी-तूफान से बचाने में अपने नश्वर शरीर का व्यापार करती है । थका-हारा कालिदास उसके पास आकर नये जीवन को अथ से आरम्भ करना चाहता है, और मल्लिका उससे किसी दिन साक्षात्कार हो सकेगा की कल्पना किये रहती है, किन्तु जब ऐसा होता है, तो उनके लिए समय बीत चुका होता है, कालिदास लौट जाता है, मल्लिका वहीं रह जाती है । भावात्मक आवेगों की सघनता, सूक्ष्मता और गहराई से अनुप्रेरित प्रणय, त्याग और त्रासद अंत का यह चित्र हमें गहरे मानसिक उत्पीड़न की भाव-भूमि देता है, किन्तु इस कथा से विरोधी तरंगों के संचरण के कारण नाटककार हमें जिस व्यापक अनुभव से जोड़ता है, वह है कलाकार के उस अन्तर्द्वन्द्व की घनीभूत मार्मिक अभिव्यक्ति, जिसे किसी-न-किसी स्तर पर कोई भी

रचनाशीलता माँगती है ।

कालिदास : 'मुझे जाने के लिए कह रही हो ?

मल्लिका : हाँ ! देखना, मैं तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी, बहुत घूमूँगी और हर संध्या को जगदम्बा के मन्दिर में सूर्यास्त देखने जाया करूँगी ...

कालिदास : इसका अर्थ है, तुमसे विदा लूँ ?

(मल्लिका जैसे चिहुँक जाती है।)

मल्लिका : नहीं । विदा तुम्हें नहीं दूँगी । जा रहे हो, इसलिए केवल प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो ।

(उसके हाथ छोड़ देती है)

जाओ ।'

यहाँ हम व्यक्ति-पात्र में रुचि न रखकर या सहानुभूति न रखकर कलाकार और प्रेरणा के रूप में उनके आन्तरिक सम्बन्ध को अनुभव करते हैं । 'मुझे जाने के लिए कह रही हो ?' में कालिदास शान्त और पराजित स्वर में स्वयं को मल्लिका के हाथ में इस विश्वास से छोड़ देता है कि वह जो भी करेगी, उचित ही करेगी, जो उसकी आस्था का एक सूक्ष्म बिम्ब देता है । कालिदास के कथनों का प्रवेग एक प्रकार के ठहराव और मन्द लय से नियोजित है, जब कि मल्लिका के कथनों में त्वरित गति है । इसी कारण कालिदास का प्रत्येक कथन मल्लिका के उद्दाम आवेगों को संयमित होने का अवसर देता है । लय का विरोध दोनों के मानसिक उद्वेलन को प्रकट कर नाटकीय संवेदना को अनुभव करने का प्राथमिक प्रभाव सूत्र देता है । कालिदास के कथन को हम विशिष्ट सूत्र के रूप में ग्रहण करते हैं : 'तुम कह रही हो कि चला जाऊँ, तुम्हारे कहने पर मैं यह अलगाव तो सह लूँगा पर तुम्हारा क्या होगा । क्योंकि तुम परिणाम को सोचे बिना कह रही हो, मैं जानता हूँ मेरा अभाव तुम्हें असहनीय होगा मैं तो जब तुम जाने को कह रही हो, किसी तरह यह सह लूँगा, पर वैसे मैं जाना नहीं चाहता ।' मल्लिका के कथन की तीव्रता 'हाँ ! देखना मैं तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी ...' पंक्ति प्रत्यावर्तित रूप में उसकी मन:स्थिति को व्यंजित करती है : 'तुम्हारा जाना मेरे लिए कितना बड़ा अभाव होगा, जिसे तुम जाना या सूर्यास्त देख

आना पूरा नहीं कर सकता, पर मैं चाहता हूं कि तुम जाओ, तुम्हारा जाना कितना कष्टप्रद होगा पर तुम्हारे सम्मान की बात का उल्लास अधिक है ।" कालिदास अन्त-र्दृष्टि से इसी अर्थ को ग्रहण कर "इसका अर्थ है तुमसे विदा लूं ।" कहता है, यानी कि "तुम्हारा कथन मुझे तुमसे अलग होने का आदेश है" । "विदा तुम्हें नहीं दूंगा", "केवल प्रार्थना करूंगी" मल्लिका के आन्तरिक अर्थ, "तुम अलग नहीं हो रहे हो जो विदा दूं, तुम तो सिर्फ़ जा रहे हो और जाकर लौट आने वाले हो, फिर विदा कैसा । बल्कि प्रार्थना है कि तुम्हारे मार्ग की प्रशस्ति की । व्यक्त होते हैं। इस तरह जो वे कहते हैं, उससे अधिक जो वे नहीं कहते हैं, गहनतर हो उठता है । इस अतिरिक्त व्यंजना में गहरी आस्था और आशा है, व्यापकता है, संकोच नहीं । "प्रार्थना करूंगी" शब्द के अर्थ मन में चुभन पैदा करते हैं और "जाओ" में एक शान्त, गम्भीर आस्थावान चरम सीमा सम्प्रेषित अर्थों की गहनता की मार्मिकता से स्पर्श कर जाता है ।

मल्लिका : "...............................

(ओठ चबाती हुई और अन्तर्मुख हो जाती है)

परन्तु मैंने यह सब सह लिया । इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बन रहे हो । क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी । और आज यह सुन रही हूं कि तुम सब छोड़कर सन्यास ले रहे हो ? तटस्थ हो रहे हो ? उदासीन.... ? मुझे मेरी सत्ता के बोध से इस प्रकार वंचित कर दोगे ?"

इस सम्पीड़ित प्रभाव-सूत्र में जहां विस्तार की कोई गुंजाइश नहीं, अत्यन्त संवेदनीय अनुभूति है जो मस्तिष्क में गले हुए शीशे की तीखी चुभन-सी फैलती जाती है । अलंकृत भाषा का काव्यात्मक नियोजन, जो गहराती जाती भावनाओं के गंभीर, वस्तुपरक नैतिक स्वर का वहन करता है, प्रत्येक शब्द और उसके अर्थ संवरण में प्राणवत्ता भर देता है । इस प्रभाव सूत्र द्वारा संचरित अर्थ की सकेन्द्रित ग्राह्यता अब तक के व्यंजित बिम्बों को निश्चितरूप से एक पूर्ण प्रभाव में बदल देती है । भावात्मक सन्दर्भ में हमारी सहानुभूति और करुणा घनी हो जाती है, किन्तु इस प्रभाव की, गहरी आस्था और आक्रोश के सन्तुलन में, व्यंग्यात्मक व्यंजना कथन के

सम्पीड़ित प्रभाव के माध्यम से कलाकार की सर्जनशीलता के पुरुषार्थ को व्यक्त करता है और चमत्कारिक रूप से अर्थ बिम्बों का चुम्बन महसूस होने लगता है । इस प्रकार मल्लिका का यह पूरा कथन जटिल प्रभावों के संश्लेषण और मूल्य को स्थापित करने का महत्त्वपूर्ण आधार बन जाता है । "परन्तु मैंने सब सह लिया" पूर्व के प्रवेग का लय, ताल के विराम का पुनरारम्भ है । और वहां अर्थ जो उसके अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति के प्रारम्भिक अंश में विश्लेषित हैं, पुन: सांकेतिकता में, प्रकम्पित लय के अनुसरण पर, विशिष्ट गहराई लेते हैं । "परन्तु" शब्द अर्थ का मील पत्थर है, जिसपर रुकने पर कालिदास और मल्लिका के जीवन का तुलनात्मक विश्लेषण करने की इच्छा होती है । कालिदास ने विवाह किया, जीवन में ऐश्वर्य को भोगा, चाहे उसका रूप जो भी रहा हो, पर मल्लिका ने ऐसा नहीं किया, स्थूल आवश्यकताओं के लिए शरीर का व्यापार भी इसलिए किया कि जो भाव कालिदास था वह और कोई नहीं हो सकता था और उसकी प्रतीक्षा भी करनी थी, फिर उसने कालिदास को "विदा" नहीं किया था, केवल "भेजा" था ।"परन्तु सब सह लिया।है" यहां तक कि उसकी हीनता को और "अभाव की सन्तान" को भी ।"इसलिए" के बोझिल स्वर में सारे कारण स्पष्ट हो जाते हैं और शेष कथन एक पूर्ण सत्य को हमारी संवेदना में प्रत्यावर्तित करता है और एक पूर्ण अर्थ संवेदना के स्तर पर सम्प्रेषित होता है : मल्लिका ने अपने नष्ट होते जीवन की परवाह कभी नहीं की, क्योंकि अपने अस्तित्व को उसने सदा कालिदास के कलाकार में देखा । उसकी सर्जनशीलता कुंठित नहीं हुई और वह लिखती रही इसी में उसकी सार्थकता है, उस कला के माध्यम से वह जीवित और पूर्ण है, क्योंकि मूलत: वह कलाकार की अपनी आस्था का बाह्य विस्तार है, ऐसी आस्था है जो धरती में रोपित रहती है और ऊपर से झुलस कर, नष्ट होकर भी अन्दर से सूखती नहीं है विरोपित नहीं होता है । व्यक्ति अपना कुछ विशिष्ट खोकर ही निर्माण करता है, व्यक्तिगत खोना ही व्यापक सर्जन में प्रतिफलित होता है ।" "सन्यास ले रहे हो ?", "तटस्थ हो रहे हो ?", "उदासीन... ?", (वाक्य) इन्हीं अर्थों को विराम और ठहराव की ताल से पोषित कर, गहराई से स्थायित्व देते हैं ।

कालिदास : "........................

(पुन: झरोखे के निकट चला जाता है।)

लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में

> रहकर बहुत कुछ लिखा है । परन्तु मैं जानता हूं कि मैंने वहां रहकर कुछ भी नहीं लिखा । जो कुछ लिखा है वह यहां के जीवन का ही संचय था । ....
> मैंने जब जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया । और जब उससे हटकर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान् नहीं हुई । रघुवंश में अज का विलाप भी मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी-और ...... ।"

कालिदास के कथन की एकाग्रता और मार्मिक अर्थ तरंगों के प्रवाह में हमारी रुचि को तीव्रता से आकर्षित करते हैं । आत्मोद्वेलन और आत्मविश्लेषण के स्पष्टीकरण का अंश भावक के निकट एक प्रकार का उद्घोष है, सम्भाषण है । मार्मिक संवेद्य विशेषता और शब्दों की अलंकारिक लय से निर्मित शाब्दिक बिम्ब विधान की प्रचुरता दोनों के प्रेम की गहराई और पवित्रता को, और उसके अभाव के कारण कालिदास के भावात्मक उद्वेलन की एकाग्रता को प्रकाशित करने में विशिष्टता से सफल है । संयोजन की सरलता में यह सूत्र अपेक्षाकृत शक्तिशाली प्रभाव भी देता है । अन्तर्दृष्टि के आधार पर जब हम उसकी आत्मा की वास्तविक अस्थिरता को देखते हैं तो मानसिक अस्थिरता के विभाजन में संवेद्य अनुभूतियां ग्राह्यात्मक हो जाती हैं ।" जो कुछ लिखा है वह यहां के जीवन का ही संचय था" व्यंजना में सर्जन की प्रक्रिया की और संकेत करता है और संवेदनीय अर्थ ग्रहण में एक पूर्ण प्रभाव हम तक सम्प्रेषित होता है : "शारीरिक रूप से यहां नहीं रहकर भी कालिदास मानसिक और आन्तरिक रूप से यहां बना रहा । मल्लिका उसके भाव जगत् में छाई रही, अपने से अलग रखकर वह उसे नहीं देख पाया । मन में अंकित उसके प्रतिबिम्ब को, उसके प्रति अपनी भावनाओं के अमूर्तन को घनीभूत पीड़ा के क्षणों में काव्यात्मक स्वरूप देता रहा ।" "मैंने जब-जब लिखने का प्रयास किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया", प्रत्येक शब्द एक बिम्ब -विधान की रचना करता है ।" जब-जब लिखने का प्रयत्न किया", यानी कि यह अनुभूति किसी एक विशिष्ट क्षण की नहीं, पर निरन्तर मन में चलते उद्वेलन से उपजी थी, "तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को दोहराया" अर्थात् "तुमसे बिछुड़ा

एक अतीत था, किन्तु ऐसा अतीत जो गुंजारित धु-धुंधलिकाओं में विलीन नहीं हो गया, पर अपने साथ सौ-सौ कल्पनाओं के रंगों को लाता रहा है, और प्रत्येक बार वह नया रंग काव्य के कैनवेस पर बिखरता चला गया ।' और जब उससे हटकर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान् नहीं हुई ' तात्पर्य 'ऐसा नहीं कि तुम्हारे संग के अतीत को सायास निकट रखा हो, तुम्हारी निकटता की अनुभूति ऊपरी या कोरी भावुकता का प्रतिफलन नहीं थी, क्योंकि जब मैंने जीवन के इतिहास से कुछ अलग लिखना चाहा तो लिखना सार्थक नहीं हो सका ।' इन अर्थ बिम्बों में कालिदास के चरित्र की अपेक्षा एक कलाकार की कलानिःसृजिता की पूर्वपीठिका का प्रभाव सम्प्रेषित होता है । नाटक के अन्त में कालिदास का प्रस्थान जिन अन्त: एवं बाह्य परिस्थितियों में होता है, वह विक्षुब्ध तीव्रता में व्यापक रूप से सर्जन की शक्ति और निरन्तरता को भी लक्ष्य में व्यक्त कर जाता है । पूर्ण नाटक के अर्थ भी लक्ष्य में पुन: रचित एवं नव निर्माण से उत्प्रेरित होते हैं और सर्जन किसी आत्मपीड़न एवं आत्मपीड़न की सघन सूक्ष्म अनुभूति के क्षणों से सम्बद्ध आस्था और आशा के सहारे भाव प्रवण क्षणों में व्यक्त होने की स्थिति से जुड़ जाता है ।

सर्जन की यह मार्मिक पूर्वपीठिका जितनी सघन, सूक्ष्म किन्तु अव्यक्त या अर्द्धव्यक्त अनुभूतियों को लेकर चलती है, उतनी ही नाटकीय संवेदना गहरी होती जाती है, बिम्बों को मर्म-स्पर्शी बनाती चलती है । प्रवेग का समानान्तर लय इन अर्थों को और भी गहराई देता है । कोई भी रंग चटक नहीं पर चुभन उसमें है । उत्तेजक प्रवेग उसमें नहीं है, मंद और शान्त आवेगों के प्रवेग हैं, किन्तु उनकी निःस्तब्धता जड़ता या क्षीणता से परिचालित नहीं है । सारा स्वर, मौन घनीभूत पीड़ा, व्यथा और आन्तरिक मन्थन का है, उसी लय में प्रवेग भी मौन उत्तेजना और आवेश से संचालित होते हुए गम्भीर भावों के अनुरूप मंद ताल (Slow beat) लिए हुए है । इसी कारण पूर्ण नाटक के प्रवेग से एक ऐसी चरम सीमा का निर्माण होता है जो द्रुतलय का अनुसरण करने वाले पूर्ववर्ती सूत्रों के बाद शान्त, निस्तब्ध और मंद लय पर है । कालिदास के लौटकर आने तथा अपने सारे अन्तर्द्वन्द्व को मल्लिका के सामने व्यक्त करने में धीरे-धीरे लय बढ़ती है । कालिदास की टूटन से नई आशा तक की बदलती रंग इकाइयों को प्रवेग मूलरूप से मंद रहकर भी ताल की विभिन्नता में सन्तुलित रखता है । विकासक्रम में प्रवेग कालिदास के प्रस्थान में नाटककार के बिम्बों को पूर्णतया उभार सकें, इसलिए मल्लिका के वर्तमान के रहस्योद्घाटन

पर झंकृत सा होकर बिखरे रूप में विकसित होता है । अनायास हमारे सामने प्रश्न उठते हैं कि कालिदास रुकेगा या चला जायेगा, बच्चों के प्रति उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, वह क्या कहेगा या करेगा । इन सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर देने से पूर्व नाटककार प्रवेग के माध्यम से एक विराम रख देता है, जब कि कालिदास और मल्लिका अपने मनोवेगों के द्वन्द्व से विचलित विलोम की भाषा में व्यंजित व्यंग्य को भोगते हैं । इस विश्राम में अब कि प्रवेग एक ओर अत्यन्त गम्भीर लय है, दूसरी ओर व्यंग्य का हल्का किन्तु तीव्र ताल से संचालित है । प्रवेग की अनोखी और विरोधी तरंगें तीनों पात्रों के मनोवेगों की सूक्ष्मता में नाटकीय बिम्बों को प्रभावित करता हैं और हमारी कल्पना को सक्रिय बनाती है । और तभी विलोम का यह घोषणा कि बच्ची की शक्ल उससे मिलती है, प्रवेग की सघन ताल(beat) है, जिसका अनुसरण करती है कालिदास के प्रस्थान की बहुरंगी तरंग । कहने का तात्पर्य है कि नाटककार अन्त:-वाह्य आवेगों के प्रवेग से अनेक रंग इकाइयों को तरंगित करता है और सूक्ष्मता में रचनात्मकता का ऐसा स्तर प्रस्तुत करता है कि पात्रों का अभिनय कुशल अभिनेताओं की और मांग करता है । क्योंकि पूर्ण नाटक में किसी एक समय में एक ही भाव या आवेग सर्वेसर्वा न रहकर अनेक भावों-आवेगों के संधि-व्यूह को प्रस्तुत करता है । इसी वजह से पात्र क्या कहते हैं, कैसे कहते हैं, प्रच्छन्नता और सांकेतिकता के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठता है । 'लहरों के राजहंस' में निर्मित संवेदना अन्त में केवल उन्हीं कारणों से विच्छिन्न-सी होने लगती है, जिन कारणों से 'आषाढ़ का एक दिन' में सघनीभूत होकर फैल जाती है । नन्द का पुन: लौट जाना कालिदास के लौटने की अपेक्षा कम प्रभावशाली हो जाता है । नन्द के आध्यात्मिक संकट का आधार इतना दुर्बल हो जाता है कि उससे नाटकीय संवेदना प्रभावित नहीं हो पाती है । कालिदास का प्रस्थान यद्यपि सशक्त प्रवेग और सूक्ष्म अर्थों के संचरण से पोषित है पर साधारण रूप में भी वह गहरे आवेगों और मनोवेगों से अनुप्रेरित है, उसकी भावात्मक एकता संकटग्रस्त नहीं होती है और इसी कारण अपनी समग्रता में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक हो जाती है ।

'आधे-अधूरे' -- मोहन राकेश

मोहन राकेश का [illegible] नाटक 'आधे-अधूरे' आज के मध्य-वर्गीय परिवार के विघटन संत्रास के कारणों की खोज करते हुए नाटकीय संवेदना को परम्परागत रूप से कुछ भिन्न स्तर पर प्रस्तुत करता है । प्रच्छन्न या परोक्ष वहां कुछ नहीं है, जो है सामने है । एक परिवार के आपसी तनाव के बीच से उठते 'क्यों' और 'कैसे' के प्रश्नों का अपने ढंग से संश्लेषण है जो अन्त तक प्रत्येक प्रश्न और उत्तर के अनेक विकल्प देता है और भावक को अपने ढंग से सोचने पर विवश करता है । अत्यन्त चतुरता से वह घर की चौथी दीवार को हटा देता है और क्रमश: पात्रों के व्यवहार, उनके चिन्तन और क्रिया कलापों का सर्वेक्षण करने के लिए प्रस्तावना में बस एक प्रभाव सूत्र दे देता है । नाटकीय संवेदना अनुभूतियों की सघनता, अर्थ संगत गहन [illegible] तथा दृश्य अर्थ बिम्बों के प्रभाव सूत्रों में व्यंजित है । व्यंग्य, कौतूहल और सूक्ष्म प्रभाव गुम्फन आरम्भ से अन्त तक हमें आन्तरिक तनाव द्वारा जकड़े रहते हैं, जो मानसिक स्तर पर उद्वेलित भी करते हैं और प्रभावों के रचनात्मक संचरण के विराम स्थल भी प्रेषित करते हैं ।

'पुरुष एक : (फिर उस तरफ मुड़कर) यह सब कहता है वह और क्या-क्या कहता है ?

स्त्री : वह इस बात तुमसे बात नहीं कर रही है ।

पुरुष एक : पर बात तो मेरे घर की हो रही है ।

स्त्री : तुम्हारा घर ! हंह !

पुरुष एक : तो मेरा घर नहीं है यह ? कह दो नहीं है ।

स्त्री : सचमुच तुम अपना घर समझते इसे, तो .... ।

पुरुष एक : कह दो, कह दो, जो कहना चाहती हो ।

स्त्री : दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे... जो कहना चाहती हूं ।

पुरुष एक : कह दो अब भी... उससे पहले कि दस साल ग्यारह साल हो जायें ।

स्त्री : नहीं होने पायेंगे ग्यारह साल... इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो ।

पुरुष एक : (एक टक उसे देखता, नाट के साथ) नहीं होने पायेंगे सचमुच ? ... काफ़ी अच्छा आदमी है जगमोहन ! और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफर भी हो गया है । मिला था उस दिन कनाट-प्लेस में । कह रहा था आयेगा किसी दिन मिलने ।

बड़ी लड़की : (धीरज खोकर) ऊँहाँ !

पुरुष एक : ऐसी क्या बात कही है मैंने? तारीफ़ ही की है मैंने उस आदमी की ।

स्त्री : खूब करो तारीफ़... और भी जिस जिसकी हो सके तुमसे ।..."

पूर्व प्रभाव की तीखी चुभन पति-पत्नी के बीच का तनाव कहाँ है और क्यों है,.. के प्रभाव सूत्रों को उद्दीजित कर सम्प्रेषित करती है । अपने आहत व्यक्तित्व और नकारे गए अस्तित्व को लिए पुरुष इस घर को अपने अधिकार क्षेत्र में देखता है तो स्त्री सोचती है कि 'अपना घर' कह देना क्या इतना ही सहज है ।" तुम्हारा घर ! हंह ।" के व्यंग्य में पुरुष के इसघर के अधिकारों को नकारा गया है । दुबारा दोहरा के कहने में "सचमुच, तुम अपना घर समझते इसे, तो ..." यह बात और स्पष्ट हो उठती है कि पुरुष महेन्द्रनाथ ने इस घरको अपना घर समझकर कोई काम नहीं किया । यदि समझता" तो ..."बात अधूरी रखकर नाटककार दूसरे अर्थ की ओर मुड़ जाता है कि" दस साल पहले कहना चाहिए था मुझे... जो कहना चाहती हूं ।" दस वर्ष पूर्व भी वह ऐसा कह सकती थी, पर कहा नहीं, इसलिए आज भी नहीं कहना चाहती । इसके साथ ही एक सूक्ष्म बिम्ब यह भी उभरता है जो मनोवैज्ञानिक स्तर का है कि सम्भवत: किसी अपनी मोकमज़ोरी के कारण उसमें सत्य कहने का साहस न हो । पुरुष के प्रति स्त्री सावित्री की सारी शिकायतें और कटुता, उसके व्यक्तित्व को नकारे जाने की स्थिति " तो..." पर अधूरे छूटे वाक्य के सशक्त ठहराव में व्यंजित होती है, जिन्हें हमारी कल्पना को कचोटने के लिए, अर्थों की कल्पना करने के लिए छोड़कर ,'दस साल पहले' के प्रभाव में नाटककार बता देना चाहता है कि उस परिवार की जो स्थिति है, वह आज की नहीं कई वर्षों की है ।" नहीं होने पाएंगे ग्यारह साल ..." वाक्य पूरा करने के पूर्व का विराम यह बताने लगता है कि सावित्री

कोई निर्णय ले चुका है, पर उसके बारे में निश्चित नहीं है, या दूसरे शब्दों में कोई विकल्प उसे मिल गया है इस घर से विलग होने का, आदि रुककर या लाक्षिकता को छिपाकर कहती है "इसी तरह चलता रहा सब कुछ तो ।" दूसरे अर्थों में पुरुष को चुनौती भी है जिसे वह 'कटक' देखते हुए सावित्री द्वारा सम्प्रेषित अर्थ को ग्रहण करने का प्रयास करता है । दूसरे ही क्षण दुगुनी तीव्रता से पलट कर यह आघात कि "काफ़ी अच्छा आदमी है जगमोहन । और फिर से दिल्ली में उसका ट्रांसफ़र भी हो गया है ।", बड़ी लड़की का 'धीरज खोकर' "ठंडी" कहना, स्त्री के किसी दूसरे जीवन, जो इस परिवार का अप्रिय प्रसंग रहा होगा, को व्यंजित कर जाता है । सावित्री का "नहीं होने पायेंगे ग्यारह साल" और महेन्द्रनाथ का "काफ़ी अच्छा आदमी है जगमोहन" विद्युतीय प्रभाव से मस्तिष्क में चुभन पैदा करते हैं कि सावित्री का जगमोहन से कोई विशिष्ट सम्बन्ध रहा है जिसे महेन्द्रनाथ ने उतने ही तीखे कड़वे घूंट-सा पिया है, जितना कि सावित्री ने पुरुष के अनुत्तरदायी होने को । पूर्ण प्रभाव एक विशिष्ट प्रभाव संचरण के रूप में एक सांकेतिक बिम्ब दे जाता है कि पति-पत्नी के बीच तनाव व्यक्तित्वहीन और आन्तरिक अधूरेपन का है और इनके तनाव से बच्चों की स्थिति विचित्र हो गई है जो समझना चाहकर भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर पाते । देखा जाय तो संवेद्य अनुभव का यह एक ऐसा घनिष्ठ और सघन प्रभाव सूत्र है, जिसका विस्तार भिन्न संश्लेषणात्मक सूत्रों में हुआ है । कुछ सूत्र कथन इस प्रभाव को कहीं अधिक सार्थक चतुरता से तीखा करते हैं । महेन्द्रनाथ का स्वयं के प्रति यह कथन "... रबड़ स्टैम्प भी नहीं, रबड़ का टुकड़ा, बार-बार घिसा जाने वाला रबड़ का टुकड़ा" आन्तरिक आक्रोश और व्यक्तित्वहीनता की लज्जाजनक स्थिति में व्यंजित व्यंग्य है जो स्वयं पर भी है, सावित्री पर भी है और परिस्थितियों पर भी । सावित्री स्वयं को "एक मशीन, जो कि सब के लिए आटा पीस-पीस कर रात दिन और दिन को रात करती है ।" मानती है, और इसमें उसका अहं तथा आन्तरिक टूटन प्रतिध्वनित होती है । इन अर्थों के बीच से एक विशिष्ट अर्थ हमारी कल्पना में भी निर्मित होता है : परिवार के विघटन संत्रास में स्त्री का अहं पुरुष की किसी कमज़ोरी पर हावी होकर उसे पूर्णतया शिथिल कर गया है । निष्क्रियता में जिस उपेक्षा को वह अर्जित करता है, वह अचेतन रूप से आक्रोश और लज्जा से आच्छादित होकर तनाव में परिवर्तित हो गई है और अब कोई वजह नहीं मिलती की

जो वह इस घर से चिपका रहे । सावित्री अपने [illegible] स्वभाव के कारण धीरे-धीरे सब पर हावी होती हुई अन्तत: आन्तरिक टूटन और थकान से चूर हो चुकी है, उसका अधूरापन कोई राह ढूढ़ता है जिसका सहारा लेकर वह चली जाये । पर हम जानते हैं कोई कहीं नहीं जाता पर जाते हुए लौट आता है, फिर उसी तरह या दुगुनी निराशा से घर को ही या अपने अतीत को अथवा एक-दूसरे को धारते-उधेड़ते सर पटकते हुए जीने के लिए और उनके बीच बच्चे अपनी स्थिति को [illegible] से जीते हुए, एक प्रकार से पूर्ण वैवाहिक जीवन की विडम्बना पर प्रश्न उठाते हैं ।

*लड़का : कहना पड़ रहा है क्योंकि... । जब नहीं निभता इनसे यह सब तो ये क्यों निभाये जाती हैं इसे ?

स्त्री : मैं निभाये जाती हूं क्योंकि... ।

लड़का : कोई और निभाने वाला नहीं है । यह बात बहुत बार कही जा चुकी है इस घर में ।

बड़ी लड़की : तो तू सोचता है कि ममी जो कुछ भी करती है यहाँ... ?

लड़का : मैं पूछता हूं, क्यों करती हैं? किसके लिए करती हैं?

बड़ी लड़की : मेरे लिए करती थीं... ।

लड़का : तू घर छोड़कर चली गयी ।

बड़ी लड़की : किन्नी के लिए करती है... ।

लड़का : वह दिन-ब-दिन पहले से बदतमीज़ होती जा रही है ।

बड़ी लड़की : डैडी के लिए करती है... ।

लड़का : उनकी हालत देखकर रहम नहीं आता ?

बड़ी लड़की : और सबसे ज़्यादा तेरे लिए करती है ।

लड़का : और मैं ही शायद इस घर में सबसे ज़्यादा नकारा हूं । ... पर क्यों हूं ?

बड़ी लड़की : यह... यह मैं कैसे बता सकती हूं ?

लड़का : कम से कम अपनी बात तो बता ही सकती है । तू यह घर छोड़कर क्यों चली गई थी ?

बड़ी लड़की : (अप्रतिम होकर) मैं चला गया था... चला गया था क्योंकि ...

लड़का : क्योंकि तू मनोज से प्रेम करती थी ।... खुद तुझे ही यह मुद्दा बहुत कमज़ोर लगता ?

बड़ी लड़की : (रुंआसी पड़कर) तो तू मुझसे... मुझसे भी कह रहा है कि ... ?

(शिथिल होती एक मोढ़े पर बैठ जाती है ।)

लड़का : मैंने कहा था तुझसे... मत कर बात ।"

अतिशय भद्रता और संयम में किया गया यह सारा सम्प्रेषण उनकी वास्तविक उग्रता को व्यंजित करता है । जैसे-जैसे उनकी उग्रता बढ़ती है वैसे-ही-वैसे उनके कथन और भी संयत होते जाते हैं । लगभग एक ही तरह से, एक दूसरे के प्रवेग से किंचित् भिन्नता में दोहराते हुए वे एक-दूसरे को पराजित करने का प्रयास करते हैं । "मैं पूछता हूं क्यों करती हैं ?" के उत्तर में "मेरे लिए करती थी" उतनी ही तीव्रता से व्यक्त है । देखा जाये तो उनके हाव-भाव और कथन का प्रवेगीय कम्पायमान लय सारे सम्प्रेषण में एक चुनौती नियोजित करता है । उस चुनौती को ग्रहण करते हुए बिन्नी एक के बाद एक किसी सही उत्तर को खोजती है, किन्तु 'रुंआसी पड़कर' "तो तू मुझसे ... मुझसे भी कह रहा है कि ... ।" में उसका पराजित स्वर उभर आता है । किन्तु यह पराजय शाब्दिक बिम्ब से अधिक है । इससे पूर्व का वह पूर्ण अर्थ सम्प्रेषण जो बिन्नी द्वारा अपने जीवन उद्घाटन का है, इस प्रभाव सूत्र में वैशिष्ट्य लेता है कि उसका मनोज से विवाह कर चले जाना प्रेम की स्थिति में नहीं अपितु इस घर के ऐसा होने से अब वश था । इस सूत्र में सारा दोष स्त्री पर आरोपित है, क्योंकि उसके इतना करने पर भी, इस घर या घर के सदस्यों की कोई सार्थक उपलब्धि नहीं है । अशोक का कथन तनाव के पूर्ण सूत्रों को काफी चतुरता से प्रभावित करता है । सावित्री के अहं कि "मैं निभाये जाती हूं क्योंकि ..." अर्थात् मुझे निभाना पड़ रहा है, और "मैं न करूं तो देखूं कैसे चलता है सब" पर अशोक का कथन "जब नहीं निभता इनसे यह सब ..." तीखा प्रहार है । जब नहीं होता तो किसने कहा है कि निभाये जाओ" क्यों निभाये जाती है", 'क्यों नहीं छोड़कर चली जातीं, इस अब व्यर्थ के

और एहसान जताने के बदले चले जाना उचित है ।' मैंने कहा था तुमसे ... मत कर बात ।' पूर्ण प्रभाव को काल्पनिक बिम्बों से सम्पृक्त करता है । अशोक एक आलोचक के रूप में सामने आता है और लगता है उसने इस घर के तनाव को निरपेक्ष भाव से भोगा है । कटु सत्य अप्रिय होता है, इसलिए वह कुछ कहना नहीं चाहता है, पर जब कहता है तो पूरे विश्वास के साथ और अनायास एक अन्य प्रभाव सूत्र नाटक में अन्तर्निहित प्रश्नों को एक प्रयोजनीय अर्थ देता है --

"लड़का : कुछ भी । जो चीज़ बरसों से एक जगह रुकी है, वह रुकी ही नहीं रहनी चाहिए ।

बड़ी लड़की : तो तू सचमुच चाहता है कि ... ?

लड़का : (अपनी बाजी का अन्तिम पत्ता चलाता है) सचमुच चाहता हूं कि बात किसी भी एक नतीजे तक पहुंच जाये । ... तू नहीं चाहती ?"

स्वाभाविक अनुभव होता है नाटककार को इस परिवार के ऐसे वातावरण के प्रति तीखी वितृष्णा है, जिसे वह अत्यन्त चतुरता से अशोक के सूत्र कथनों में बदल देता है । "सचमुच चाहता हूं कि बात किसी नतीजे तक पहुंच जाये" का संवरण में यह प्रभाव देता है कि नाटककार सामाजिक कुरीति के इस प्रभाव पर व्यंग्य कर रहा है तथा भावक को एक निर्णय लेने के लिए उत्प्रेरित कर रहा है ।'अन्तराल-विकल्प' के बाद के सहज ग्राह्य अर्थ बिम्ब व्यापक होते सन्दर्भ को समेट कर घर के दायरे तक सीमित कर लेते हैं । महेन्द्रनाथ का लौट आना तथा "... और अंधेरा अधिक घना होता जाता है" के निर्देश सूत्र के प्रभाव से ऐसा लगता है कि वह चौथी दीवार धीरे-धीरे घिर गई है और एक विचित्र-सी कुढ़न, झल्लाहट और मानसिक अव्यवस्था हमारे साथ रह गई है । छोटी लड़की का यह सूत्र कथन "मिट्टी के लौंदे !... सब के सब मिट्टी के लौंदे" तीखी चुभन के साथ व्याप्त होने लगता है और सभी पात्रों के संहित, थके-हारे निष्क्रिय मोह-भंग की स्थिति में भी एक-दूसरे से चीखते-चिल्लाते चिपके रहने की प्रवृत्ति भावक को आन्तरिक रूप से गहरे स्तर पर छूती है । उनकी कुण्ठा वृत्ति हमें कुंठित (संकुचित अर्थ में नहीं) करती है, गहरी आन्तरिक पीड़ा और खीझ देती है, अशोक की भांति

जुनेजा द्वारा सावित्री का विश्लेषण `... जिस किसी के साथ भी तुम ज़िन्दगी शुरू करतीं,तुम हमेशा इतनी ही ख़ाली इतनी ही बेचैन बनी रहतीं ।` गूंजने लगता है । प्रत्यावर्तित रूप में अनुभव होता है कि नाटककार,संवेदना के स्तर पर इस विघटन को भोगा है और वह अपनी सच्चाई से एक संश्लेषण प्रस्तुत कर रहा है । यह संश्लेषण एक रैखीय भले ही हो,किन्तु संवेदना में घनीभूत अनुभूतियों के प्रभावसूत्र हैं । पूर्ण संयोजन के मध्य से एक प्रभाव धीरे-धीरे तीखा होता जाता है कि क्या अपने वश में कुछ भी नहीं रहता ?

जैसा कि पहले कह आये हैं,इस नाटक में परम्परा से थोड़ा हटकर, किन्तु प्रयोगशाल रंगमंच के नाटकों से भिन्न,नाटकीय संवेदना और प्रवेग को एक समतल धरातल पर लाकर देखने का प्रयास है । प्रवेग के वैसे उतार-चढ़ाव इसमें नहीं हैं,किन्तु किसी एक सम की स्थिति से चलकर सम तक पहुंचने में हल्के कम्पन अपनी नियमित गति में अर्थों को गहराई देने में सफल होते हैं । रंग एकाइयों में यद्यपि तनाव का रूप और मात्रा बहुत वैभिन्य नहीं लेती, परन्तु प्रवेग का सूक्ष्म प्रयोग, संवेदन सम्मता को पथराता नहीं है, पर बिम्बों के सार्थक संश्लेषण को प्रस्तुत कर रचनात्मक आयाम देता है । `जब नहीं निभता इनसे यह सब, तो क्यों निभाये जाता है इसे ?` वाले प्रभावसूत्र में लड़की और लड़का दोनों लगभग एक ही लय-ताल में बोलते हैं,किन्तु प्रवेग का कंपायमान आयाम प्रभाव सूत्रों में संचरित अर्थों को काफ़ी चतुरता से प्रस्तुत कर जाता है ।

पूर्ण प्रभाव में लय या ताल लगभग एक है, एक स्थिर प्रवेग है जिसमें लड़की के कथनों से संचरित अर्थ व्यंग्य की पुष्टि नहीं करते, पर लड़के द्वारा किये जा रहे व्यंग्यों को शिथिल करने की अनुभूति देते हैं और लड़के द्वारा सम्प्रेषित अर्थ धीरे-धीरे उसी ताल में व्यंग्य की मात्रा को बढ़ाते जाते हैं । बड़ी लड़की का शिथिल होकर मोढ़े पर बैठ जाना, लड़के का उसी स्वर में " मैंने कहा था तुमसे ... मत कर बात" और स्त्री का आहिस्ता से दो कदम चलकर लड़के के पास आ `कुछ कहना लय के भिन्न आयाम हैं, जिसमें एक स्थिरता को तरंगित किया गया है तथा प्रभाव के उस सूत्र को जो आगे है और जिसे नाटकीय संवेदना के तीखे प्रश्नों से जोड़ा गया है प्रवेग की सशक्त लय से नियोजित है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नाटककार सूक्ष्म कम्पन को

स्थिति में उन सूत्रों को अपेक्षाकृत शक्तिशाली प्रवेगों से पोषित करता है जो कि मूल संवेदना को प्रभावित करते हैं । इसी तरह पात्रों के प्रवेश, निवेश और रंगमंच पर उनके व्यवहार की लयात्मक गति नाटकीय अर्थों को गहन बनाने में सहायक होती है । पुरुष तीन का सिगरेट के कश से छल्ले बनाते बाहर से निस्तब्ध प्रवेश करना और स्त्री का ड्रेसिंग टेबिल पर शृंगार करने वाला अंश, उन दोनों की मनःस्थिति को व्यंजित करते हुए उस अलक्ष्य को भेदने में सहायक बनाता है, जो उन दोनों के बीच होने वाली बातचीत से सम्बद्ध है । इसी तरह प्रारम्भ में ही दफ़्तर से लौटती हुई स्त्री के प्रवेश और बाहर से लौटते हुए पुरुष के प्रवेश की लय में जो अन्तर है, वह पात्रों की मनःस्थिति के साथ ही नाटक की आन्तरिकता से भी सम्बद्ध है, जिसे निर्देशक और अभिनेता अपने द्वारा ग्रहण किए अर्थों के अनुसार रचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत कर सकते हैं ।

'एक और दिन'
-- शान्ति मेहरोत्रा // यह नाटक संवेदना के स्तर पर पर्याप्त रचनाशीलता की अनुभूति देता है, किन्तु इसके लिए नाटककार ने पूर्ण अभिव्यक्ति को सायास आकार में बड़ा बनाने का प्रयत्न नहीं किया है । प्रारम्भ में प्रस्तुत सांकेतिकता अन्त में जुनेजा तथा सावित्री के प्रसंग में स्पष्ट हो जाती है । 'एक और दिन' में शान्ति मेहरोत्रा ने रूपाकार में बड़े नाटक की चिन्ता न कर केवल पूर्ण अनुभूति के सम्प्रेषण पर ध्यान दिया है । यहां पारिवारिक विघटन संत्रास के कारणों को संकेत में व्यक्त करने का प्रयास है । साधारण प्रभाव सूत्र जो पात्रों के आपसी वार्तालाप या व्यवहार की स्थितियों में प्रकट होते हैं, साधारण उतार-चढ़ाव में हम तक सम्प्रेषित होते हैं ।

'पुरुष : (संकोच के साथ) क्या हम लोग साथ नहीं रह सकते ?

स्त्री : नहीं । इस मकान में रहने वाले व लौट आयेंगे और वे हमें टिकने नहीं देंगे ।

पुरुष : तो मैं यह घर गिरा दूंगा ।

स्त्री : उन्होंने बड़ी लगन से बनाया था ।

पुरुष : वे दूसरा बना लेंगे ।

स्त्री : क्या और कोई उपाय नहीं ?

पुरुष : (किसी के आने की आहट पाकर) कोई आ रहा है ।
इस समय न सही, लेकिन मैं इसे तोड़ूंगा जरूर । धीरे-धीरे
... एक-एक ईंट करके, पर अभी नहीं । किसी के सामने
नहीं । मैं फिर आऊंगा । तब तक तुम यह पता लगाने
की कोशिश करना कि इस मकान में जो लोग रहते थे, वे
कहां चले गये ।

स्त्री : और यह भी कि अगर हमने इसे गिरा दिया और वे
लौटे तो फिर वे कहां जायेंगे ।"

अपने-आपमें पूर्ण अनुभूति का एक शक्तिशाली प्रभाव सूत्र है । बड़े ही ठंडे ढंग से, पात्रों को उत्तेजित किये बिना, प्रवेग की गम्भीरता में कुछ अर्थ बिम्ब कल्पना को सक्रिय करते हैं । 'क्या हम लोग साथ नहीं रह सकते ?' की लय के अनुसरण का एक अगला सूत्र अर्थ संचरण में उनकी इच्छा, तथा विवशता को ग्राह्य बनाता है । पुरुष के कथन का लय तीव्रतर होती जाती है और स्त्री के कथन में लय उतनी ही मन्थर हो जाती है । उनके कथन नये अर्थ का निर्माण करते हैं कि 'साथ' रहना और घर को घर' बने रहने देना दो अलग बातें हैं और 'साथ' रहने के लिए इस 'घर' को तोड़ना होगा, लेकिन अन्दर की भावुकता से कहीं अधिक सत्य बाह्य यथार्थ है और जिसने धीरे-धीरे आन्तरिक सम्बन्धों को आच्छादित कर लिया है और वही सब कुछ बन बैठा है ।" तब तक तुम यह पता लगाने की कोशिश करना कि इस मकान में जो लोग रहते थे, वे कहां चले गये ।" अर्थात् इस घर में आपसी सम्बन्धों को जीने वाले लोग एक मुखौटा लगाए हुए जा रहे हैं, "वे लौटे तो कहां जायेंगे ?" अर्थात् जीवन का जो ढर्रा बन गया है उसे अब तोड़ने की भी कोई इच्छा नहीं है, या साहस नहीं है कि अपने नकाबों को उतार कर वे वास्तविक रूप में जीयें ।

अन्त तक आते-आते यह अनुभूति प्रवेगीय चढ़ाव उतार में सघन होती जाती है । अन्त में स्त्री को सुनाई देने वाले वाक्यांश अपने में एक पूर्ण अनुभूति के प्रतीक हैं, ऐसी अनुभूति के जो पात्रों के निजी उद्वेलन से उपजी है और जिसे उन्होंने इस घर में, पारस्परिक सम्बन्धों में अनुभव किया है । सूत्र कथनों में नाटक की मूल संवेदना को हम तक सम्प्रेषित करने की शक्ति बने तो है पर निःसन्देह यहां अनुभूतियों की वैसी सघनता नहीं है, जैसी

कि 'आधे-अधूरे' में है । पूर्ण आयोजन में रंग बिम्बों का जो रंग इकाइयां उभरता है, उससे हमारी संवेदना प्रभावित होती है और एक अनुभव के स्तर पर गहराई से भावक को सक्रिय भी करती है । नाटकीयता यहां 'आधे अधूरे' की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि यहां पर पात्रों का मनःस्थिति, के विश्लेषण के लिए नाटक को विस्तार नहीं दिया गया है ।

नयी परम्परा के नाटक

चर्चित नाटकों की नाटकीय संवेदना जिस प्रच्छन्नता का निर्वाह करता है, या जिस रचनात्मकता को पोषित करता है वह 'तीन अपाहिज' तथा 'नवरंग' में संकलित कुछ नाटकों की संवेदना के स्तर से नितान्त भिन्न है । यहां नाटककार कथा, कहानी, पात्र आदि उपकरणों के माध्यम से अपने उन बिम्बों को, रंग इकाइयों को व्यंजित होने के लिए कथा और पात्रों का या शेष नाटकीय उपकरणों से एक प्रकार का सहारा देता है, जिससे नाटकीय संवेदना को हम भिन्न स्तरों पर अनुभव करते हुए उसकी गहराई तक पहुंच सकते हैं । कथा जो देनेमें असमर्थ होती है, वह पात्र दे देते हैं और पात्र जो देने में असमर्थ होते हैं वह उनके आपसी टकराव और व्यवहार से प्रच्छन्न बिम्ब देने में कार्यशील होते हैं, इस तरह एक पूर्ण नियमित आयोजन अलंकृत रूप में हमारी अनुभूतियों को नाट्य क्षेत्र की सूक्ष्म अनुभूतियों से परिचित करवा कर हमारी संवेदना को नाटकीय संवेदना के सम्प्रेषित अर्थों तक खींच लाता है । किन्तु नया नाटक अनुभव की जटिलता में इस परम्परा और रूढ़ियों का परित्याग कर देता है । वह विघटित संत्रास को ('आधे -अधूरे' की तरह) एक रेखीय सन्दर्भ देकर कथा और पात्रों के माध्यम से संवेद्य जगत के निकट लाने की अपेक्षा (तीन अपाहिज' के नाटकों की तरह) संवेद्य अनुभवों को प्रक्षेपण द्वारा विपरीत प्रवाहों में प्रस्तुत करता है । जटिलताओं की तीखी अनुभूतियों के अभिव्यंजना क्षेत्र में कहानी और पात्र की अर्थहीनता स्पष्ट हो जाती है । एक रेखात्मक सन्दर्भ में जीवन की संश्लिष्टता को देख पाना कठिन हो जाता है, क्योंकि इस रूप में हम वास्तविकता को एक व्यवस्था में देखते हैं, किन्तु वह देखना इसलिए अधूरा लगने लगता है, क्योंकि पूर्ण जटिल अव्यवस्था या विसंगति के निश्चित कारणों को देना सहज नहीं होता । विसंगति, चाहे वह सामाजिक स्तर की हो या वैयक्तिक स्तर की, किसी एक कारण की देन नहीं होती,

पर पूर्णरूप से बहुमुखी उद्वेलन, विघटन और संत्रास की देन होती है । चरित्र या मन:स्थितियां उन्हें सही-सही दिखा सकने में पाठक या प्रेक्षक को विभ्रमित कर देती हैं । किसी जटिल या ठोस स्थिति का सामना करने के लिए नाटककार गंभीर से गंभीर होने का प्रयत्न करेगा, प्रतीकों से उस यथार्थ को वाणी देने का प्रयास करेगा या भावना के विशाल जगत से व्यक्ति के उलझाव को प्रस्तुत करेगा, पर बहुत सम्भव है उस विवेचन में वह रूप पलायित हो जाये और गलत या सही स्थिति बदल कर कुछ दूसरा ही रूप ले ले । आज के अनुभव की जटिलता यदि ऐसी है कि उसे सुलझाकर, अलग-अलग नहीं रखा जा सकता तो परम्परा और रूढ़ियां, चाहे वह नाटकीय रूप (फ़ार्म) के सन्दर्भ में हों या भाषा के सन्दर्भ में उसे अभिव्यक्ति देने में असफल होने लगेगी । उसे अभिव्यक्ति देने के लिए या तो नाटककार नाटक के स्वरूप (फ़ार्म) को जटिल से जटिलतर बनाता जायेगा या फिर भाषा में व्यक्त करने के लिए भाषा को विभिन्न अलंकरणों से सजाता जायेगा और इस तरह अनुभव इतने विश्लेषित हो जा सकते हैं कि वे अपनी सघनता और गूढ़ता को खो दें । तब ऐसा लगेगा कि जो कहा जाना था, वह तो कहा ही नहीं गया है । यदि जीवन की ठोस स्थितियों का सामना यथार्थत: करना है, उस यथार्थ को व्यापक अनुभूति के रूप में सम्प्रेषित करना है तो प्राचीन रूढ़ियों को छोड़ना होगा । तब संश्लिष्ट अनुभवों को बहु आयामी व्यापकता में प्रस्तुत करने के लिए ऐसी शैलियों को लेना होगा जो कारणतत्त्व रूप में अभिव्यक्त होने की अपेक्षा आदिम अनुभवों को स्पर्श कर सके । इसके लिए निश्चय ही नाटककार को किसी एक स्थिति की छोटी व इकाई से ही आरम्भ करना होगा, क्योंकि "किसी छोटी मामूली-सी घटना से आरम्भ कर नाटक में हम समाज की स्वाभाविक हरकतों को ढूंढ़ सकते हैं और साथ ही उस स्थिति के उपयुक्त शब्दों को बटोर सकते हैं[1] ।"

यहां आकर नाटककार एक ऐसी भाषा की खोज करता है जो कि किसी एक संकेत में तनिक मोड़ दे देने से कई अर्थों को व्यंजित करने लगे । देखा जाय तो मनुष्य जिन प्रतीकों में सोचता है, या अपने को अभिव्यक्त करता है उनमें वस्तुओं और

---

१ विपिन अग्रवाल : 'तीन अपाहिज', पृ० २२३

स्थितियों में कोई तार्किक सम्बन्ध नहीं होता । प्रयोग से केवल एक सन्दर्भ में एक स्थिति में उसके अर्थ को निर्धारित कर लिया जाता है । समाज और देश के नग्न चित्र को साहसिकता से प्रस्तुत करने के लिए आज नाटककार, प्रयोजनीय और तार्किक भाषा का अतिक्रमण कर मानवीय अनुभवों के मार्मिक स्तर तक पहुंचा सकने की क्षमता रखने वाली भाषा को अपना रहा है । साधारण भाषा हमारे अनुभवों को छिपाने में सहायक है, व्यक्त करने में नहीं । संश्लिष्ट अनुभवों को जटिलता से व्यक्त करने के लिए नाटककार नयी भाषा की खोज करता है । अपनी खोज में नया नाटककार भाषा को रचनात्मक स्तर पर बोलचाल की भाषा और हरकत की भाषा से जोड़ता है । क्योंकि वह मानता है कि "बोलचाल की भाषा और हरकत चूंकि सब दर्शकों की पूंजी है 'अतः' उनकी मुठभेड़ से जटिलता उत्पन्न की जा सकती है"[1] हरकत और शब्द दो विभिन्न स्तरों पर किसी देश,समाज या जाति के अनुभवों को व्यक्त करते हैं,उनकी आन्तरिक स्थिति,जो बाह्याडंबर और शब्दाडम्बर में प्रच्छन्न हो जाती है,इन दोनों स्तरों पर जानी जा सकती है । जो हम हरकत से व्यक्त कर सकते हैं,वह शब्द से नहीं और जो शब्द से अभिव्यक्त हो सकता है, वह हरकत से नहीं । दोनों का परस्पर टकराव शब्दों के प्रयोग के कई अर्थों को खोलता है । जो सामने है ,जो सामने नहीं है और जो सामने तो है, पर रूप बदले हुए है । इन तीनों स्तरों पर हरकत और शब्दों का व्यापार कार्य कर उस वास्तविक भाव का उद्घाटन करता है । इस तरह एक पूर्ण अनुभव, जिसे खंडित नहीं किया जा सकता और परम्परित रूप में देखा भी नहीं जा सकता, के के यथार्थ को ढोने की क्षमता इस असम्बन्धित भाषा में है, पर यह दुहरी नहीं,जटिल भाषा है,जिसके द्वारा आज के जीवन को अत्यधिक जटिलता को, जटिल होते अनुभवों को, मर्म से स्पर्श कर व्यक्त किया जा सकता है ।

भाषा को अनुभव की जटिलता के अनुरूप गढ़ने के साथ ही इन नाटकों में प्रभावों की रूढ़ियां भी बदल गई हैं । पहले नाटककार पाठक या प्रेक्षक को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करता था कि जो भी वह प्रस्तुत कर रहा है, या अपनी संवेदना

---

१ विपिन अग्रवाल : 'तीन अपाहिज',पृ० २१८

को जिस रूप में सम्प्रेषित कर रहा है, उसकी सम्भाव्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह व्यक्ति जीवन का एक संश्लिष्ट अनुभूति है । अपने बिम्बों को विश्वसनीय बनाने के लिए हमारी कल्पना को इसप्रकार क्रियाशील करता है कि एक के बाद एक सूत्रों का अनुसरण करते हुए भावों के नैरन्तर्य में उस प्रस्तुति को हम यथार्थत: ग्रहण कर लें । किन्तु आज नाटककार इस रूढ़ि को अस्वीकार कर चलता है । इन नये नाटकों में नाटककार अपने को एक अलग इकाई मानकर प्राप्त किए गए अनुभवों को उपेक्षित कर, स्वयं को समूह के सदस्यों की दृष्टि से देखने का प्रयत्न कर चला है, और इसतरह वह अपने समूह या उसके सदस्यों की वास्तविक स्थिति का साहसिक चित्रण प्रस्तुत करता है । परिणामत: अनुभवों के निरन्तर संचरण की अपेक्षा वह प्रभावपूर्ण प्रक्षेपण द्वारा नाटकीय प्रत्युत्पन्नमति को निर्मित करता है । तात्पर्य कि अनुभव की समग्रता क्रमबद्धता का निर्वाह नहीं कर पाता है, छोटे-छोटे प्रभावों में इस तीखेपन से नाटककार द्वारा नियोजित है कि उनका मुठभेड़ सीधे हमारी अनुभूतियों से होकर इस तीसरे अर्थ को व्यक्त कर जाता है । अलक्ष्य रूप में यह प्रत्युत्पन्नमति कल्पना के बिखराव सदृश्य लग सकती है, किन्तु उसकी चुभन आकस्मिकता लिए होती है । नाटककार दो विचारों, आवेगों, जो कि परस्पर विरोधी और एक दूसरे के समकक्ष अस्त-व्यस्त लगते हैं, को जोड़ता है, इस विलक्षण सान्निध्य के सम्बद्ध सूत्रों में ही वह नाटकीय विशेषता व्याप्त रहती है । यदि भावक की कल्पना सक्रिय हो और विचारों के महत्वपूर्ण आरम्भ का अनुसरण कर सके तो इस सम्बद्धता द्वारा सम्प्रेषित विनिमय का उद्देश्य अन्तत: स्पष्ट होने लगता है । इनके मध्य कुछ ऐसी विरोधी तरंगें रहती हैं, जिनके आपसी टकराव में सम्प्रेषित विनिमय कौंध-सा जाता है और जैसे एक झटके से उस मूल संवेदना के निकट हम पहुंच जाते हैं । अभिव्यक्ति के स्तर पर नाटककार के पास एक ठोस अनुभव है या एक स्थिति है, जो अनेकानेक विसंगतियों, गुमराह मनोवृत्तियों, भ्रष्टाचार, चरित्रहीनता सत्य से दूरी आदि का समूह पुंज है, जिसे वह व्यंग्यात्मक रूप में हास्यास्पद बनाकर प्रस्तुत करता है । बाह्य ऊलजलूलता या हास्यास्पद भौंड़ी हरकतों और भाषण के नीचे प्रवाहित अनुभव आज के जीवन की त्रासदी को महत्वपूर्ण रूप में उभारते हैं । कभी लगता है कि नाटककार ने कुछ प्रसंगों को शिथिलता से अनुबद्ध किया है पर वस्तुत: वह चुने हुए अनुभवों का अति सावधानी से अन्तर्गुम्फन है । सारा

आयोजन एक स्थिति का है, नाटक में परिव्याप्त प्रवेश की आकांति भी उस एक स्थिति से विकसित है और उससे प्रभावित विरोधी तरंगें भी। इस तरह मूल रूप में ये नाटक संवेदना के स्तर पर कहीं अधिक सूक्ष्म और तीक्ष्ण अनुभूति देते हैं, जिसे नाटककार ने स्वच्छन्द रूप में नये नाट्य रूप में निबद्ध किया है।

'ऊसर' -- भुवनेश्वर

भुवनेश्वर के नाटकों को दो स्तरों पर रखा जा सकता है। कुछ नाटकों में एक पूर्ण अनुभव को एकसूत्रता और आन्तरिक क्रमबद्धता में नाट्य रूप दिया गया है, किन्तु यह क्रमबद्धता भी परम्परा से अलग है। 'श्यामा : एक वैवाहिक विडम्बना', 'प्रतिभा का विवाह' जैसे नाटकों में जीवन या समाज की अस्तव्यस्तता का प्रस्तुतीकरण नहीं है, पर किसी एक समस्या का सच्ची और निर्मम बौद्धिकता से नाटकीय रूपान्तर है। पूर्ण आयोजन में संचरित अर्थ बिम्ब हमारी भावुकता पर सीधे चोट करते हैं और बिना किसी रूमानियत के नाटकीय तनाव को आन्तरिक रचना से सम्बद्ध कर उसे विशिष्टता प्रदान करते हैं। इस कारण यद्यपि प्रभाव सूत्रों के संचरण में या उनको ग्रहण करने में कोई विशिष्टता नहीं है, पूर्ण संयोजन में निहित तनाव अपने वैशिष्ट्य में ग्रीक त्रासदी के निकट का लगने लगता है। जहां आरम्भ से ही हमें अनुभव होने लगता है कि ऐसा होने वाला है, पर पात्र अन्त तक अपने प्रयत्न को जारी रखते हैं और अन्त में वही होता है, जिसकी सम्भावना प्रारम्भ में होती है। इसतरह भय और करुणा सशक्त रूप से पूर्ण नाटक का निर्देशन करते हैं। चरम सीमा तक आते-आते सम्प्रेषण में करुणा का भाव आधिक्य पा लेता है, ऐसी करुणा जो व्यक्ति की त्रासदी से उत्पन्न होती है। 'ऊसर' और 'तांबे के कीड़े' में भुवनेश्वर ने त्रासदी की इस भावना को प्रत्यावर्तित रूप में केवल संवेदना के स्तर पर नये रूप में प्रस्तुत किया। 'ऊसर' में इस नवीनता का एक प्रकार से प्रयोग है और 'तांबे के कीड़े' में वह परिपक्वता प्राप्त करता है। राजकमल चौधरी का 'भग्न स्तूप के उदात्त स्तम्भ' संवेदना की प्रस्तुति के स्तर पर इन नाटकों के निकट है। इनमें किसी एक समस्या की अनुभूति को नहीं लिया गया है, पर पूर्ण अनुभव को, जो कि अस्त-व्यस्त समाज की पीड़ा और अन्तर्व्यथा को गहरे स्तर पर भोगे जाने का परिणाम है, विरोधी तरंगों के टकराव से उत्पन्न शक्ति में व्यंजना के स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण प्रत्येक अर्थ बिम्ब जो हम तक सम्प्रेषित होता है, एक पूर्ण अनुभव

की संश्लिष्ट संवेदना है । नाट्य संयोजन में कुछ प्रभाव है जो बाह्य रूप से शिथिल संयोजन की अनुभूति देते हैं पर उनकी संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति के कारण अर्थगत सम्प्रेषण तीखी चोट में नये अर्थ बिम्बों का निर्माण कर जाते हैं । 'ऊसर' में गृहस्वामी के इस कथन में '... मैं कहता हूं कि आने वाला जैनरेशन चाहे वह छिपकलियों का हो या सर्पों का हमसे अच्छा होगा... हमसे ' प्रवेगमय तरंगों का उतार-चढ़ाव, उसमें अन्तव्याप्त आक्रोश जो एक पूर्ण अनुभव का परिणाम है, सम्पूर्ण क्रियाशीलता की विसंगति के विरुद्ध मानसिक स्तर का है, पूर्ण नाटक के किसी भी एक प्रभाव वृत्त से सम्पृक्त होकर इस अर्थ बिम्ब की गहनता को पोषित करता है । व्यंजना की इन तरंगों में नाटककार चतुरता से अपनी पीढ़ी के पूर्ण जीवन की निष्क्रियता, विद्रोहहीनता, आपसी सम्बन्धों की जड़ता में जीते जाने की कायरता और आन्तरिक ऊब को 'हमसे अच्छा होगा... हमसे' के अर्थ सम्प्रेषण में अत्यन्त सशक्त रूप से व्यक्त करता है । 'हमसे'... 'हमसे' के दबाव में यह शब्द व्यक्ति के जड़ आक्रोश पर व्यंग्य करता है । यह व्यंग्य अन्त में एक साधारण खेल के पूर्ण प्रभाव के अर्थबिम्बों में विश्लेषित होकर हमारी संवेदना को अस्तव्यस्त रूप में क्रियाशील कर जाता है ।

'तांबे के कीड़े' -- भुवनेश्वर / यह नाटक प्रस्तुति में अपेक्षाकृत जटिल हो जाता है । अस्त-व्यस्त जीवन को ज्यों-का-त्यों नाटक में प्रस्तुत कर व्यक्ति की वास्तविक त्रासदी को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य दिया गया है । उत्तेजना कहीं नहीं है, आक्रोश कहीं नहीं है, एक ठंडापन है जो कचोटता है भावक को उद्वेलित करता है, उसकी विडम्बनीय स्थिति का दिग्दर्शन कराकर चिन्तित छोड़ जाता है । जो वास्तव में गम्भीरता की बात है, उसको हास्य के आवरण में प्रस्तुत कर नाटककार शाक देने की भांति नाटकीय संवेदना को भावक की संवेदना में परिवर्तित करता है ।

"रिक्शे वाला : बादलों ने सूरज की हत्या कर दी, सूरज मर गया । मैं दूसरे का बोझ ढोता हूं । मेरे रिक्शे में आइने में लगे हैं । मैं आइने में अपना मुंह देखता हूं । सूरज नहीं रहा । अब धरती पर आइनों का शासन होगा । आइने अब उगने और न उगने वाले बीज अलग-अलग कर देंगे ।

थका अफ़सर : मैं एक थका हुआ अफ़सर हूं, (ऊंघा हुआ सा) मैं बहुत थक गया हूं । अंधे कुएं ... मैं... जैसे एक-एक करके चीज़ें जमा हो जाती हैं । कुएं का छोर ... मरी हुई सूखी बिल्ली ... बच्चे का जांघिया...टूटा कनस्टर ... वैसे ही ... वैसे ही थकान मेरे अन्दर जमा हो गई है । एक अवसाद और थकान ।

रिक्शे वाला : (तेजी से) आह, अफ़सर । आगे देखकर चलो । (टकरा जाता है) आह तुमने मेरा एक आइना तोड़ दिया ।

(अनाउन्सर हंसती है-- झुनझुना बजाता है)

: स्त्री की आवाज़ :

: साधारण और अलसाई मैं ऊब गई हूं । मेरा मन उचट गया । मैं सारा संसार मथूंगी, अपने अन्दर-बाहर सब मथूंगी । लेकिन चुपके से जैसे किसी को मालूम न हो ।

(कुछ रुककर -- जैसे किसी ने कुछ कहा-- एक धीमा स्वर "कितनी प्यारी है तुम्हारी हंसी ... चांदनी सी ... ।")

एक-के-बाद-एक विरोधी बिम्ब तीव्रता से मस्तिष्क में तीखी चुभन के साथ समाते जाते हैं और पूर्ण नाटक की अनुभवजन्य संवेदना अव्यवस्था या कैऑस के माध्यम से लक्ष्य और अलक्ष्य को भेदती चलती है । सूक्ष्म अन्तरालों के बीच हमारी संवेदना को प्रतिक्रिया के लिए प्रेरित किया जाता है और सम्पूर्ण विरोध को रंग इकाइयां हमें व्यापक धरातल से जोड़ जाती हैं,क्योंकि उनके कथनों से निर्मित होते अर्थ बिम्ब किसी एक बिम्ब को विकास देने वाले भी नहीं हैं,पर उनका सन्दर्भ अलग है । उनका सम्प्रेषण इस प्रकार झकझोरता और उद्वेजित करता है कि हमारी संवेदना अस्त-व्यस्त हो जाती है और हम अपनी मानसिक स्थिति के प्रवाह को समझ नहीं पाते हैं कि वस्तुत: वह किस दिशा का अनुसरण कर रहा है । रिक्शेवाले के पूर्ण प्रभाव सूत्र को व्याख्यायित करने से पूर्व ही थके अफ़सर की भोगी गई अनुभूति व हमें उद्वेलित करती है और इसी बीच अनाउन्सर का हंसना और स्त्री का स्वर प्रत्यावर्तित रूप में हमें दूसरे सन्दर्भों से जोड़ता है । इस

तरह मानसिक असम्बद्धता में समय के आकस्मिक अन्तराल अस्वाभाविक रूप से गुम्फित होकर जो नाटकीय विशिष्टता उत्पन्न करते हैं उसका अर्थ हम व्यापक अनुभवजन्य संवेदना के रूप में ही ग्रहण करने में समर्थ होते हैं । निम्नवर्ग की स्थिति जो निरन्तर सामाजिक अव्यवस्था से पीड़ित होता जाता है, जिसके लिए जीवन की आशा भ्रम उत्पन्न करने वाले आइनों सदृश्य हो जाती है,क्या अफ़सर,जिसके अन्दर की टूटन में अनुभवों का असहनीय अवसाद जमा हो गया है, स्त्री का अपने अन्दर बाहर को मथ कर अपने मन की ऊब को समाप्त करने का संकल्प और एक धीमे स्वर का घिसा-पिटा प्रेम संवाद अनाउन्सर की हंसी के व्यंग्य में उभरते जाते हैं । उसकी हंसी व्यंग्य है, टिप्पणी है और इन सब के वैसा होने की त्रासदी पर करुणा की अनुभूति है ।
इसी प्रकार के अनेक प्रभाव सूत्रों को ग्रहण करने पर पूर्ण नाटक द्वारा जीवन की आन्तरिक विसंगति उसकी त्रासदी हमें कचोटती है, जिसे ताज़ा करने के लिए बहुअर्थक रचनात्मक आयाम देने के लिए नाटककार झुनझुने की भांति बजाकर,भद्दे गीत की भांति गाकर या सुनाकर नाच की उछल-कूद में बदल कर हास्य रूप में प्रस्तुत करता है और भावक इस अनिश्चय में चिन्तनशील होता है कि उसे नाटक का अनुसरण करते हुए कब हंसना चाहिए और कब सूक्ष्म संवेदना के प्रति समर्पण भाव रखना चाहिए । नाटक के अन्त में अनाउन्सर की घोषणा का प्रभाव-सूत्र पूर्ण नाटक को विशिष्ट रूप से संवेद्य बनाता है --

"अनाउन्सर : नहीं खत्म कहां हुआ ? अभी तो दो मिनट रुका एक नाच गाना और है ।... और न जाने इस गाने से अन्त करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है । मेरी समझ में तो पूरे नाटक में कुछ हल नहीं होता । .... इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है, वह हमें खामख्वाह भरम में डाल रहा है । (झुनझुना निकाल कर बजाती है और शर्मीली हंसी हंसती है । स्क्रीन के पीछे से रिक्शेवाला, जो पैर में घुंघरू बांधे हैं, दर्शकों को जोकरों की तरह हंसाने की कोशिश कर रहा है । औरों के खड़े हो जाने पर वह आगे आकर अपना गाना और नाच शुरू कर देता है ।

गाना किसी भी भद्दी लय में गाया जा सकता है और
नाच उछल कूद से अधिक कुछ नहीं है ।)

रिक्शे वाला का गीत - बाबो बोले नाहीं,
बोले नाहीं,
कुंडा बोले नाहीं,
हमसे बोले नाहीं !"

आदि

यह प्रभाव सूत्र अर्थ सम्प्रेषण में परिवर्तित रूप लेता है और हम अनुभव करने लगते हैं कि नाटक कुछ विशेष कह रहा है जो भ्रम नहीं सत्य है, साधारण नहीं विशिष्ट है । अनाउन्सर का यह दोहराना कि"पूर्ण नाटक का उद्देश्य, उसका हल, उसका अर्थ क्या है समझ में नहीं आता" या अन्त में उसका निष्कर्ष कि"पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है " अन्तर्निहित क्रिया और विरोधी तरंगों के कारण विशिष्ट अर्थों की सम्भावना देता है, क्योंकि इन अर्थों की चुभनपूर्ण नाटक को देखने और सुनने के बाद होती है और भावक विमूढ़-सा होकर प्रभाव-सूत्रों की व्याख्या और विश्लेषण करने लगता है । अनाउन्सर का हंसकर नाटक को अर्थहीन सिद्ध करने की चेष्टा व्यंग्य में बदलती है कि नाटककार पूर्ण नाटक में ऐसा कहता है अब चाहो तो स्वीकार कर उसपर विचार करो और नहीं तो उसे बेकार या न्युरोटिक का प्रलाप कहकर हंसी में टाल जाओ, किन्तु इतना निश्चित है वह केवल न्युरोटिक का प्रलाप नहीं है । "इस पूरे नाटक में कोई मतलब नहीं है" अर्थात् हमने जो देखा और सुना है उसके निहितार्थ अत्यन्त गंभीर है ।"... और न जाने इस गाने से अन्त करने में नाटक लिखने वाले का क्या मतलब है ।" अर्थात् इसमें कोई गूढ़ बात व्यंजित है । पूर्ण विषय की गम्भीरता को प्रहसन शैली में समाप्त कर नाटककार आन्तरिक संवेदना की चुभन को तीखा बनाता है । जीवन की विसंगति और आन्तरिक विषमता को भोगते हुए भी व्यक्ति जीवन को जीता है,क्योंकि जीवन ही उसकी विवशता है और विवशता का यह बोध उसकी स्थिति को कितना हास्यास्पद बना देता है, वह रिक्शेवाला के गीत की ऊलजलूलता जो उसकी नृत्य भंगिमाओं की अपेक्षा साधारण उछल-कूद की अपेक्षा करती है, से स्पष्ट हो जाता है । जीवन

में कोई हारमनी या संगति नहीं है, विश्रृंखलता और अव्यवस्था है और इस सारे अस्तव्यस्त माहौल में व्यक्ति के जीने की विडम्बना नाटकीय संवेदना के स्तर पर ध्वनित होकर जीवन की इस संगति और असंगति पर चिन्तन के स्तर की एक व्यापक अनुभूति है, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में उपजे 'एपिक थियेटर' और बाद में 'एबसर्ड रंगमंच' के मूल में भी रहा है ।

'भग्नस्तूप का एक अज्ञात स्तम्भ' -- राजकमल चौधरी / यह नाटक भी 'ताँबे के कीड़े' जैसा व्यापक किन्तु सूक्ष्म और गहरी अनुभवजन्य संवेदना से उपजा नाटक है, जहाँ जीवन की विसंगति उसकी अस्तव्यस्तता और कैऑस जीवन का दर्शन बन जाते हैं । नाटकीय संवेदना में किसी पूर्ण अनुभव के अत्यन्त संश्लिष्ट प्रभाव सूत्र हैं, गूढ़ सांकेतिकता है जो अनेक रंग इकाइयों का गुम्फन है । हास्य की अपेक्षा यहाँ नेपथ्य के विरोध को नाटककार प्रस्तुत करता है । प्रत्येक संश्लिष्ट प्रभाव में अन्तर्निहित विरोधी तरंगें हमें विशिष्ट अर्थ ग्रहण करने को प्रेरित करती हैं ।

" नाटक के लिए इन्हें प्रापर्टी (सम्पत्ति) कहते हैं । बोतलें गिलास, आक्सीजन का पौधा, मोमबत्तियाँ, लकड़ी की दीवार पर काले बोर्ड की बूढ़ी औरतें, यानी उनके जर्जर अंगों की तस्वीरें, चमड़े की जिल्द की किताबें, जिन्हें पढ़ने की मैंने कभी चेष्टा नहीं की, और एक बड़ी दीवार-घड़ी जो १९४७ के बाद बन्द हो गई । ये सारी सम्पत्तियाँ इस नाटक के लिए खरीद कर लाई गई है । कुछ चीजें नकद पैसे देकर, कुछ चीजें उधार ।"

अत्यन्त प्रारम्भ के ये प्रभाव सूत्र प्रवेग के प्रत्यावर्तन में नाटक की संवेदना की चुभन मस्तिष्क में पैदा करते हैं और नाटक की पृष्ठभूमि देश की स्थिति के रूप में सम्प्रेषित होती है ।" एक बड़ी दीवार घड़ी, जो सन् १९४७ के बाद बन्द हो गई ।" का लयात्मक स्वरूप नाटककार की दृष्टि के सन् १९४७ के बाद के भारत को व्यक्त करता है और नाटक में ली गई उधार या खरीद की सामग्री देश के लिए ली गई उधार या खरीद की वस्तुएं बन जाती हैं । पूर्ण प्रभाव के रूप में एक चुभन उभरती है कि

स्वतन्त्रता के बाद देश का रुका हुआ विकास अपने में जर्जरता और निष्क्रियता ही दे पाया है । यदि कुछ उपलब्ध भी हुआ है तो स्वावलम्बन से नहीं ।

किन्तु प्रारम्भ का ही एक अन्य प्रभावपूर्ण नाटकीय संवेदना का भिन्न रूप देता है--

> "नाटक के अधिकांश पात्र नेपथ्य में जाते हैं और रंगमंच पर आते-आते मर मिट जाते हैं । और बाकी पात्र रंगमंच पर जाते हुए भी, नेपथ्य में ही अपनी रात और अपनी नींद गुजारते हैं । पोशाक बदलने के लिए कभी राजाओं और कभी बन्दरों का मुखड़ा पहनने के लिए, कभी भूले हुए अपने संवाद याद करने के लिए नेपथ्य का उपयोग करते हैं ।"

दोहरे स्तर पर सम्प्रेषित यह प्रभाव एक ओर तो जीवन की आन्तरिक त्रासदी को व्यंजित करते हुए उसे दार्शनिक स्तर देता है, दूसरी ओर यथार्थ का अत्यन्त ताजा प्रभाव प्रस्तुत करता है ।"... अधिकांश पात्र नेपथ्य में जाते हैं और रंगमंच पर आते-आते मर मिट जाते हैं" में 'नेपथ्य' शब्द जीवन के संघर्ष का बोध देता है और 'रंगमंच' शब्द सफलता का । तात्पर्य कि जीवन के संघर्ष में उलझे व्यक्तियों में से अधिकांश सफलता प्राप्त करने से पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं ।" बाकी पात्र रंगमंच पर जाते हुए भी, नेपथ्य में ही अपनी रात और अपनी नींद गुजारते हैं ।" के अर्थ सम्प्रेषण में आगे का एक अन्य अर्थ बिम्ब "अनुभव ही मेरा नेपथ्य है । क्योंकि, नेपथ्य से उभरते हुए स्वर रंगमंच पर आकर तस्वीरें बन जाते हैं ।" समाज के यथार्थ की अनुभूति देता है और जीवन संघर्ष में सफलता-असफलता के पहले प्रभाव को सम्पोषित करता है ।'नेपथ्य' दूसरे प्रभाव सूत्र में समाज का वह आन्तरिक पर्दा बन जाता है जिसे भोगते सब हैं, पर कहता कोई नहीं, उस भोगे जाते क्षणों में व्यक्ति वह सब होता है, जो कि सामने अर्थात् 'रंगमंच' पर नहीं होता । "नेपथ्य से उभरते हुए स्वर रंगमंच पर आकर तस्वीरें बन जाते हैं" पुन: जीवन संघर्ष का अर्थ ग्रहण करने को प्रेरित करता है । 'नेपथ्य' और 'रंगमंच' शब्द ऐसे हैं जो कि प्रसंग को विशिष्ट रूप से नियोजित होने पर नाटक की संवेदना की चुभन को ताजा करते हैं कि हम वास्तविक जीवन में जो होते हैं बाह्य जीवन में वह नहीं रहते पर व एक मुखौटा लगाए हुए रहते हैं । किन्तु ऐसा भी तभी सम्भव होता है, जब कि जीवन

संघर्ष में विजयी होकर हम स्वयं को [illegible] कर लेते हैं ।

पूर्ण नाटक में प्रस्तुत संश्लिष्ट अनुभव सूत्र यथार्थ के स्तर पर देश और समाज की अस्तव्यस्तता को उसकी पीड़ा, टूटन और पराजय को अभिव्यक्त करते हैं । संवेदना के निरन्तर प्रवाहित सूक्ष्म बिम्ब जो हमारी अर्थ ग्राह्य चेतना को अस्त-व्यस्त कर तथा दो स्थितियों के बीच के सम सूक्ष्म अन्तराल को प्रस्तुत कर उद्वेजित करते हैं, समग्ररूप से एक ऐसे देश, समाज और व्यक्ति की स्थिति को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें महाबला जैसे परम्परा के प्रेमी हैं, पर जो खण्डित, जर्जरित होते प्राचीन के मोह में सत्य को नहीं पहचानते, या देखने का प्रयास नहीं करते, हारा बाई से हारा देवी हो जाने वाली स्त्रियां हैं जो अपनी परिणति में पत्थर हो जाती हैं, जयदेव के विद्रोही स्वर हैं जो रंगमंच पर आने से पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं और है मसीहा, शायद व्यक्ति का धर्म ।

'अपना अपना जूता' -- लक्ष्मीकान्त वर्मा / लक्ष्मीकान्त वर्मा के इस नाटक में प्रस्तुति का ठंडक नहीं है और न ही वहां प्रहसन तथा अतिनाटकीयता के समन्वय के मध्य के अंतरालों को भावक की संवेदना शक्ति या कल्पना तरंगों में व्याख्यायित होने के लिए छोड़ा गया है, पर यहां एक तीखापन है, आक्रोश है और सारी व्यवस्था पर कटु व्यंग्य है । व्यंग्य की कडुवाहट हमें तिलमिला देती है, छोटे-छोटे प्रभाव सूत्रों में निहित रंग बिम्ब हमें कचोटते हैं, उलझाते हैं । मानसिक स्तर पर उद्वेलित करने वाला पूर्ण सम्प्रेषण शारीरिक प्रतिक्रिया को भी प्रभावित करता है अपने कल्पित रंगमंचीय उद्देश्य को पूरा करने के लिए वर्मा जी किसी भी अस्तुचित अथवा अतिरंजित आवेग को लेने में संकोच नहीं करते हैं और इसी कारण पूर्ण नाटक के लक्ष्य के सन्दर्भ में ही इस अतिशयता का मूल्यांकन किया जा सकता है ।

समाजवाद, रामराज्य, प्रशासकीय व्यवस्था, आदि पर तीखा व्यंग्य है और अन्त में आक्रोश की परिणति 'रामराज्य को लाना है, अक्लमन्द कहलाना है, सबका जूता अपना जूता, अपना जूता सबका जूता' कटु व्यंग्य से भरे नारे में होती है । नाटकीय संवेदना की अनुभूति कहीं एक पूर्ण प्रभाव सूत्र में है --

"डिगा : क्योंकि उन सबने वहां पहुंचकर उस सिपाही की पगड़ी को डंडे पर से उतारा फिर उसमें कुछ डाल दिया था ... मैं देख रहा था... जब वे चले गये... तब उस

सिपाही ने अपनी पगड़ी उठाई और चला गया...

छिगी : क्या रौशनी उसकी पगड़ी में छिप जाती है...

छिगा : हाँ... छिप जाती है ... रौशनी हमेशा पुलिस की पगड़ी में छिप जाती है ।"

धुवें का सम्प्रेषण इस प्रभाव की व्यंजकता में गहरा हो उठता है, जिसे नाटककार ने आन्तरिक तीव्रता में रखा है । छिगा के कथन में प्रवेग ठहराव लिए हुए है और प्रत्येक ठहराव पर रंगबिम्ब को शक्ति मिलती है । छिगा और छिगी के संवाद में लय की भिन्नता, उत्सुकता और आक्रोश की रंगक्रियाओं के कारण प्रशासकीय अव्यवस्था की विसंगति का कटु यथार्थ हमारे गले से उतरने लगता है । सिपाही की पगड़ी में रौशनी अर्थात् धन का रखा जाना और सिपाही का चुपचाप उसे उठा लेने का अर्थ सम्प्रेषण रहस्यात्मक ढंग से होता है और अनुभव की एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति में एक तीखा प्रभाव निर्मित होता है । "जब वे चले गये... तब उस सिपाही ने अपनी पगड़ी उठाई और चला गया" अर्थात् वह प्रत्यक्षत: रिश्वत नहीं लेता है पर इस चालाकी से लेता है कि लेने और देने वाले के अलावा कोई नहीं जान पाता । "हाँ... छिप जाता है" प्रवेग की गम्भीरता इस सत्य की स्थापना करती है और "... रौशनी हमेशा पुलिस की पगड़ी में छिप जाती है" भ्रष्टाचार के प्रति तीव्र आक्रोश को व्यक्त करती है । व्यंजकता में "हमेशा" शब्द संवेदनीय स्तर पर सूक्ष्मता लेता है ।

साधारण लगने वाले ऐसे अनेक प्रभाव सूत्र नाटक में बिखरे पड़े हैं जो प्रवेग की तीव्र और मध्य ताल से सम्प्रेषण को तीखा और अनुभव को प्रतिक्रियावादी बनाते हैं । कुछ सूत्र कथन हैं जो पूर्ण संवेदना को चुभन को तीखा बनाते हैं : "थैली मेरी है ... क्योंकि जिसकी है, वह सो रहा है" तर्क से प्रभावित है और इसी रूप में उसका बिम्ब व्यक्ति की नैतिकता, उसकी चोर प्रवृत्ति, दूसरे की असावधानी में उसके माल को हड़प जाने की ललक, पूर्ण समाज की भ्रष्टाचारी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है । बात साधारण रूप से कही गई है, किन्तु उसकी सरलता ही उसकी शक्ति बन जाती है । ऐसे ही "दुनियाँ साली सोते में भी जागती है ।", "कितना बेवकूफ था । समझता था दुनियाँ की हर चीज़ की जगह जो संसार बनने के दिन बनाई गई थी, वह अन्त तक चलेगी ।" , "ईमानदार बने रहने में भी मुसीबत है," "जान बूझकर गंवाना अक्लमंदी

है, 'सत्य' , 'अहिंसा', 'न्याय', 'भूदान', 'रामराज्य', 'सबका जूता अपना जूता' आदि अनेक बिखरे हुए सूत्र हैं जो लय के प्रत्यावर्तन में मस्तिष्क में घुमते हैं, उत्तेजित करते हैं, नारे देते हैं । ये प्रत्येक विशिष्ट अनुभव के संश्लिष्ट विचार है और अपनी संश्लेषण प्रवृत्ति के कारण ये सभी सूत्र एक पूर्ण अनुभव की संवेदना में अन्तर्व्याप्त रहकर प्रभावोत्पादक रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

'तीन अपाहिज'
-- विपिन अग्रवाल

'तीन अपाहिज' संग्रह के सभी नाटक देश एवं समाज की विसंगतियों, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था या मूल रूप से स्थितियों की अनर्थकता तथा ज़िन्दगी के तनाव और उसके टकराव का चित्रण भिन्न स्तरों पर करते हैं । देश और समाज की तनावपूर्ण स्थितियों से उद्वेलित होकर लेखक जब कुछ लिखना चाहता है तो ये सारी असंगतियां जैसे उसके दाएं-बाएं आकर खड़ी हो जाती हैं । अनुभूतियों के इस घेराव में कोई एक अनुभव नहीं है, पर एक व्यापक अनुभवजन्य संवेदना है, जिसे घुमा-फिराकर लेखक विभिन्न प्रकार से किन्तु उलझनाहीन रूप में अभिव्यक्त करता है । व्यापकता के कारण इस संवेदना का विशेष सम्बन्ध शहरों के निम्नवर्ग से है, जिनकी चेतना-संवेदना का सरोकार रोज़मर्रा के सन्दर्भों, स्थितियों और तनावों से होता है ।

'तीन अपाहिज' नाटक में नाटककार के सामने एक मुख्य बिम्ब है, व्यापकरूप से व्यक्ति-समूह में घर कर गये अपाहिजत्व का । यह निष्क्रियता या एक प्रकार का मानसिक रोग राजनीति में है, समाज में है, वातावरण में है और सबसे अधिक व्यक्ति में है । जीवन का तनाव या उलझाव नाटकीय व्यापार में तो व्यक्त नहीं किया जा रहा है पर उस उलझाव की अभिव्यंजना के स्तर पर अनुभवों में देखागया है जो किन्हीं विरोधी तरंगों में सहसा स्पर्श(बिम्ब) कर जाते हैं ।

'लल्लू : भाषण हो रहा है । भाषण... (मन ही मन मुस्कुराता है) ... भाषण... (मानो इस शब्द का उच्चारण करना उसे अच्छा लग रहा हो ।)

कल्लू : चुप रहो ।

(भाषण की ध्वनि तेज हो जाती है, '... अब हम आज़ाद हो गये हैं, गुलामी की जंजीरें हमने तोड़ डाली हैं ...)

सल्लू : कल्लू !

कल्लू : हां ।

सल्लू : हम कब आज़ाद हुए ?

कल्लू : यही टिल्लू की उम्र समझ लो ।

सल्लू : कोई दस साल का होगा , कुछ ऊपर ।

कल्लू : और क्या ।

सल्लू : तो आज़ाद अभी बच्चा है । हम बच्चा कैसे बन सकते हैं ।

गल्लू : आज़ाद बच्चा नहीं, देश है ।

कल्लू : अपनी क़िस्मत से ।

(सब इसको मान लेते हैं । फिर भाषण सुनने लगते हैं । '... अब हमें काम करना चाहिए । खाली हाथों नहीं बैठना चाहिए । हमारे प्रधानमंत्री का कहना है -- आराम हराम है ।...)

सल्लू : आराम हराम है, यह कौन है कल्लू ?

कल्लू : तुम ।

सल्लू : मैं ! (आश्चर्य से महत्व पा प्रसन्न भी)"

सल्लू,कल्लू और गल्लू बिलकुल दूसरे ढंग से भाषण के प्रति प्रतिक्रिया करते हैं । स्वयं तक सीमित उनकी टिप्पणियां जो कि भाषण के एक-एक अंश का अनुसरण करती हैं,केवल भाषण की व्यंग्यात्मक आलोचना है और जो भाषण में कहा जा रहा है वह एक प्रकार से इस व्यक्ति समूह पर टिप्पणी है । दोनों का एक-दूसरे पर आलोच्य दृष्टिसमूह और नेता वर्ग के अपारिचितत्व का सशक्त प्रभाव देती है ।"भाषण हो रहा। भाषण" एक तीखा व्यंग्य है कि हो रहा है तो होने दो, जैसे रोज़ की कोई बकवास हो या अनचाहा, अप्रिय उपदेश हो । सल्लू के मन-ही-मन मुस्कुराने में इस सारे आडम्बर से उत्पन्न तनाव की व्यंजना होती है । व्यंजना की इस तरंग में नाटककार नाटकीय चतुरता से आज़ादी के दस वर्षों की उपलब्धि को सशक्त प्रभाव में निर्मित कर देता है । भाषण की अलंकृत पद्धति और सल्लू,कल्लू की अत्यन्त साधारण

बोलचाल की भाषा "टिल्लू की उम्र समझ लो," "कोई दस साल का होगा, कुछ ऊपर" विरोध का सशक्त प्रभाव बनाते हैं । सल्लू, गल्लू का विभिन्न भाषण के अर्थों को एक झटके से सारहीन सिद्ध कर हमारे आवेगों को पूर्ण अनुभव के अ त्राउद अंश तक ले जाता है कि आज़ादी के इतने वर्षों की हमारी उपलब्धि यही है कि आज भी 'हम आज़ाद हो जाने, 'गुलामी की जंजीरें तोड़ने' और 'आराम हराम है' की बातें करते हैं । भाषण की चूंकि ध्वनि ही सुनाई देती है इसलिए उसके सम्प्रेषित अर्थ को, प्रयोग के भिन्न अलंकृत माध्यम के कारण हम गम्भीरता से ग्रहण करते हैं, किन्तु अपने पूर्ण प्रभाव में यह सूत्र हमारे किसी आवेग मात्र को ही उद्वेलित नहीं करता, पर हमारे अन्दर एक अधूरापन या तनाव सा भर जाता है, जो नाटककार की उपलब्धि है । भाषण और उसका यह विश्लेषण गूंजता हुआ हमें इस अभाव की तीखी अनुभूति देता है ।

"सल्लू : तुमने बहुत बड़ा काम किया है ।
गल्लू : तुम्हारे लिए आराम हराम है ।
सल्लू : आज़ाद देश के तुम दोस्त हो ।
(गल्लू कुछ नाराज़ होकर सल्लू की ओर देखता है। सल्लू 'दोस्त' शब्द का प्रयोग करने की गलती को महसूस कर हाथ से मुंह दाब लेता है ।)
गल्लू : अब धरती से धने निकलेंगे । (पुरानी बात पर वापस आते हुए)
सल्लू : हां निकलेंगे ।
गल्लू : धरती मां है ।
(तीनों हंस पड़ते हैं ।)"

यह प्रभाव सूत्र दूसरा ही अर्थ देता है, जिसका प्रथम से कोई सम्बन्ध नहीं है । सल्लू की हरकतों से व्यंजित कटूक्ति बताती है कि वह 'दोस्त' शब्द के प्रयोग पर विश्वास नहीं करता, न ही हम करते हैं । पात्रों का विलक्षण व्यंग्यात्मक भयवादी कथन देश के सन्दर्भ में व्यक्ति के कर्तव्य और उसकी कर्मण्यहीनता की अनुभूति को सम्प्रेषित करता है, क्योंकि दोस्ती यदि यही है कि मित्र का माल उड़ाकर उसे किसी झूठी

आशा का आश्वासन दिलाया जाय तो वह छल है । इस रूपमें देश के सन्दर्भ में हमारा निष्क्रिय प्रवृत्ति तीखेपन से उभरती है । देश की उन्नति के लिए योजनाएं बनाते हैं, किन्तु उनको कार्यान्वित करने के आश्वासन और उससे लाभ होने का आशा दिलाने के अलावा और कुछ नहीं करते । 'दोस्ती' की तरह 'आराम हराम है' ,'आजाद देश के दोस्त' व्यंग्य की तीखी चुभन पैदा करते हैं ।

पूर्ण नाटक में कुछ ऐसे कथन हैं--'जब हम मिलकर बैठते हैं तो लड़ते क्यों हैं','एकता की भावना ... राष्ट्रभाषा का शब्द है','सही क्या था ?' '... जो पहले था वह अब नहीं है ।'न सही,न गलत' आदि जिनमें अन्तर्निहित विरोधी सूक्ष्म तरंगें आपसी टकराव से छिपे अर्थ को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करती हैं । देखा जाये तो इस तरह के आयोजन में हमारे आवेगों का चढ़ाव-उतार एक प्रकार से स्थिर रहता है । किन्तु तभी तक जब तक कि अगली असंगति हमें अव्यवस्थित नहीं करती । पात्रों के कथन और व्यवहार की नितान्त विभिन्नता में पूर्ण रूप से दो विरोधी तरंगें अन्तर्निहित हैं । एक जो स्पष्टत: सामने है उसको निर्देशित करती है और दूसरी जो अलक्ष्य है, उसको भेदती है । ब और इसतरह किसी एक सम्पूर्ण अनुभव की तीक्ष्णता को नाटककार खण्ड-खण्ड रूप में अनुभव कराता है, किसी पर दोषारोपण नहीं है, पर जनसमूह के बीच से अनुभवजन्य व्यापक मानसिक बीमारी,स्वार्थ और निष्क्रियता पर आत्मालोचन है ।

'ऊंची-नीची टांग का जांघिया'
और
'अख़बार के पृष्ठों से'
-- विपिन अग्रवाल

ये दोनों नाटक कुछ भिन्न स्तर से युग के कैऑस की संवेदना को हमारे अनुभव क्षेत्र के निकट लाने का प्रयास करते हैं । 'ऊंची-नीची टांग का जांघिया' कोरस और संवाद के रूप में गुम्फित है तथा 'अख़बार के पृष्ठों से' वास्तविक कार्य-व्यापार तथा 'था','थी' के प्रसंग में नियोजित है । इस रूपमें ये नाटक यथार्थवादी शैली के प्रस्तुतीकरण का परित्याग कर रंगमंच के रंगमंच होने का एहसास द देते हैं । इस शैली के कारण नाटककार विसंगति की अनुभूति को दोहरे स्तर पर व्यंजित कर पाता है । इस आयोजन में निहित शक्ति युग यथार्थ की संवेदना का सम्प्रेषण अव्यवस्थित आवेगों में करती है,जिससे दो विभिन्न स्तरों या स्थितियों के बीच

विचारों को कूद इतनी आकस्मिक बन जाती है कि उसका गहरा प्रभाव भावक की चेतना पर पड़ता है । पहले नाटक में कोरस और बोलचाल के गद्य द्वारा उत्पन्न भिन्न लयात्मक आयाम से नाटककार लिखे जाते इतिहास, कल्पित किये जाते भविष्य और विसंगत वर्तमान को अत्यन्त चतुरता से व्यक्त कर हमें अव्यवस्थित कर जाता है । इस नाटक की संवेदना के मर्म, राजनीतिक विषमता, दूसरों पर हावी होने की ललक की तीक्ष्ण अनुभूति जिस साधन से मिलती है वह केवल कोरस और गद्य की विभिन्न लय नहीं है न ही वे संचरित अर्थ तरंगे हैं जो कि एक प्रकार से इस विषमता की आंतरिकता को प्रकट कर देती है । पर बोलचाल की भाषा में ~~अन्तरिकता-को-एक~~ बहुअर्थक व्यंजना और फिर कोरस में उसकी स्थापना, आलोचना और व्यंग्य की पद्धति है । उस हास्य के मूल में निहित गम्भीरता है, जो कि पात्रों के कथन और काम या भावक के श्रवण और दर्शन के बीच न बनाई जा सकने वाली सम्बद्धता से उत्पन्न है । संवेदना का गम्भीर मर्म तीखे व्यंग्य से हमें चौंकाता है, घटित हो रही स्थितियों के प्रति जागरूक करता है और कुछ क्षणों के लिए ठण्डे तरीके से अपने विश्वासों के पुनर्मूल्यांकन का अवसर देता है ।

" मगन : 'यह तेरा भविष्य तैयार हो रहा है । आज से दस साल बाद जब तू जवान होगा, तेरे लिए महापुरुष चुने जा चुके होंगे । तू वही दुनिया देखेगा जिसकी नींव आज इस तरह रखी जा रही है ।

रामू : नींव रखने के लिए कहां, वह लोग तो तुम्हें पोशाक बनाने के लिए कह गये हैं ।"

मगन के कथन में निहित लयात्मक प्रवेग से इस प्रभाव सूत्र में निहित अर्थ भावक को सम्प्रेषित होते हैं । एक आन्तरिक चुभन वर्तमान के विषम व्यापार से उठती है कि परम्पराएं, रूढ़ियां या किसी भी स्तर की योजनाएं पुरानी पीढ़ी निर्धारित कर जाती है, उन्हें ओढ़कर चलने वाला, उससे विलग नहीं हो पाता, क्योंकि उसकी कोई भी उपलब्धि अर्जित नहीं आरोपित हो जाती है । परिणामत: इस आरोपण को सही या गलत रूप में अपनाये वह या तो अपने प्रति उत्तरदायी रहता है अथवा अपने निर्माता के । समाज अपने वर्तमान के लिए कुछ नहीं कर पायेगा, क्योंकि वह उन तीन

कारीगरी की तरह स्वयं में खण्डित है और परिणामत: निरावेग, क्रियाहीन टिप्पणियाँ ही केवल कर पाता है । इस नाटक में विपिन केवल हमारे विचारों को ही उत्तेजित नहीं करना चाहते, पर हमारी चिन्तन पद्धति को भी बदलना चाहते हैं । इसलिए रंगमंच के सन्दर्भ में उचित समझते हुए वे कोरस के माध्यम से विरोधों के दो अति छोरों में प्रयोजनीय सन्तुलन लाने का प्रयत्न करते हैं । यदि नाटक में सम्प्रेषित शॉक्स् की चुभन को पूर्णतया ग्रहण किया जाये तो वह रंगमंचीय अनुभव को नई सम्भावनाएँ देता है । लगभग इसी स्तर पर अखबार के पृष्ठों से देश के कार्यक्रमों, उनका खोखलापन हमारी संकुचित सीमा-दृष्टि और कुंठा आत्मश्लाघा निस्तब्ध प्रवेगों में तीखे व्यंग्य से पोषित है । 'था', 'थी' का बीच बीच के मध्यान्तर में आलोचनात्मक दृष्टिकोण अतिनाटकीय स्थिति से उभरे त्रासद भाव को व्यंजक रूप में शक्तिशाली बनाता है ।

वस्तुत: इन अधिकांश नाटकों में विषय को सम्प्रेषित करने के लिए नाटककार हमारी भावनाओं की हत्या करता है और नाटक को उसके अनुसार समझने के लिए साधन जुटाता है । अनुभवों की सत्यता पर प्रश्न उठाने की अपेक्षा उसकी भावुकता में मानसिक तनाव और अव्यवस्था कहीं अधिक भावक को स्पर्श करती है । एक प्रकार के झटकों (Jerks)से हमारी चेतना क्रियाशील होती है । प्रत्यक्ष विरोधों में नाटक स्वतन्त्रतापूर्वक मनोभावों की निरन्तरता को तोड़ता, मरोड़ता, घटाता, बढ़ाता है और इस तरह व्यापक चढ़ाव-उतार कुछ ही क्षणों में हमारे प्रत्युत्तर को रचनात्मक आयाम देता है ।

उपसंहार

जब हम किसी नाटक को संवेदना के स्तर पर आंकते हैं तो वस्तुत: हम उसमें ऐसे तत्वों की खोज करते हैं जो कि आवेगों-प्रवेगों की मात्रा और सूक्ष्म भावुक काव्यात्मकता से सम्बद्ध हों । क्योंकि एक साधारण नाटक से भले ही हम केवल 'मनोरंजन' की मांग करते हों पर एक श्रेष्ठ नाटक से हम सूक्ष्म और रचनात्मक तत्वों की मांग करते हैं, ऐसे रचनात्मक तत्वों की जो हमारी संवेदना, हमारे आवेगों से खिलवाड़ नहीं करें पर उन्हें सम्पोषित करें, प्रदीप्त करें और पुनर्निर्माण के लिए क्रियाशील करें । यह सत्य है कि नाटक में प्रचण्ड, उगलते हुए लावा के सदृश्य, आवेग प्रवाहित रहते हैं, पर यदि

नाटककार उन आवेगों पर संयम न रखकर उन्हें विस्फोटक रूप में प्रकट होने देता है तो नाटक में भावक की रुचि नष्ट हो जाती है या विच्छिन्न होकर समाप्त हो जाती है । किन्तु जब ये ही उद्दीप्त और प्रचण्ड आवेग सन्तुलित रूप से बूंद-बूंद रूप में सम्प्रेषित किये जाते हैं तो भावक की रुचि नाटक में तीव्र से तीव्रतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है । जैसे संघर्ष के तीखे तनाव की अनुभूति तब होती है जब वह पूर्ण नाटक में अन्तर्व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आवेगों की वास्तविक अनुभूति तब होती है,जब वे नाटक के संघर्ष के साथ ही अन्तर्व्याप्त हों और प्रत्येक क्षण भावक को यह अनुभूति देते हों कि अभी नाटक में बहुत कुछ प्रच्छन्न है, अभी उसकी खोज बाकी है । भावक नाटक के बाह्य विस्तारों से जितनी जल्दी ऊब का अनुभव करता है, उसके आन्तरिक विस्तारों में उतना ही खोता जाता है,क्योंकि वहां उसकी संवेदनशीलता सक्रिय होती है, मानवीय कार्य व्यापार का एक ऐसा बिम्ब उसे मिलता है जो कि जीवन में केन्द्रित होता है, अपने समय की चेतनता को व्यक्त करता है, अनुभूति के स्तर पर सच्चा और ईमानदार होता है । संवेदना के स्तर पर नाटक हमें अनुभव देता है, विवरण नहीं, चिन्तन देता है, चिन्तन का आभास नहीं, नाटक में निहित सूक्ष्म मानवीय संवेदनाओं, आवेगों आदि की खोज के संकेत देता है उनकी अभिव्यक्ति नहीं । इस रूप में जो नाटक हमें जितनी सूक्ष्मता और ठण्डेपन से क्रियाशील करता है, हमारी संवेदना को प्रभावित करता है वह नाटक उतना ही प्रभावोत्पादक स्थायी रचना का रूप लेता है जो वस्तुत: भावक की ग्राह्य-क्षमता पर भी निर्भर करता है कि वह अन्तर्प्रवाहित अर्थों को कहां तक ग्रहण कर उन्हें रचनात्मक रूप देगा ।

नाटकीय संवेदना की सांकेतिकता,प्रच्छन्नता,जटिलता और रचनात्मकता रंगभाषण पर निर्भर करती है,क्योंकि नाटक की रचनाशीलता वस्तुत: भाषा की रचनाशीलता है,अत: सम्प्रेषण माध्यम के रूप में रंगभाषण विशिष्ट आग्रही तत्व है । उसकी विशिष्टता से एक नाटक की संवेदना की विशिष्टता भी सूक्ष्म रूप से प्रभावित होती है ।

-o-

सप्तम् परिच्छेद : रंग भाषण

भाषा : नाटकीय सम्प्रेषण का विशिष्ट माध्यम

रंगभाषण के आयाम --

नाटक की अभिव्यक्ति

नाटक का सम्प्रेषण

नाटक की संरचना

विरोध

विराम या मौन

स्वर-शैली

हाव-भाव

गति

उपसंहार

"एक अच्छा [illegible] [illegible], श्रोता तथा अनुपस्थित पात्र पर प्रकाश डालता है;वस्तु को विकास देता है, व्यंग्यात्मक रूप में कार्य करते हुए प्रेक्षक को, रंगमंच पर उद्घाटित अर्थ से एक भिन्न अर्थ सम्प्रेषित करता है।"

एरिक बेन्टले :"द मार्डन थिएटर"

"नाटक शब्दों की कला नहीं, शब्दों के व्यवहार की कला है।"

स्तयान:"द एलमेण्ट्स आफ ड्रामा"

सप्तम् परिच्छेद

-0-

रंगभाषण

भाषा : नाटकीय सम्प्रेषण का विशिष्ट माध्यम

अभिव्यक्ति के स्तर पर प्रत्येक कला का अपना माध्यम होता है,जो उस कला-विशेष की संवेदनशीलता को सम्प्रेषित करने की शक्ति को अन्तर्निहित करके चलता है ।कोई भी कला-माध्यम दोहरा कार्य करता है, एक तो कला के रचनात्मक संसार का निर्माण और दूसरे उस निर्मित संसार का भावक तक सम्प्रेषण तथा उसके मनोमस्तिष्क में नये रचनात्मक बिम्ब का अंकन;तात्पर्य कि पूर्ण सर्जन को बोधगम्य बनाने के साथ ही भावक के मन को भी बांध रखने की क्षमता उसमें होती है । इस प्रकार कला-माध्यम कृति और भावक के बीच कलात्मक सामंजस्य को प्रस्तुत करता है ।

भाषा,विशेषत: नाटक की भाषा, अन्य कला-माध्यमों से अपनी जटिलता या नाटकीय रूप के कारण अधिक शक्तिशाली हो उठती है,एक तो इसलिए कि उसमें सूक्ष्म अनुभवों को ग्राह्य बनाने की क्षमता है, दूसरे साधारण बोलचाल की भाषा के मध्य से ही वह कलात्मक स्तर पर आती है,जिससे उसकी संवेदन-क्षमता बढ़ जाती है । नाटक की भाषा चूंकि रंगमंच पर अभिनीत होती है,दर्शक के द्वारा देखी और सुनी जाती है तथा पाठक के द्वारा पढ़ी और समझी जाती है, इस कारण उसमें मानवीय संवेदनाओं के निर्माण और सम्प्रेषण का व्यापार अधिक जटिल किन्तु रचनात्मक स्तर का हो जाता है । जैसा कि हम देख आये हैं,नाटक के आन्तरिक रचनात्मक संसार में वस्तु,पात्र और संवेदना का संयोजन रहता है, पर पाठक या दर्शक पर इस कुल संयोजन का प्रभाव केवल तकनीकी विशेषता के कारण नहीं पड़ता पर इस तकनीकी विशेषता के द्वारा नाटककार दर्शक के मस्तिष्क और उसके आवेगों से जो सम्बन्ध

स्थापित करता है, या उनपर जो प्रभाव डालता है, वह भाषा के कारण ही सम्भव हो पाता है । घटनाओं की अनुभूति, पात्रों के संघर्ष का परिचय तथा संवेदना का सम्प्रेषण भाषा के रूप में ही होता है । दूसरे शब्दों में स्वर का वैयक्तिक शैली तथा शब्दावली के संवेदन-वैशिष्ट्य में ही पूर्ण नाटकीय अभिव्यक्ति और संप्रेषण सम्भव है । इस तरह भाषा नाटक के सभी तत्वों के संश्लेषण का प्राथमिक माध्यम बन जाती है । देखा जाय तो ये सभी तत्व एक संयोजन की स्वरलिपि है, जिसे भाषा गुनगुनाती है तथा रंगमंचीय प्रदर्शन एवं प्रेक्षक की सक्रियता उसको संगीत में बदल देती है ।

इसतरह नाटक की भाषा एक ऐसी रचनात्मक भाषा के रूप में सामने आती है, जो गॉसनर के शब्दों में व्यक्ति स्वभाव, उसकी स्थिति, वातावरण, भावात्मक अवस्था तथा उस स्थिति, जिसे कि वह स्वयं निर्मित करता है, के अत्यधिक निकट हो,[1] ब्रुक्स तथा हैलमैन के अनुसार जो 'नाटकीय, तनावपूर्ण, पात्र को उद्घाटित करने वाली तथा पंक्तियों के अर्थ को शारीरिक कार्य द्वारा अभिव्यक्त करने वाली हो,'[2] और स्तयान के अनुसार जो नाटकीय स्वर लिपि के रूप में पढ़ी और सुनी जा सके, दर्शक की रुचि को उत्तेजित और केन्द्रित कर सके तथा नाटकीय विकास के लिए तथ्य जुटा सके ।[3] बा:कर ने इसी कारण स्वीकार किया कि 'भाषा रंगमंच में.. केवल शाब्दिक भाषा नहीं है ।'[4] 'क्योंकि', उसने आगे कहा कि नाटककार को संवाद, कार्य, रचनात्मक और चित्रात्मक शैली तथा लिए गए विचार के विशिष्ट अंश के सन्दर्भ में (भाषा को) सोचना चाहिए जिससे कि उसके प्रयोग द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके ।'[5] विरोधों के इस टकराव और सामन्जस्य में कुल मिलाकर भाषा यह प्रयास करती है कि प्रत्येक भाव,

---

१ जॉन गॉसनर : 'प्रोड्यूसिंग द प्ले', पृ० २७

२ ब्रुक्स तथा हैलमैन : 'अंडरस्टैन्डिंग ड्रामा, पृ०७

३ जे०एल० स्तयान : 'द एलिमेण्ट्स आफ़ ड्रामा', पृ० १४-१५

४ जी० बा:कर : 'ऑन पोइट्रि इन ड्रामा', पृ० १६-१७

५ : 'द एलिमेण्ट्स आफ़ ड्रामा', में पृ० ८८ पर उद्धृत

दृश्यों की क्रमिकता और भिन्नता, संवाद के संगीत(लय-ताल) का सामंजस्य और टकराव, ध्वनित कार्य, पात्रों का शारीरिक या मानसिक संघर्ष या उनकी तटस्थता एक निश्चित और अर्थपूर्ण दबाव में भावक के मस्तिष्क में अंकित हो सके ।संभवत: इसी कारण विद्वान् मानते रहे हैं कि नाटककार साधारण कवि नहीं होता है,पर ऐसे शब्दों का कवि होता है जिन शब्दों से अभिनय,दृश्य और वातावरण निर्माण, भावात्मक अवस्था और काव्यात्मकता की अभिव्यक्ति या व्यंजना, सम्भव होता है। नाटक की अनुभूतियों की सघनता भाषा के रूप में ही अभिव्यक्त और सम्प्रेषित होती है, अत: यह आवश्यक हो जाता है कि नाटक की भाषा में काव्यात्मक गुण, नाटकीय विशिष्टता तथा संगीत की लय हो ।

रंगभाषण के आयाम

स्पष्ट है कि रंगभाषण पूर्ण नाटकीय सम्प्रेषण का प्राथमिक माध्यम है और ऐसा माध्यम है जो पूर्ण नाटक को अभिव्यक्त करता है,उसको सम्प्रेषित करता है तथा संरचनात्मक बनाता है । इस आधार पर रंगभाषण के जटिल और सर्जनात्मक कार्य को इन तीन आयामों में समेटा जा सकता है ।

नाटक की अभिव्यक्ति / रंगभाषण पूर्ण नाटक को अभिव्यक्त करता है ।नाटक में जो घटनाविन्यास है,या जो आघात संघर्ष है,विचार है, अथवा कौतूहल और तनाव है वह सब रंगभाषण के रूप में अभिव्यक्त होता है । क्योंकि पात्र जो कहते हैं, सोचते हैं या करते हैं,वह सब उनके भाषण द्वारा प्रकट होता है, और ये सभी सूत्र सामंजस्य में पूर्ण नाटक को उद्घाटित करते हैं ।दूसरे शब्दों में रंगमंच का पूर्ण क्रिया-कलाप,साधारण या असाधारण,स्थूल या सूक्ष्म, भाषा की शैली के द्वारा नाटकीय रूप ग्रहण करता है । इस तरह रंग भाषण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह इतना सशक्त और नाटकीय अवश्य हो कि पूर्ण रंगमंचीय कार्य व्यापार की अभिव्यक्ति का उत्तरदायित्व निभा सके और साथ ही नाटक के अर्थ निर्णय से तारतम्य बनाये रख सके । तारतम्यता यदि रंगभाषण को विवरणात्मक और अराजक होने से बचाती है तो आन्तरिक विरोध उसे शिथिल

और नीरस होने से बचाता है । जिस प्रकार पात्र आपसी विरोध में क्रियाशील होते हैं, प्रवेग लय के विरोध में प्रभावोत्पादक होता है,उसी प्रकार रंगभाषण, चाहे उसे अभिव्यक्ति के स्तर पर देखें, या सम्प्रेषण और संरचना के परिप्रेक्ष्य में, अन्तर्निहित अर्थ को तभी उद्घाटित और संचरित करता है जब उसमें विरोधी तत्व कार्यरत हों । दो संवादों में विरोध कार्य को आगे बढ़ाता है तो एक संवाद का अन्तर्निहित विरोध पात्र को उद्घाटित करता है, या इसके विपरीत भी हो सकता है । स्पष्ट है विरोध संवाद,शब्दावली या स्वरशैली में हो सकता है,पर रंगभाषण के लिए अनिवार्य है । नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने के लिए नाटककार जीवन के कोई भी चित्र या बिम्ब को इस प्रकार व्यक्त करता है कि यथार्थ में वह अर्थहीन या कृत्रिम होते हुए भी नाटक में प्रस्तुत होने पर सार्थक और विश्वसनीय बन जाता है । इस तरह प्रतिदिन के वार्तालाप में नगण्य अर्थ रखने वाला संवाद रंगमंच पर व्यवहृत किये जाने पर विशिष्ट गुणों से सम्पन्न हो जाता है और किसी सन्दर्भ विशेष में उसकी सार्थकता संवादोचित शक्ति से भी अधिक अभिव्यक्ति देने लगती है ।" वे भी निश्चय मारे जायेंगे अधर्म से" 'अंधायुग' में अश्वत्थामा का इस कथन को दोहराना पाण्डवों के नाश की पूर्वकल्पना तथा अश्वत्थामा की आन्तरिक इच्छा की दृढ़ता का शाब्दिक बिम्ब देता है जो कि रंगमंच पर एक दृश्य बिम्ब भी प्रस्तुत करता है । वाक्य के संयोजन में गम्भीर लय का बोध,'अधर्म से' में अश्वत्थामा का मनोमालिन्य तथा 'निश्चय' में आन्तरिक इच्छा और शब्दावली की दृढ़ता कुल मिलाकर उसके कार्य,मनःस्थिति तथा उत्तेजना का परिचय देते हैं ।

स्थूल अभिव्यक्ति के रूप में,तात्पर्य अत्यन्त स्पष्टरूप से जो अनुभूति ग्रहण की जा सकती है, रंगभाषण रंगमंच पर हो रही,हो चुकी या होने वाली घटनाओं को उद्घाटित करता है ।'कोणार्क' के उद्घाटन का यह सम्भाषण :

विशु : कब? आखिर कब हम अम्ल पर त्रिपटयर को स्थापित कर पायेंगे?
आज दस रोज हो गये, केवल इसी कारण मूर्ति का प्रतिष्ठापन
नहीं हो रहा है । (राजीव की ओर मुंह करके) राजीव तुम
कहते हो कि तुमने कलश के अधोअंश को हल्का कर दिया ?"

तत्काल पूर्ण नाटक की पृष्ठभूमि को अभिव्यक्त कर जाता है तथा एक तथ्य भी देता है,

जो कि आगे के विकास का भी आधार बनता है । संवाद का संयोजन जहां हमारी रुचि को उत्तेजित करता है वहीं पर आवश्यक तथ्य भी देता है ।'कब ? आख़िर कब ...' तथ्यों के उद्घाटन को पूर्व स्थिति है ।'कब' के दोहराये जाने में हमारी रुचि को केन्द्रबिन्दु मिलता है । पूर्ण संवाद नाटकीय घटना विन्यास की प्रमुख स्थिति देता है कि कोणार्क मंदिर में मूर्ति प्रतिष्ठापन का कार्य होने वाला है, पर वह इसलिए सम्पन्न नहीं हो पा रहा है, क्योंकि मंदिर के अम्ल पर त्रिपटधर स्थापित नहीं हो पा रहा है । दस दिन से उसको स्थापित किये जाने का प्रयास हो रहा है,पर सफलता नहीं मिलरही है और इसी कारण विशु उत्तेजित है । भाषा का साधारण संयोजन यद्यपि स्थिति का उद्घाटन जो कि नाटक के कथ्य का आधार भी है,अत्यन्त स्पष्टता से करता है,पर यहां पर पात्र के वैयक्तिक व्यवहार को भी देखा जा सकता है, जो कि नाटकीय विकास में विशिष्ट हो जाता है । जैसे-- जैसे नाटक में यह स्थिति विकास पाती है, विशु के व्यक्तिगत आवेगों तथा उसके आन्तरिक संघर्ष के कारण हमारी सहानुभूति या करुणा,जो यथार्थ की अभिव्यक्ति को अतिरिक्त आयाम देती है, भी प्रभावित होती है । इसी तरह की एक स्थिति,'नये हाथ' में दो पात्रों के परस्पर भाषण के विरोध में अभिव्यक्त होती है ।

माधुरी :............. कुंवर साहब की शादी हो गई ?

अजयप्रताप : नहीं ।

माधुरी : क्या उम्र है उनकी ?

अजयप्रताप : यही करीब तीस की होगी ।

माधुरी : (प्रसन्नता से) तब ठीक है ।

अजयप्रताप : क्या ठीक है ?

माधुरी : (धीमे स्वर में) अगर कुंवर साहब से अपनी माला का रिश्ता हो जाये तो कैसा रहे ।

अजयप्रताप : लेकिन ...

माधुरी : लेकिन-वेकिन क्या ? दान-दहेज और कर्ज़ दोनों से छुटकारा मिल जाये ।

अजयप्रताप : मगर ... मगर... यह कैसे सम्भव है ?

माधुरी : यह मुझपर छोड़ दो । दो-चार दिन तो रुकेंगे ?

अजयप्रताप : हां-हां ! क्यों नहीं ?

माधुरी : माला और उन्हें खूब घुलने-मिलने का मौका दिया जाये । अपनी माला गोरी-चिट्टी है,पढ़ी-लिखी है और क्या चाहिए? मैं माला को समझा दूंगी । तुम फिक्र न करो । कुंवर साहब के स्वागत की तैयारी करो ।

अजयप्रताप : अच्छी बात है । मैं अभी लॉन वगैहरा ठीक कराता हूं । तुम कुंवर साहब के लिए कमरा ठीक कराओ ।

(अजयप्रताप उठकर बाहर चले जाते हैं।)

यहां एक प्रकार से भाषण सपाट तथा साधारण है और परम्परित रूप में कथोपकथन की प्रश्नोत्तर शैली में नाटक की एक प्रमुख स्थिति का उद्घाटन करता है कि माधुरी के कहने पर अजयप्रताप भी बेटी माला की शादी कुंवर साहब से कर,उनको दिए जाने वाले कर्ज़ से भी उऋण होने की कल्पना करते हैं । इस तरह यह सम्भाषण एक ऐसा तथ्य तो देता है जो पूर्ण नाटक के विकास का प्रमुख आधार है, किन्तु भाषा में नाटकीय दबाव, अर्थात् जो स्थिति की अव्यावश्यकता की तीखी अनुभूति दे,न होने के कारण वह प्रेक्षक को प्रभावित नहीं करता और तथ्यपरकता के कारण उसे विमुग्ध भी नहीं रख पाता है । भाषण की यह शैली भाषा के अपेक्षित तनावको नष्ट कर देगी और तब हमारी अनुभूति के मूल्य पर हमारी रुचि को उत्तेजित किया जायेगा । 'आधे -अधूरे' के इस परिसंवाद की भाषा :

पुरुष एक : मैं बस थोड़ी देर के लिए ही निकला था बाहर ।

स्त्री : (और चीज़ों को समेटने में व्यस्त होती) मुझे क्या पता कितनी देर के लिए निकले थे ।... वह आज फिर आयेगा अभी थोड़ी देर में । तब तो घर पर रहोगे तुम ?

पुरुष्क पुरुष एक : (हाथ रोककर) कौन आयेगा ? सिंघानिया ?

स्त्री : उसे किसी के यहाँ खाना खाने जाना है इधर । पांच
मिनट के लिए यहाँ भी आयगा ।
(पुरुष एक फिर उसी तरह "हूं" के साथ कुरसी
को झुलाने लगता है ।)
मुझे यह आदत अच्छी नहीं लगती तुम्हारी । कितनी
बार कह चुकी हूं ।

के शब्दों में निहित तीक्ष्णता वातावरण तथा भावात्मक लय का निर्माण करती है । नाटककार प्रश्नोत्तर के रूप में सम्भाषण को न रखकर इस प्रकार रखता है कि विषय सम्बन्धी हमारी जिज्ञासा न तो सन्तुष्ट होती है और न ही नष्ट होती है । नाटकीय स्थिति को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है जो हमें वर्तमान के व्यवहार में बीती हुई घटना और आगे के विकास की कल्पना करने के लिए छोड़ देती है । दोनों के संवाद तथ्यों का उद्घाटन करने लगते हैं जो एक और उनके सम्बन्धों के तनाव को अभिव्यक्त करते हैं और दूसरी ओर वर्तमान के सन्दर्भ में नाटकीय विकास का विशिष्ट सूत्र देते हैं । "वह आज फिर आयेगा"। "आज फिर" शब्द "वह" "आयेगा" के सन्दर्भ में विशिष्ट आकर्षित करता है और "कौन जायगा सिंघानिया ?" के शब्दार्थ में हम जानते हैं कि सिंघानिया पहले भी आता रहा है । "... खाना खाने जाना है इधर । पांच मिनट के लिए यहाँ भी आयेगा ।"इधर" और "यहाँ भी" की स्वर शैली में सावित्री अपने मन के भावों को छिपाने का प्रयत्न करती है, जैसे कि इन अतिरिक्त शब्दों के प्रयोग से वह महेन्द्रनाथ के किसी शाब्दिक प्रहार को रोक लेगी ।" फिर उसी तरह "हूं" के साथ कुरसी को झुलाने" में महेन्द्रनाथ की अपनी मनःस्थिति और सावित्री के प्रति उसका आन्तरिक आक्रोश, दोनों के परस्पर सम्बन्ध की कल्पना करने देता है ।"आज फिर", "तब तो", "इधर", "यहाँ भी", "फिर उसी तरह हूं" जैसे शब्दों का रहस्य बना रहता है, क्योंकि उन दोनों के बीच तनाव की स्थिति का रहस्य वह अन्तर्निहित तथ्य है जो नाटकीय विकास का मुख्य सूत्र है । स्थिति और तथ्य की अभिव्यक्ति के साथ ही यह सम्भाषण पात्रों के व्यक्तित्व को भी व्यंजित करता है, जो पात्रों के व्यक्तित्व का केवल उद्घाटन नहीं है पर उनके

अभिव्यंजना
पूर्ण विकसित व्यक्तित्व की सूक्ष्मता से है। जो भी कहा जा रहा है, वह अतीत की बातों से, पात्रों के किन्हीं विचारों और कार्यों से सम्बद्ध है, जिनसे उनकी वर्तमान स्थिति को तर्कसंगत रूप में ग्रहण किया जा सकता है। यह पूर्ण जटिलता सम्भाषण पर विशिष्ट दबाव डालती है और उसे अतिरिक्त कसाव देती है। इस प्रकार सम्भाषण के इन संक्षिप्त क्षणों में भाषा की जटिलता बहुत कुछ 'होने' की अनुभूति देती है, जो केवल अभिरुचि को ही उत्तेजित नहीं करती पर एक जटिल स्वर संगति जैसा प्रभाव भी डालती है।

रंग भाषण सम्भाषण न होने की स्थिति में भी नाटक को अनेक प्रकार से या रूपों में उद्घाटित करता है। नाटककार द्वारा दिये जाने वाले रंग संकेत घटना, पात्र और कार्य का उद्घाटन तो करते हैं, पर निर्देशक को पूर्ण नाटक या दृश्य की मूल संवेदना को ग्रहण कर रंगमंच पर उसे रूपायित करने का संकेत भी देते हैं। कुछ अन्य आन्तरिक सामन्जस्य और प्रवाहित संगीत को सम्प्रेषणीय बनाकर उसके द्वारा अनेक रंगों को उभारने का प्रयास करते हैं। 'नेफा की एक शाम' में नाटककार ने इस तरह के निर्देशों से सम्भाषण रहित, नाटकीय स्थितियों या पात्रों के कार्य को अभिव्यक्त किया है।

> 'नीमों पिस्तौल वाला हाथ ऊंचा करके केवल की ओर बढ़ता है, वांगचू हौले से हंसता है। नीमों अचानक वांगचू की ओर बिजली की-सी तेजी से पलटकर दनादन फायर करता है। वांगचू तुरन्त मर कर गिर पड़ता है।'

पढ़ने में साधारण लगने पर भी रंगमंच पर यह रंग संकेत निर्देशक को एक नाटकीय स्थिति उत्पन्न करने को बाध्य करता है। शब्द चयन में नाटककार ने पात्र के कार्य की त्वरिता को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। नीमों का पिस्तौल लेकर केवल की ओर बढ़ना और उसके विरोध में वांगचू का विजय-भाव से मुस्कराना प्रेक्षक के कौतूहल को जागृत करता है और 'बिजली की-सी तेजी से' का शब्दार्थ 'दनादन फायर' के सन्दर्भ में कार्य की तीव्रता का बोध देते हुए जगाए गए प्रेक्षक के कौतूहल को नाटकीय मोड़ देता है और इस नाटकीय मोड़ को नाटक के विकास तथ्यों के साथ जोड़ देता है। फलत: उसी जिज्ञासा में भावक इस घटना के परिणाम को जानने में सक्रिय होता है। 'अचानक', 'बिजली की सी तेजी' और 'दनादन' में

अतिरिक्त त्वरिता के अर्थ को नियोजित किया गया है, जो कि `दैवल की ओर बढ़ता है` के अर्थ में विशिष्ट दबाव को प्रस्तुत करता है, जिससे नीमो की प्रतिक्रिया नाटकीय स्थिति में बदल जाती है।

`आधे -अधूरे` का यह निर्देश :

"एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत। लड़का अपनी काटी तस्वीर को पल भर हाथ में लेकर देखता है, फिर चक्-चक् उसे बड़े-बड़े टुकड़ों में कतरने लगता है, जो नीचे फ़र्श पर बिखरते जाते हैं। प्रकाश आकृतियों पर धुंधलाकर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन होने लगता है। मंच पर पूरा अंधेरा होने के साथ संगीत भी रुक जाता है। पर कैंची की चक्-चक् फिर भी कुछ क्षण सुनायी देती रहती है।"

संगीतात्मक प्रभाव उत्पन्न करता है। शब्द चयन इतना सक्षम है कि वह निर्देशक को आन्तरिक रंग और लय के चुनाव की स्वतन्त्रता देता है साथ ही उस आन्तरिक भाव सूत्र और लय को ग्रहण करने को भी बाध्य करता है जिसे पूर्ण दृश्य की प्रस्तुति का आधार माना जा सकता है। ~~जिसे पूर्ण दृश्य की प्रस्तुति का~~ `खण्डहर की आत्मा` का `हल्का संगीत` गम्भीर, कारुणिक स्वरलहरियों के संयोजन की बात कहता है। संगीत की पृष्ठभूमि में `चक्-चक्` `बड़े बड़े टुकड़ों में कतरना` तथा `फ़र्श पर बिखरते` शब्दों के अर्थ बेसुरेपन के भाव का निर्माण करते हैं। किन्तु इस विसंगति में आन्तरिक स्वर संगति है जो `प्रकाश... अलग-अलग कोनों में सिमटता, विलीन होने लगता है` से भी सम्बद्ध है। संगीत के रुक जाने और प्रकाश के विलीन हो जाने पर `कैंची की चक्-चक्` पात्रों को व्यंजित कर पूर्ण दृश्य के निर्माण में किन्हीं विशिष्ट रंगों को महत्व देने के लिए निर्देशक को बाध्य करती है। <------> पूर्ण दृश्य में जो घटित और अभिव्यक्त होता है, वह रंगमंच पर इस एकस्त्रीन व्यापार द्वारा सघनीभूत होता है और लड़के के साधारण कार्य को व्यक्त करने वाले शब्दों के विरुद्ध संगीत और प्रकाश के संयोजन के संकेत द्वारा जो अर्थ ग्राह्यता दर्शक के लिए सम्भव होती है, वह पाठक के लिए नहीं हो पाती है। इस तरह रंग भाषण में सांकेतिक जटिलता कारण प्रेक्षक नाटकीय दबाव को अनुभव करता है।

यहाँ नाटककार एक भावात्मक स्थिति को सघनता प्रदान करता है, किन्तु `अदृश्य व्यक्ति की आत्महत्या` में नाटककार द्वारा किया गया रंगमंचीय कार्य का निर्देश नाटक की संवेदना को व्यंग्य रूप में अभिव्यक्त करता है।

> `अदृश्य व्यक्ति मोती के पास आकर खड़ा हो जाता है। मोती उठकर, मुंह खोल कर` मैं ... कहता है और इसके पहले कि कुछ आगे कहे, अदृश्य व्यक्ति उसके चांटा लगा देता है। चांटा लगते ही वह कुर्सी पर गिर-सा पड़ता है।
>
> अदृश्य व्यक्ति सामने रेलिंग के पास आकर खड़ा हो जाता है। कुछ देर शान्ति रहती है। सब मूर्तिवत् और अस्वाभा-विक लगने लगता है। एक कुत्ते के बोलने की आवाज़ आती है, जिससे लगने लगता है कि काफ़ी रात हो गई है। फिर एक गाने की आखिरी पंक्तियां ..` यह देश हमारा है`... फिर प्रेषक की आवाज़ : `यह आकाशवाणी है। रात के दस बजा चाहते हैं। अन्त में मौसम का हाल सुनिए। कल सुबह होने तक आशा की जाती है कि उत्तरी पूर्वी सीमा पर प्रधान-मंत्री पहुंचेंगे और गरज के साथ कहेंगे कि सारे देश का सवाल उनके सामने है।.. (अन्तिम शब्दों पर अदृश्य व्यक्ति अपने चांटा लगाता है।) इसके साथ आज का कार्यक्रम समाप्त होता है। जयहिन्द !` अदृश्य व्यक्ति वहीं निर्जीव होकर लेट जाता है। दस के घण्टे बजते हैं। पर्दा गिरता है।)

शब्दों का संयोजन यांत्रिक और कृत्रिम रूप पर बल देता है, जिससे उनके निहितार्थ व्यंग्य में बदलते हैं। अदृश्य व्यक्ति का `चांटा लगाना`, `निर्जीव होकर लेट जाना` यंत्र चालित रूप में होता है जो कि गति और हाव-भाव की पद्धति के कारण तो आकर्षित करता ही है पर इस कारण भी आकर्षित करता है, क्योंकि भावक जानता है कि `अदृश्य व्यक्ति` का `चांटा लगाना` `देश के सवाल` पर स्वयं को चांटा

लगाकर 'निर्जीव होकर लेट जाना' जैसे व्यवहार अविश्वसनीय हैं और ऐसे व्यवहार रंगमंच के बाहर देखने को नहीं मिलेंगे परिणामतः रंगमंच में उनकी प्रस्तुति विशिष्ट आकर्षित करने लगती है। आकाशवाणी द्वारा सम्प्रेषित 'मौसम का हाल' और अन्तिम शब्दों पर अदृश्य व्यक्ति का अपने को चांटा लगाकर, जैसे व्यवहार तथा 'अदृश्य व्यक्ति', 'चांटा लगाना', 'देश के सवाल पर' 'निर्जीव होकर लेट जाना', जैसे शब्दों पर विशिष्ट दबाव डालकर नाटककार नाटकीय संवेदना को अभिव्यक्त करता है। बोलने के ढंग से हाव-भाव की यह शैली गतिशीलता में बदलती है और विशिष्ट व्यंग्य के रूप में सम्प्रेषित होती है।

साधारणतया रंगभाषण को पात्र के सन्दर्भ में विशिष्टता दी जाती रही है, क्योंकि रंगभाषण को वक्ता, श्रोता और तीसरे व्यक्ति जिसके बारे में ये बातें की जा रही हों, पर प्रकाश डालने का माध्यम माना जाता रहा है। पर पात्र परिचय की अपेक्षा रंग-भाषण पात्र क्या करते हैं, क्यों करते हैं और कैसे करते हैं को व्यक्त करता है अर्थात् उनके संघर्ष और कार्य का उद्घाटन भी करता है। स्थूल रूप में रंग भाषण पात्रों का परिचय देता है :

"राजीव : यदि आप धर्मपद की बात सुनें तो शायद अपना विचार बदल डालें, तात !

सौम्यश्री : धर्मपद कौन ?

राजीव : एक किशोर शिल्पी। हाल ही में आया है। आयु तो अल्प ही है -- शायद १६ वर्ष भी नहीं, किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण। आपसे मिलना चाहता है।

-- 'कोणार्क'

अथवा

युयुत्सु.........

ये हैं मल्ल

मेरे पिता, मेरे माता के

लेकिन कौन जाने

यहां स्वागत हो

मेरा,
एक ज़हर बुझे भाले से ।

प्रहरी १ : ये तो युयुत्सु हैं
पुत्र धृतराष्ट्र के,
युद्ध में लड़े जो
युधिष्ठिर के पक्ष में

-- 'अंधा युग'

दोनों उद्धरण पात्र-परिचय के रूप प्रस्तुत करते हैं । नाटकीयता दोनों में है, क्योंकि पूर्ण परिचय के पहले उनके परिचय का संकेत पहले मिलता है । 'धर्मपद कौन' नितान्त अपरिचय का संकेत है कि यह नामधारी कौन है । किन्तु 'ये तो' में पुरानी पहचान का बोध है कि नहीं पहचानते और यह तो अमुक व्यक्ति है । ठहराव और कौतूहल के इन शब्दों में भिन्न अर्थ संचरण से परिचय की पद्धति बदल जाती है । 'एक किशोर शिल्पी' जिज्ञासा की तीव्रता का उतना ही संयमित उत्तर है जो पात्र की महत्ता की ओर इंगित करता है । 'किशोर' 'शिल्पी' पर बलाघात के कारण उसके कुशल किन्तु उपेक्षित कारीगर होने की बात व्यक्त होती है । 'तीक्ष्ण बुद्धि' तथा 'आपसे मिलना चाहता है' में पहली बात को ही दोहरा कर दूसरे रूप में कहा गया है जो धर्मपद के प्रसंग को अतिरिक्त महत्त्व देती है । सुर के आरोह-अवरोह में उसके साधारण परिचय, वय और कार्य के साथ उसका विशिष्ट परिचय तीक्ष्ण बुद्धि, उद्देश्य तथा शक्ति भी मिलता है । किन्तु दूसरे उद्धरण में युयुत्सु का परिचय उसके चारित्रिक उद्घाटन में होता है । युयुत्सु को उसकी मनःस्थिति में प्रस्तुत कर 'कौन है ?' की जिज्ञासा को तीव्रता मिलती है । प्रहरी द्वारा 'ये तो युयुत्सु हैं' में प्रारम्भिक शब्दों पर दबाव यह भी उद्घाटित करता है कि दूसरे व्यक्ति उसके बारे में क्या सोचते रहे हैं, और हमारी जिज्ञासा को, 'कौन जाने' 'यहां स्वागत हो' 'मेरा' 'ज़हर बुझे भाले से' के विरोध में आगे की ओर प्रेरित करता है । 'पुत्र धृतराष्ट्र के' 'युद्ध में लड़े जो' 'युधिष्ठिर के पक्ष में' से परिचय तो मिलता है, पर जिज्ञासा बनी रहती है । भावात्मक स्वर संगति, स्वर शैली तथा शब्दों का संयोजन

प्रेक्षक को यह जानने को प्रेरित करता है कि वह अपने पिता के विरुद्ध क्यों लड़ा था और अब शंकित हृदय लिये लौटा है ।

इस प्रकार साधारण परिचय की अपेक्षा रंगभाषण से पात्रों के विशिष्ट परिचय, अर्थात् उनके संघर्ष की अभिव्यक्ति की मांग अधिक बढ़ जाती है, क्योंकि रंगभाषण अपेक्षाकृत अधिक सशक्त, सूक्ष्म और जटिल गुणों की मांग करता है और इन गुणों के अभाव में अभिव्यक्ति स्थूल बन जाती है ।

'मादा कैक्टस' में दद्दा और अरविन्द में समाज के विवाह सम्बन्धी नियम पर आस्था और अनास्था के संघर्ष का यह अंश देखें --

'दद्दा : तो आपको सारे सोशल स्ट्रक्चर पर विश्वास नहीं सारे ट्रेडीशन को आपने तोड़ा । पुराने मॉरल वैल्यूज़ को आपने ठीकरा समझ लिया । फिर आपके पास क्या है, जिसके सहारे आप जियेंगे और अपनी झोपड़ियाँ तैयार न करेंगे ।

अरविन्द : कांशेन्स है हमारे पास, कुछ और न हो हमें परवाह नहीं ।

दद्दा : जो स्त्री को मौत समझे, कहां का कांशेन्स है उसके पास, मैं जानना चाहता हूं यह ।

अरविन्द : वह इतने ऊपर नहीं कि आप देख-समझ लें ।

दद्दा : क्यों नहीं ! वह बहुत भीतर छिपा होगा !

अरविन्द : जी हां, बहुत भीतर, जैसे इन 'कैक्टस' में कहीं सौन्दर्य छिपा है, रस और शक्ति छिपी है ।

दद्दा : ये 'कैक्टस' ! (व्यंग्य की हंसी) बिना फूल के ये डरावने, बदशक्ल ठूंठ, बौने पौधे । प्यार से भी छुओ तो कांटों के जहरीले डंक मारने वाले । ही.. ही...ही...!

अरविन्द : आपके मन में घृणा है, द्वेष है, ईर्ष्या है ।

दद्दा : पर कहीं विश्वास भी है ।

अरविन्द : वह अंध विश्वास है, जिसे आप विश्वास कहते हैं ।

(अरविन्द जाने लगता है।)

दद्दा : ठीक है,जाओ... । तुम्हारा रास्ता तुम्हें प्रकाश दे ।"

संघर्ष को उद्घाटित करने वाला यह सम्भाषण तीक्ष्ण विरोध के क्षणों का है । तीव्रता दोनों में है,क्योंकि दोनों अपने विचार की स्थापना करना चाहते हैं तथा दूसरे के विचार को हेय दृष्टि से देखते हैं । "फिर आपके पास क्या है" एक मत की स्थापना कर दूसरे मत को चुनौती देता है । "परवाह नहीं" की उक्ति उस चुनौती की पूर्णतया उपेक्षा करता है कि 'परवाह नहीं यदि हमारे पास कुछ नहीं, पर कम-से-कम पुराने मॉरल वेल्यूज़' तो असहनीय है ।' "कहां का कांशेन्स" अरविन्द को पराजित करने का दूसरा तर्क सूत्र देता है, और अरविन्द "वह इतने ऊपर नहीं कि आप देख-समझ लें" उत्तेजना में कटु होकर दूसरे पक्ष पर आघात करता है । इस तरह दोनों पक्ष सार्थक तर्क देने और उसे पुष्ट करने की अपेक्षा उत्तेजित होते जाते हैं और अपने विचारों को मनवाने के लिए "आपके मन में घृणा है,द्वेष है" व्यक्तिगत आघात भी करते हैं ।" यह अन्धविश्वास है, जिसे आप विश्वास कहते हैं" में संघर्ष की स्थिति को ही नकार दिया गया है और वाक्जाल में विचारों का संघर्ष परस्पर कटुता के कारण विरोध बनकर रह जाता है और भाषा संघर्ष को सूक्ष्मता देने की विशिष्टता खोती जाती है, आघात-प्रतिघात को प्रेक्षक तत्काल ग्रहण करता है और इस तरह उत्तेजित किये जाने पर भी वह सक्रिय नहीं हो पाता है । 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका और अम्बिका का ऐसा ही विचार गत संघर्ष भाषा की अभिव्यंजना शक्ति तथा वाक्य संयोजन के कारण अपेक्षाकृत सूक्ष्म रूप में उद्घाटित होता है ।

मल्लिका : मैं जानती हूं मां, कि अपवाद होता है । तुम्हारे दुःख को भी जानती हूं, फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता । मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है । मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है । मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूं जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है... ।

(अम्बिका के चेहरे पर रेखाएं खिंच जाती हैं)

अम्बिका : और मुझे ऐसी भावना से वितृष्णा होती है । पवित्र, कोमल और अनश्वर ! हं !

मल्लिका : मां, तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करती ?

अम्बिका : तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्मप्रवंचना है ।... भावना में भावना का वरण किया है !... मैं पूछती हूं भावना में भावना का वरण क्या होता है ? उससे जीवन की आवश्यकताएं किस तरह पूरी होती हैं ? ... भावना में भावना का वरण ! हूं !

(मल्लिका क्षण भर गर्दन उठाकर छत की ओर देखती रहती है ।)

मल्लिका : जीवन की स्थूल आवश्यकताएं ही तो सब कुछ नहीं है मां ! उनके अतिरिक्त भी तो बहुत कुछ है ।

(अम्बिका फिर धान फटकने लगती है।)

अम्बिका : होगा । मैं नहीं जानती ।

प्रत्येक कथन विशिष्ट स्वर-शैली, शब्दों पर दबाव और साथ-साथ हाव-भाव के कारण एक ओर पात्रों के विचार वैभिन्न्य को सुलभता देता है, दूसरी ओर पात्रों के आवेगों को शाब्दिक बिम्बों में प्रस्तुत करता है । दोनों अपने विचार में दृढ़ हैं, पर दूसरे पक्ष पर आघात करने की अपेक्षा अपने पक्ष को स्पष्ट करने में अधिक प्रयत्नशील हैं । एक-दूसरे के विचारों को नकारते भी नहीं हैं, इसलिए समझौता भी नहीं करते हैं । इसी कारण उनका संघर्ष विचारगत होते हुए भी दृष्टिगत और प्रकृतिगत हो जाता है । "जानती हूं मां", "तुम्हारे दुःख को भी जानती हूं" वाक्य अम्बिका के विरोध को सम्मान देने की स्थिति है, "फिर भी मुझे अपराध अनुभव नहीं होता" में किन्तु अपने विचार को मान्यता देने का प्रयास है । अनेक तरह से अपने सन्दर्भ में "भावना में भावना का वरण", "सब सम्बन्धों से बड़ा", "वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती

हूं", "मां, तुम मुझपर विश्वास क्यों नहीं करती " एक ही बात , कि उसके लिए भावना जो पवित्र और नश्वर है, जीवन की स्थूल आवश्यकताओं से अधिक महत्वपूर्ण है, को समझाने का प्रयास है । 'मां', 'तुम', 'मुझ', 'विश्वास', 'क्यों नहीं' विशिष्ट दबाव और स्वर शैली के कारण उसी आग्रह को अधिक आन्तरिकता से उद्घाटित करते हैं । इसी तरह अम्बिका के पूर्ण सम्भाषण में इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास है कि भावना जीवन की स्थूल आवश्यकताओं में व्यर्थ होती है । अम्बिका के सम्भाषण में थोड़ी उत्तेजना है, जो उसके चरित्र को उभारती हुई उसके पक्ष की ध्वनि को ऊंचा करती है, 'तुम जिसे भावना कहती हैं', 'उससे जीवन की आवश्यकताएं किस तरह पूरी होती है ?' पहला कथन मल्लिका की नासमझी पर उत्तेजना के भाव से, दूसरा अवसाद की उत्तेजना से शासित है ।" .. भावना में भावना का वरण किया है ।" कथन से पूर्व का मौन 'किया है' के उच्च सुर में मल्लिका की बात को समझ के कर , " .. मैं पूछती हूं भावना में भावना का वरण क्या होता है ?" वाक्य के प्रारम्भ के मौन और उन शब्दों पर के दबाव के विरोध में पूर्ण कथन के माध्यम से मल्लिका स के पक्ष की निरर्थकता को उद्घाटित करने का प्रयास है । वह समझती है मल्लिका उसकी बात को नहीं मानती इसी कारण 'हूं !' में वह अपना विरोध व्यक्त करती है और "होगा ! मैं नहीं जानती ।" में विरोध को दृढ़ता देती है ।

सम्भाषण में ऐसी पुनरावृत्ति से लय, ताल, स्वर-शैली, सुरलहरों के उतार-चढ़ाव को महत्व मिलता है, जो अभिनेता और दर्शक को रचनात्मक प्रक्रिया में संलग्न करते हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि रंगभाषण में ऐसे गुणों को आरोपित किया जाये । ये गुण जब सम्भाषण में अन्तर्निहित अत्यावश्यकता के प्रतीक बन कर आते हैं तभी वे नाटकीय जटिलता या विशिष्टता उत्पन्न कर पाते हैं । 'विद्रोहिणी अम्बा' में अम्बा का आन्तरिक मनोमन्थन तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता है :

अम्बा : यह संसार सांप के सम्मन समान है और मैं उसकी छोड़ी हुई केंचुल हूं । नि:शक्त, नि:सहाय अबला । पुरुष की घृणा, अभिमानी का तिरस्कार । मनुष्यता का पतन । इतना अभिमान ! राजमद का इतना घमण्ड ! शाल्व ! नीच शाल्व !

> सौन्दर्य के दीपक पर जल मरने वाले पतंगे ! रूढ़ियों
> के दास ! जाने दो, इसमें उसका दोष ही क्या है ?
> सब दोष मेरा है, मेरा । मेरा दोष । पर मैंने
> क्या किया ? इसमें मेरा क्या वश था ? जाने दो इन
> बातों को ।

क्योंकि दबाव डालने के लिए विस्मयादिबोधक या प्रश्नसूचक चिन्हों की भरमार तथा शब्दाडम्बर केवल भावहीन अभिव्यक्ति ही कर पाता है । बचकाने आवेगों को,जो कि भाषा की कलाहीनता, सपाटता, सरलता और अत्यन्त सुस्पष्टता से प्रकट होते हैं, पुन: व्यक्त करना कठिन हो जाता है । तात्पर्य कोई कल्पना बिम्ब निर्मित नहीं हो पाता है । भाषा की जिस कमजोरी के कारण अम्बा का संघर्ष स्थूल हो जाता है, वहीं 'अंधायुग' का भाषा की शक्ति बनकर अश्वत्थामा के संघर्ष को सूक्ष्मता प्रदान करता है ।

अश्वत्थामा : ....
दुर्योधन सुनो !
सुनो, द्रोण सुनो ।
मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूं अभी तक
जैसे रोगी मुर्दे के
मुख में शेष रहता है
गन्दा कफ़
बासी थूक
शेष हूं अभी तक मैं
(वक्ष पीटता है)

विराम चिन्हों का संयमित प्रयोग, तथा शब्द परियोजन की विशिष्टता अश्वत्थामा के संघर्ष को बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करती है । 'सुनो' शब्द का अतिरिक्त प्रयोग, उसका स्वरानुक्रम, उसपर डाला गया बलाघात तथा सुनो के भाव से अनुप्रेरित शैली और प्रारम्भ तथा अन्त में उसके स्थान से व्यंजित होता दृढ़ता का भाव,अन्तिम

पंक्तियों के छोटे बलाघात रहित शब्द, उनका लगभग सीधा लालित्य तथा उससे फिसलता अवसाद परस्पर विरोध में पूर्ण भाषण को विशिष्टता दे देता है। 'मैं', 'तुम्हारा', 'कायर', 'शेष हूँ' शब्दों पर पड़ा बलाघात तथा 'रोगी मुर्दे' के मुख में से अन्त तक के सम्भाषण में स्वरों मात्र का आरोह-अवरोह 'बढ़ा पीटता है' के अनुसरण में अभिनेता को, पात्र के संघर्ष की अन्तर्निहित सूक्ष्मता को ग्रहण करने का संकेत देता है।

देखा जाय तो एक श्रेष्ठ रंगभाषण में से दृश्य और वाचिक हाव-भाव को अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि जो गुण बोलने के ढंग को विशिष्टता देते हैं, वही गुण गति को, या कार्य को भी विशिष्टता देते हैं। तात्पर्य की सुर लहरियों का प्रवाह और स्वर-शैली की विभिन्नता तत्काल हाव-भाव और शारीरिक क्रिया में परिवर्तित होकर नाटक की गति का उद्घाटन करती है। यह भी निश्चित है कि प्रत्येक स्थिति पात्रों के सम्भाषण से निर्मित होती है, क्योंकि प्रत्येक सम्भाषण का स्थिति निर्माण में कुछ-न-कुछ देय रहता है। 'एक और दिन' में लड़की और स्त्री के सम्भाषण का यह स्थल है, जब लड़की अपने प्रेम का अनैतिक परिणति का उद्घाटन करते हुए स्त्री से किसी लेडी डाक्टर के बारे में पूछती है तो स्त्री उसको शादी कर लेने की सलाह देती है, तब लड़की का यह कथन पूर्ण स्थिति, तथा शाब्दिक और आंगिक कल्पना के सन्दर्भ में विशिष्ट हो जाता है।

लड़की : (हतप्रभ होकर) शादी! किसलिए? अभी तो मैंने जिंदगी को एक झलक देखा भर है। उसके रस में डूबी नहीं, उसे पूरी तरह जिया नहीं, अभी से बोर होने की सलाह दे रही हो! तुम्हारी और पापा की तरह की नीरस ज़िंदगी, ओह गाड! भूल कर भी न जीनी पड़े। जीवन से ऊबकर शादी करूँगी, जीवन से ऊबने के लिए नहीं।

पहला विराम क्षण विचार और चिन्तन का है, दूसरा क्षण सारे मिथ्या बड़ आवरणों सन्-ह पर आघात का है और तीसरा क्षण उतावलेपन से प्रारम्भ होकर

निश्चय में बदलने का है। व संयोजन में प्रयुक्त शब्द स्वयं ही लड़की के विस्मय,तीखेपन उसकी असहजता और कठोरता को व्यक्त करते हैं, जो स्वर-शैली में अपने अर्थानुरूप पात्र की शारीरिक भाव भंगिमाओं को भी प्रभावित करते हैं । उसकी शारीरिक गतिशीलता का बोध तब होता है जब वह एक-के-बाद-एक आक्रमणकारी वाक्य प्रस्तुत करती है :'शादी !' 'किसलिए ?' 'अभी तो मैंने जिन्दगी की एक झलक देखा भर है ।' 'उसके रस में डूबी नहीं', 'उसे पूरी तरह जिया नहीं' आदि । इस सम्भाषण में जब उसकी उत्तेजना तीव्र हो रही है, उसका शरीर भी क्रियाशील होकर इन शब्दों को एक प्रकार से स्त्री पर आरोपित करता है । 'शादी !' 'किसलिए ?' के मध्य क्षणिक विराम से उसका सुर ऊँचा उठता है, साथ ही शारीरिक क्रिया भी बढ़ती है और 'ओह गाड !' पर आकर सुर का प्रत्यावर्तन शारीरिक स्थिरता में भी बदलता है ।' जीवन से ऊबकर शादी करूँगी ,जीवन से ऊबने के लिए नहीं ।' स्वर शैली की दृढ़ता और सुर का माध्यमिक चढ़ाव एक पूर्ण बिम्ब के रूप में स्त्री की मान्यता की उपेक्षा को प्रकट कर देता है । देखा जाय तो रंगभाषणसे वाचिक और आंगिक क्रिया बिम्बों को अलग नहीं किया जा सकता । क्योंकि साधारण सम्भाषण भी हाव-भाव से अनुप्रेरित रहता है । नाटक में वाचिक और आंगिक क्रियाशीलता के द्वारा ही विकास के सूत्र तथा रुचि के आकर्षण बिन्दु उद्घाटित होते हैं । 'लहरों के के राजहंस' में नन्द और सुन्दरी के मध्य का यह सम्भाषण :

नन्द : हाँ, मैं कह रहा था कि सम्भव है उतने लोग न भी आएं, जितने लोगों के आने की हम आशा कर रहे हैं ।

सुन्दरी : (थोड़ा तमक कर) क्यों? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो ? कोई एक भी व्यक्ति कभी समय पर आने से रहा हो ? अस्वस्थता के कारण या नगर से बाहर रहने के कारण कोई न आ पाए, तो बात दूसरी है ।

नन्द : मैं यही तो कह रहा था कि... सम्भव है... कुछ लोगों के लिए ऐसे कुछ कारण हो जाएं। ... सोमदत्त और विशालदत्त के यहां मैं अभी स्वयं होकर आया था... ।

सुन्दरी : (आवेश में उसके पास आकर) आप स्वयं.. उन लोगों के यहां होकर आए हैं ? क्यों ? आपका स्वयं लोगों के यहां जाना... विशेषरूप से यह कहने के लिए .. यह क्या अपमान का विषय नहीं है ?

नन्द : मैं विशेषरूप से नहीं गया ... ।

पात्रों के संघर्ष और नाटक के कार्य को अभिव्यक्ति देता है । यहां पर भावक की दृष्टि विशेषरूप से सुन्दरी के कार्य और प्रतिक्रिया पर केन्द्रित होती है,क्योंकि दृश्य के प्रारम्भ से ही हम देखते हैं कि वस्तु को विकास एवं कार्य सुन्दरी की क्रियाशीलता से मिलता है । नन्द या दृश्य के अन्य पात्र भी उसके उत्प्रेरक तत्व हैं । `क्यों ? आज तक कभी हुआ है कि कपिलवस्तु के किसी राजपुरुष ने इस भवन से निमंत्रण पाकर अपने को कृतार्थ न समझा हो ?` प्रारम्भ के छोटे से शब्द `क्यों` का बलाघात और उसके बाद क्षणिक मौन के उपरान्त विराम रहित लम्बे वाक्य भय मिश्रित उत्तेजना की वाचिक,आंगिक क्रिया प्रस्तुत करता है । दूसरे वाक्य के प्राय: शब्द पर एक विशिष्ट दबाव के कारण शारीरिक क्रियाशीलता की उत्तेजना का बोध भी होता है । पूर्ण सम्भाषण में `क्यों ?` के विराम के बाद से कथन का सुर ऊंचा होता जाता है जो `.. तो दूसरी बात है` के संयोजन पर कम्पन के साथ नीचे आता हुआ उत्तेजना भय और अभिमान के बिम्ब को पूरा करता है । सुन्दरी के दूसरे सम्भाषण में,वाक्य संयोजन के बीच-बीच में विराम, स्वर-शैली की उत्तेजना और तीखापन,गम्भीर लय से नियमित है । आहत अनुभव करते हुए आवेश का प्रकटीकरण, जो वस्तुत: आन्तरिक भय और स्वाभिमान की रक्षा का है, शारीरिक गतिशीलता द्वारा अपने पक्ष को विशिष्टता से अभिव्यक्त करता है । सुन्दरी की प्रतिक्रिया और उद्घाटित होता व्यक्तित्व कार्य के अनुसरण का एक बिम्ब देता है,जिसके आधार पर हम नाटक के कार्य को आत्मसात करते हैं । यही वह बिम्ब है जो तीसरे अंक में भावक को यह कल्पना करने पर बाध्य करता है कि जब केशमुंडित नन्द लौट कर आयेगा तो सुन्दरी का आहत सौन्दर्य किसी तीव्र संघर्ष की स्थिति को प्रस्तुत करेगा । सुन्दरी की

कार्यशीलता नन्द के विरोध में होता है और अभिनेता नन्द भी प्रस्तुत सम्भाषण के आधार पर अपने कार्य को पहचानता है । 'हां, मैं कह रहा था कि सम्भव है उतने लोग न भी आएं' उस सत्य को कि लोग नहीं आयेंगे, घुमा-फिरा कर रखा जा रहा है और अभिनेता इस घुमाव को अनुभव कर स्वर के आरोह-अवरोह में, अंगों की निष्क्रिय क्रियाशीलता में व्यक्त करेगा । 'कह रहा था', 'सम्भव है' 'उतने लोग', 'न भी आएं' 'जितने लोगों की हम आशा' शब्द इसी भाव को प्रकट कर नन्द की सक्रिय स्थिरता को उद्घाटित करते हैं । उसके दूसरे सम्भाषण में भी यही प्रयास है, कि वह सुन्दरी को आहत किये बिना सत्य बता सके । द्विविधा का भाव, जो सत्य कहना भी चाहता है और श्रोता को पीड़ित और व्यथित भी नहीं, भाषा की श्रेष्ठता में उभरता है, जो कि अभिनेता के आंगिक और वाचिक अभिनय को निर्देशित करेगा तथा नाटक के कार्य को विकास का सूत्र भी देगा ।

'अंधा युग' में अश्वत्थामा के सन्दर्भ का सम्पूर्ण सम्भाषण, चाहे वह स्वगत ही क्यों न रहा हो, वाचिक और आंगिक बिम्बों में तीव्र नाटकीय क्रियाशीलता को अभिव्यक्त करता है । भाषा संयोजन में निहित संगीत वैशिष्ट्य इतना प्रभावोत्पादक है कि पाठक भी पात्रों की मानसिक और शारीरिक गतिशीलता को अनुभव करता है । यहां धर्मवीर भारती ने विरोध में सशक्त तथा प्रभावशाली क्रिया रंगों को उभारा है ।

अश्वत्थामा : मिल गया !
मिल गया !
मातुल मुझे मिल गया

....

कृपाचार्य : क्या मिल गया वत्स ?

अश्वत्थामा : मातुल !
सत्य मिल गया
बर्बर अश्वत्थामा को :

कृत वर्मा : यह घायल कटा पंख

अश्वत्थामा : जैसे युधिष्ठिर का अर्द्ध सत्य
घायल और कटा हुआ !

कृपाचार्य : कहां जा रहे हो तुम !

अश्वत्थामा : पाण्डव शिविर की ओर
नींद में निहत्थे, अचेत
पड़े होंगे सारे
विजयी पाण्डवगण !

(अपना कमरबन्द कसता है)

कृपाचार्य : अभी ?

अश्वत्थामा : बिलकुल अभी

....

कृतवर्मा : यह सेनापति का आदेश है ?

अश्वत्थामा : (बिना सुने) तुमने कहा था
नरो वा कुंजरो वा !
कुंजर की भांति
मैं केवल गदाघातों से
चूर करूंगा धृष्टद्युम्न को !
पागल कुंजर
मैं कुचलो कमल-कली की भांति
छोड़ूंगा नहीं उत्तरा को भी
जिसमें गर्भित है
अभिमन्यु-पुत्र
पाण्डव-कुल का भविष्य !

कृपाचार्य : नहीं ! नहीं ! नहीं !
यह मैं नहीं होने दूंगा !

अश्वत्थामा : होकर रहेगा यह !
साथ नहीं दोगे तो
अकेले मैं जाऊंगा
जाऊंगा
जाऊंगा !

अश्वत्थामा की क्रियाशीलता को तनाव की एक स्थिति से उग्र,प्रचण्ड और दृढ़ निश्चयात्मक घोषणा में विकसित होते हम सुनते और देखते हैं । मानसिक पीड़ा और द्विविधा की स्थिति प्रत्यक्ष निर्णय में बदलती है तो कथन का धीमा सुर और शरीर का स्थिर अव्यवस्थित संचालन ऊंचे,तीखे सुर तथा पूर्ण शरीर की मांसपेशियों के तनाव और उनकी तत्परता में बदलता है । 'मिल गया !' 'भाकुल!' 'सत्य मिल गया' के विस्मयादि बोधक चिन्ह तथा तीसरे वाक्य में चिन्हहीनता तथा अन्त में 'होकर रहेगा यह !' के संयोजन की दृढ़ घोषणा, प्रारम्भिक शब्दों से ध्वनित उल्लास के विरोध में प्रतिशोध के भाव को ग्राह्य बनाती है । प्रारम्भ के सम्भाषण का संयोजन :छोटे वाक्य, उनका ठहराव और विशेषण के रूप में प्रयोग, 'सत्य मिल गया' का नाटकीय उद्घाटन : 'नींद में निहत्थे, अचेत पड़े होंगे सारे विजयी पाण्डवगण सब मिलाकर,अश्वत्थामा द्वारा अपने आन्तरिक संघर्ष की वाह्य परिणति के रूप का निर्णय लेने अर्थात् उसके चिन्तन तथा कार्य को अभिव्यक्त करता है । इसी कारण भाषा के अनुरूप स्वर-शैली तथा उसकी शारीरिक अभिव्यक्ति में एक प्रकार का मध्य स्तर होगा । 'बिल्कुल अभी' एक विस्फोटक स्थल है, जो स्वर-शैली तथा शारीरिक अभिव्यक्ति में तीव्रता लेता है । कृतवर्मा की बात को बिना सुने अश्वत्थामा का अपनी क्रियाशीलता को वाचिक रूप में दोहराना अभिनेता अश्वत्थामा तथा भावक को उसके आन्तरिक भाव को ग्रहण करने की शक्ति देता है ।'होकर रहेगा यह ! साथ न नहीं दोगे तो अकेले मैं जाऊंगा,जाऊंगा ।' में वह अपनी दृढ़ता बलात्मक स्वराघात तथा शारीरिक दृढ़ता में दिखलायेगा । प्रथम'जाऊंगा' दृढ़ता, दूसरा 'जाऊंगा' प्रतिशोध,तीसरा 'जाऊंगा' अभी इसी वक्त के हाव-भाव का एक बिम्ब देता है । 'मिल गया !' से सुर का चढ़ाव बढ़ते-बढ़ते 'जाऊंगा' में चरम पर पहुंचता है, उसी तरह आरम्भिक 'मिल गया' के उल्लास से प्रारम्भ हुई शारीरिक क्रियाशीलता 'जाऊंगा' तक आते-आते प्रचण्ड,उग्र,तथा आवेशपूर्ण भाव से संचालित होती है और अन्तिम 'जाऊंगा' में शीघ्रातिशीघ्र प्रस्थान, बहुत सम्भव है कोई अभिनेता उसे प्रस्थान करते हुए ही बोले, की क्रिया तीव्र होती है, जिससे आगे की घटनाओं और कार्य-व्यापार की व्यंजना होती है ।

अश्वत्थामा ही चूंकि यहाँ पूर्ण कार्य का वहन और दिशा-निर्देश करता है, इसलिए हमारी रुचि उसी पर केन्द्रित रहती है, कृपाचार्य और कृतवर्मा उसके कार्य द्वारा अभिव्यक्त नाटकीय कार्य में उत्प्रेरक, किन्तु महत्त्वपूर्ण, का काम करते हैं । उनके छोटे वाक्य अश्वत्थामा के विरोध में जिज्ञासा, शंका, तथा घृणित कार्य के प्रति विरोध वाचिक तथा आंगिक बिम्बों में अभिव्यक्त करेंगे । कृपाचार्य का, अश्वत्थामा का निर्णय सुनकर, 'नहीं ! नहीं ! नहीं ! यह मैं नहीं होने दूंगा ।' कथन उसके भाव को स्पष्ट करेगा । अभिनेता अश्वत्थामा अपनी प्रतिक्रिया को उन तक सम्प्रेषित करने में जिस हाव-भाव से कार्य करेगा, उसमें तत्काल ही उनके हाव-भाव की स्थिति भी स्पष्ट हो उठेगी ।

इन उद्धरणों में सम्भाषण के माध्यम से पात्रों की क्रियाशीलता तथा उस क्रियाशीलता से पूर्ण नाटक के विकास की दिशा का ज्ञान होता है तथा अभिनेता पंक्तियों को पढ़कर उसके अन्तर्निहित भाव को पूर्णत: आत्मसात् कर उसे पूर्ण शारीरिक क्रिया सुर के आरोह-अवरोह और उसके अनुरूप अंगसंचालन, में अभिव्यक्त करता है । इसका तात्पर्य यह नहीं कि पात्र हाथ-पांव ही चलाये तो गति का बोध होगा, गति रंगभाषण का अन्तर्निहित तत्त्व है, प्रवाह या चिन्तन का ऐसा क्रमिक विकास है जो पात्र को एक पूर्ण मन:स्थिति का क्रमश: उद्घाटन कर सके या एक पूर्ण स्थिति का क्रमश: निर्माण कर सके । 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका जब यह कहती है कि ' उनके सम्बन्ध में कुछ मत कहो मां, कुछ मत कहो.. ।' तो भावक के सामने उसकी एक पूर्ण मन:स्थिति का चित्र प्रकट होता है, जो भावक के मानस-पटल पर अंकित उसके चित्र को अपनी अर्थवत्ता से संचारित करता है, जैसे कोई चलचित्र प्रस्तुत किया जा रहा है । मनोव्यथा और फिर भी आस्था, बीता उसका अतीत और आगत की कल्पना एक साथ इस सम्भाषण में केन्द्रित हो जाती है, तथ्य सजीव

बन जाते हैं, देखा जाये तो यही रंगभाषण की गति है । परम्परा से अलग हटकर लिखे जाने वाले नाटकों में भाषा की गति भिन्न रूप लेती है । वहाँ गति के अन्तर्निहित व अनुभव हैं और प्रत्यक्षत: भाषा उस अनुभव पर दबाव डालकर नाटकीय क्रियाशीलता का उद्घाटन करती है । 'तीन अपाहिज' में :

भाषा द्वारा अभिव्यक्त होकर भावक की रुचि को केन्द्रित करते हैं । नाटक के सभी तथ्यों का उद्घाटन कर रंगभाषण अपने प्राथमिक कार्य को सम्पन्न करता है ।

नाटक का सम्प्रेषण / नाटक की अभिव्यक्ति के साथ ही एक श्रेष्ठ नाटक का काव्यात्मक रंगभाषण नाटक के अन्तर्निहित अर्थों का सम्प्रेषण करता है । अन्तर्निहित अर्थ से तात्पर्य उन विशिष्ट विचारों, मनोभावनाओं और कल्पना बिम्बों से है जो पात्रों के पारस्परिक व्यवहार और सम्भाषण को नियमित करते हुए भी उनके पारस्परिक व्यवहार और सम्भाषण में लुप्त रहते हैं । तात्पर्य जब हम दो पात्रों को परस्पर सम्भाषण में संलग्न देखते हैं, तो हम दोनों के कथन और व्यवहार को सुगमता से सुनते और देखते हैं, किन्तु उससे जो ग्रहण करते है वह किसी तथ्य मात्र के प्रस्तुतीकरण से बहुत परे की चीज़ है । वह दो व्यक्त अर्थों के बीच निहित एक तीसरा अर्थ है, जिसे भावक दो पात्रों के विरोधी सम्भाषण की संगीतात्मक स्वर-संगति के रूप में ग्रहण करता है, या जब एक पात्र को एक स्थिति में, जितना वह जानता है उससे अधिक उस स्थिति में कहते हुए सुनता है, जिसे वह प्रभावित करेगा, तो भावक के निकट एक विशिष्ट अर्थ व्यंजित हो जाता है । नाटक में अन्तर्निहित ये अर्थ वस्तुत: नाटककार का प्रक्षेपण है, परोक्ष रूप से वह स्वयं नाटक का एक पात्र है और अपने सम्भाषण को प्रत्यक्षत: न कहकर व्यंजना के स्तर पर उसका अनुभव कराता है । इस तरह अन्तर्निहित अर्थों का सम्प्रेषण नाटकीय व्यंग्य के रूप में होता है[१] ।

व्यंग्य और रंगभाषण पृथक्करणीय नहीं है, क्योंकि दोनों का मूल नाटककार की काव्यात्मक परिकल्पना में रहता है । सम्प्रेषण के स्तर पर भावक सतर्कता से नाटक के विकास का अनुसरण उसकी खोज करते हुए करता है, किन्हीं संकेतों का अर्थ निर्णय करता है, पात्रों के कार्य के तल में देखता है तथा दो पंक्तियों के मध्य के सूक्ष्म शब्दों को सुनता है, जिससे नाटक के सूक्ष्म अर्थ निर्णय, विचार या संवेदना को वह ग्रहण कर सके, अनुभव कर सके ।

नाटक में अन्तर्निहित अर्थ के सम्प्रेषण में नाटककार के सभी साधन, साहित्यिक शब्दों से गति और निश्चलता के असाहित्यिक प्रभाव तक, अंगभूत रूप में व्यवहृत होते हैं जो कि प्रदर्शन में अविभाज्य हैं । यूं साधारणतया वाचिक और आंगिक अभिनय की एकता

---

१ जे० एल० स्तयान : "द एलिमेण्ट्स आफ़ ड्रामा", पृ०५२-५३
द्रष्टव्य- पाल स० बयूवेट : थी:अन ड्रामा फॉर क्लासिक्स

या विसंगति एक ही बिम्ब का दोहरा विस्तार प्रस्तुत करते हैं:

इसी तरह
इसी तरह
मेरे मुखे पंजे जाकर दबोचेंगे
वह गला युधिष्ठिर का

(अंधा युग)

संजय का गला दबाते हुए अश्वत्थामा का यह कथन एक ही विचार के दो विस्तार है। व्याख्यात्मक शब्द उसकी क्रिया को स्पष्ट करते हैं, परिणामतः दोनों विस्तार एक कार्य को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु यहां :

कल्लू : (फोंक कर उठना बन्द करता है।) उठकर।
सल्लू : ओ, उठकर! (और आराम से बैठ जाता है।)
गल्लू : (लेटते हुए) कहां ?

कार्य और उसका शाब्दिक विवरण दो विरोधी चित्र देते हैं। कल्लू, सल्लू, गल्लू जो कहते हैं करते नहीं, विवरण और कार्य की विसंगति से हम नितान्त भिन्न अर्थ पात्रों का आलस्य या अपाहिजत्व, ग्रहण करते हैं।

बाह्य उपकरणों यथा प्रकाश और संगीत का प्रयोग : 'आधे अधूरे' के अन्त में "उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है" नाटक के सूक्ष्म अर्थों को सम्प्रेषित करता है।

जीवन्त उपकरणों का प्रयोग : 'तांबे के कीड़े' में अनाउन्सर का झुनझुने को बजाना या बजाने पर भी उसकी आवाज़ का न निकलना, व्यंजित संवेदना को तीखा करता है:

तथा किसी एक नाटकीय स्थिति में पात्रों का व्यवहार और उनकी स्थिति, 'एक और दिन' में भोजन-कक्ष की मेज पर सभी पात्रों का होना और उनका व्यवहार नाटक के निहित विचार की सूक्ष्म अभिव्यक्ति है, भी नाटक के अर्थों को सम्प्रेषित करते हैं, किन्तु मुख्यरूप से रंगमंचीय अर्थों का सम्प्रेषण रंगमंच पर हो रहे कार्य तथा भावक के मस्तिष्क में हो रहे कार्य की पहचान से होता है। रंगमंच पर जब दो पात्र संभाषण करते हुए किसी तथ्य का उद्घाटन करते हैं, तो भावक एक कुशल द्रष्टा की भांति उस

लुप्त अर्थ को ग्रहण करता है, जिसे उसकी अपेक्षा कोई नहीं जान पाता । रंगभाषण भावक को तीसरी आंख देता है, जिस कारण उसकी दृष्टि पात्रों को सुनते और देखते हुए बीच में धंसती चली जाती है; और ग्रहण किये ज्ञान को रहस्य की भांति छिपाये भावक नाटकीय विकास में अपनी रुचि को विशिष्ट दबाव से केन्द्रित रखता है । ज्ञान की शक्ति के कारण भावक रंगमंच के कार्य से कुछ आगे चलता है । रंगमंच पर जो हो रहा है वह 'आगे क्या हो सकता है' के रूप में उसका मस्तिष्क कार्य करते हुए एक नये अर्थ का निर्माण करता है और पहले बिम्ब की परिणति नाटकीय व्यंग्य के रूप में अर्थों को विशिष्टता दे जाती है । उदाहरणार्थ 'अंधा युग' में प्रथम अंक में याचक के सम्भाषण " मैं तो हूं झूठा भविष्य मात्र..." तथा गांधारी के कथन 'होगी, अवश्य होगी जय' के प्रभाव सूत्र में हम अन्य अर्थ को ग्रहण करते हैं कि दुर्योधन पराजित होगा, इस कल्पना के कारण तीसरे अंक की घोषणा :

" प्रहरी १ : संजय यह समाचार लाए हैं

विदुर ‖
युयुत्सु ‖ : (आकुलता से) क्या ?

प्रहरी १ : द्वन्द्व युद्ध में...
राजा ...
दुर्योधन...
... पराजित हुए । "

में हमारी रुचि पात्रों के कार्य का अनुसरण नहीं करती, पर इसके परिणाम को जानने के लिए सतर्क होती है । दुर्योधन की पराजय के समाचार पर भावक अपने प्रभाव को घनीभूत रूप में अनुभव करता है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया घटना के प्रति नहीं है, पर मस्तिष्क के कल्पना बिम्ब के प्रति है कि 'यह तो मालूम ही था ऐसा होगा' और तब प्रहरी के सम्भाषण को सुनते और देखते हुए 'आगे क्या होता है' के अन्तर्निहित अर्थ की खोज भावक करता है ।

रंगभाषण द्वारा व्यंग्य रूप में ग्रहण किए गए ये अर्थ अस्थिर और चंचल रूप में पूर्ण नाटक के सम्प्रेषण के साधन के रूप में रंगभाषण में निरन्तर अन्तर्निहित रहते हैं, क्योंकि एक अर्थ बिम्ब या व्यंग्य का एक प्रभाव तब तक अधूरा रहता है, जब

तक कि पूर्ण नाटक सम्पन्न नहीं हो जाता है । किन्तु व्यंग्य को संभाषण का अलंकार नहीं कहा जा सकता पर यह पूर्ण नाटक को विरोधों और विसंगतियों के मध्य से देखने की दृष्टि है । स्तयान[1] के शब्दों में यह वह प्रक्रिया है जो भाषण तथा कार्य में व्याप्त हो जाती है और जिसकी संवेदनाय चुभन तब होती है जब कि किसी प्रभाव-सूत्र का संयोजन या स्वर-शैली तथा हाव-भाव का क्रमविस्तार तक प्रस्तुत होता है । इस प्रकार नाटक वही अर्थ देता है जो कि इस प्रकार पात्रों को ग्राह्य कराये जाते हैं । षष्ठ परिच्छेद या इस परिच्छेद में उद्धृत किसी भी प्रभावसूत्र या अंश को लें तो अनुभव होगा कि दो पात्रों के सम्भाषण के मध्य एक व्यंग्यात्मक क्षण रहता है, जिसे ग्रहण करना भावक की क्षमता पर भी निर्भर करता है । 'कोणार्क' में राजीव द्वारा धर्मपद का परिचय जिस पूर्व सम्भाषण द्वारा निर्मित अर्थों की पृष्ठभूमि में किया जाता है उस सम्पूर्ण कार्य के संयोजन में व्यंग्य धर्मपद के आगमन पर केन्द्रित होता है और सम्भाषण के मध्य एक गौण अर्थ भावक के मस्तिष्क में एक रूप लेता है कि 'धर्मपद विद्रोही और उग्र प्रकृति का व्यक्ति होगा' और इस तरह उसके आगमन से पूर्व ही उसके कार्य की अनुभूति 'विल्व' कर जाती है । 'आषाढ़ का एक दिन' के निम्न प्रभाव सूत्र में यह व्यंग्य अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल रूप में सम्प्रेषित होता है :-

कालिदास : इसका अर्थ है तुमसे विदा लूं ?
(मल्लिका जैसे सहसा चिहुंक उठती है ।)

मल्लिका : नहीं । विदा तुम्हें नहीं दूंगी । जा रहे हो इसलिए केवल प्रार्थना करूंगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो ।
(उसके हाथ छोड़ देती है।)
जाओ ।

यहां हम कालिदास और मल्लिका के कथन पर सम्भवत: उतना ध्यान न दें जितना कि उससे व्यंजित होते अर्थ पर । कालिदास का कथन एक प्रभाव दे देता है और मल्लिका का कथन दूसरा प्रभाव । 'विदा लूं' के अर्थ में नाटक के विषय का एक सूत्र मिलता है, 'कालिदास का प्रस्थान और 'जाओ' के अर्थ में दूसरा सूत्र उनको परस्पर आस्था और विश्वास का मिलता है । इन प्रभावों के समन्वय पर व्यंग्य

1. जे० एल० स्तयान : 'द एलमेन्ट्स आफ़ ड्रामा'

रूप में उनके त्रासद भविष्य का, उनके जीवन की विडम्बना का एक अर्थ हम ग्रहण कर लेते हैं ,जिसके आधार पर पूर्ण नाटकीय अर्थों का सम्प्रेषण घनीभूत रूप में होता है ।

नई परम्परा के नाटकों में आन्तरिक अर्थ का सम्प्रेषण भिन्न रूप में कुशलता से होता है । प्राय: नाटकों के प्रारम्भ में नाटककार नाटक की संवेदना का एक मुख्य सूत्र देता है, जो कि भावक के मस्तिष्क में,अन्तर्निहित विचार का,पृष्ठभूमि सा प्रभाव डालता है । 'तांबे के कीड़े' में :

अनाउन्सर : (हाथ के झुनझुने को हिलाकर) अकेले और बेसरोसामान
हम इस संसार में आए ।
(स्क्रीन के पीछे से कुछ गम्भीर मर्दानी आवाजें)
कौन कौन यहाँ सदा अकेला नहीं रहा ?
किस किस ने अपने पड़ोसी का चेहरा पहचाना ?

....

अनाउन्सर : हम सवाल उठाते हैं ....

प्रस्तुति की सरलता में भावक की प्रतिक्रिया सूक्ष्म,जटिल और संवेदनशील हो जाती है । जिसका कारण नाटककार द्वारा अपने सम्भाषण में दृश्य तथा वाचिक विस्तार को प्रस्तुति के लिए विशिष्ट शैली को अपनाया जाना है । रंगमंच का विवरणात्मक कार्य भी नगण्य है, किन्तु नाटक की प्रथम पंक्ति में एक स्थापना और फिर उसके उपक्रम में प्रश्नों का होना नाटक के विषय ब्रह्माण्ड में व्यक्ति की स्थिति क्या है, को एकसूत्र देता है, और अन्तर्दृष्टि के आधार पर भावक के मस्तिष्क में मनुष्य जीवन की त्रासदी का एक बिम्ब निर्मित होता है, जो पूर्ण नाटक की संवेदना को ग्राह्य बनाने में सहायक होता है । लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'अपना-अपना जूता' का यह प्रभाव सूत्र लें :

तमंचा वाला : (निराशा का स्वर) यह जिन्दगी बेमाने
थैली वाला : (व्यंग्य का स्वर) हम सब बैठे हुए पैताने
शराबी : (व्यंग्य) बिकते हुए पैमाने
थैली वाला : (व्यंग्य) यह उड़ती हुई फब्तियां
शराबी : (निराशा का स्वर) अंधियारी तख्तियां
थैली वाला : (व्यंग्य) हर जगह तस्वीरें,कैलेण्डर,पोस्टर

शराबी : (व्यंग्य) पांसा खेलते नंगे शिव पार्वती

तमंचावाला : (व्यंग्य) श्रहारती राधा और मटकाता

शराबी : हिलते हुए जिस्म

थैलीवाला : रगड़ते हुए अंग

तमंचावाला : बहता हुआ सौन्दर्य

थैलीवाला : बन्द लिबास तंग

शराबी : चटखते कुलते-कुलते फौलाद

तमंचा वाला : रिसता मिट्टी

थैलीवाला : फैलता जंग

समवेत : जंग

जंग

जंग

देखा जाय तो सम्भाषण को विरोधहीनता आन्तरिक विसंगति को प्रस्तुत करता है । यहां सभी कथन एक-दूसरे को पोषित करते हैं ।और शक्ति देते हैं, किन्तु ~~xxxxx~~ भावक की कल्पना-शक्ति अस्त व्यस्त हो जाती है, और वह विमूढ़ सा होकर इन कथनों के अर्थों को जोड़ता है, क्योंकि अलग-अलग रूप में देखने पर रंग-भाषण द्वारा निर्मित अर्थ भावक के अर्थ से,हो सकता है, तार्किक संगति नहीं रख पाये । ये पात्र जो कह रहे हैं, वास्तव में वह एक चिन्तन के अनेक पदार्थों को व्यक्त करता है । रंगमंचीय व्यापार और अपने मस्तिष्क के अर्थ-बिम्ब के मध्य के अन्तराल को भरने के लिए भावक जब पूर्ण प्रभाव सूत्र को एक अनुभव की जटिलता से जोड़ता है, तो चहुंमुखी युद्ध में, संघर्ष में जिन्दगी की अर्थहीनता का बोध होता है । या यह कि जिन्दगी की सार्थकता पर शंका की स्थिति फैलते हुए जंग में बदल जाती है ।

इन नाटकों की प्रस्तुति और रंगभाषण में कोई जटिलता नहीं है किन्तु भावक की प्रतिक्रिया संवेदनशील और सूक्ष्म हो जाती है,क्योंकि इनमें व्यंग्यों का सम्मिश्रण है । प्रेक्षक की प्रतिक्रिया की जटिलता नाटककार द्वारा अपने सम्भाषण के दृश्य या वाचिक कल्पनाओं के विवरण के संयोजन की शैली के कारण है ।

नाटक की संरचना

जब हम नाटक में अन्तर्निहित लुप्त अर्थों की खोज करते हैं तो यह खोज नाटक के समापन तक निरन्तर जारी रहता है, क्योंकि नाटकीय अर्थों के सम्प्रेषण द्वारा निर्मित प्रभाव निरन्तर गतिमान रहते हैं। अन्तर्निहित अर्थों की खोज करते हुए पाठक और अभिनेता इस बात का भी संवेदाण करता है कि साधारण बोलचाल के शब्द विशिष्ट क्योंहो जाते हैं, अर्थात् पात्रों में विशिष्ट चिन्तन की कड़ियां और प्रभावों के निर्माण के संरचनात्मक तत्व क्या है। सम्भाषण में निहित ये कड़ियां और तत्व भावक तथा अभिनेता के पूर्ण कार्य और चिन्तन के निर्देशक हैं, जिन्हें स्तानिस्लावस्की ने नाटक के 'उप विषय' (*Subtext*) माना। उसके अनुसार उपविषय एक नाटक या एक दृश्य के अन्दर असंख्य, विभिन्न रूपों का जाल है जो कि 'मायावी यदि' (*magic ifs*) दी गयी परिस्थितियों, कल्पना के अनेक प्रकार के बिम्बों, आन्तरिक गतिशीलता, आकर्षण बिन्दुओं, साधारण या महान् सत्य और उनमें विश्वास, रूपान्तर और समन्वय तथा ऐसे ही अन्य तत्वों से गुम्फित है। यह ऐसा उपविषय है जो कि हमें उन शब्दों को कहने को बाध्य करता है, जिन्हें हम करते हैं।[१] एक अन्य स्थल पर वह कहता है कि नाटक का पूर्ण विषय उपविषयात्मक कल्पना-बिम्बों से सम्पृक्त है, जो एक गतिमान चलचित्र की भांति अन्तर्दृष्टि के कैनवैस पर निरन्तर रहकर हमें रंगमंच पर बोलने और कार्य करने के लिए निर्देशित करता है।[२] स्तानिस्लावस्की की परिभाषा के अनुसार रंगभाषण की संरचनात्मक शक्ति एक प्रकार से अनुपस्थित नाटककार की जगह पर उपस्थित रहकर संवाद विशेष को अनुभव और चिन्तन करने बोलने और करने, प्रयोग और व्यवहार का निर्देश देती है। रंगभाषण की इसी संरचनात्मक शक्ति की पहचान कर स्टयान ने नाटक को शब्दों की कला नहीं पर उनके व्यवहार की कला माना और कहा कि नाटक एक जाले (*web*) की भांति

---

१ स्तानिस्लावस्की :बिल्डिंग्ग द कैरेक्टर, पृ० ११३

२ ,, : ,, पृ० ११४

एक क्षण बोलने का होता है तो दूसरा क्षण मौन का, एक क्षण यदि शारीरिक गति का बोधक है तो दूसरा क्षण हाव भाव का, एक क्षण परिवर्तन का द्योतक है तो दूसरा क्षण विरोध का, ~~एक क्षण~~ और एक क्षण सुर के चढ़ाव का है तो दूसरा क्षण निश्चय ही उतार का ; इन क्षणों में नाटकीय सक्रियता भावक के मस्तिष्क में अन्तर्निष्ट होती है, क्योंकि इन क्षणों में वह नाटकीय विशिष्टता को अन्तर्निहित देखता है, और उसे अपनी क्षमता के अनुसार ग्रहण करने का प्रयास करता है । रंगभाषण की इस विशिष्टता के कारण ही एक नाटक ~~के~~ के दो प्रदर्शन या एक नाटक के दो विश्लेषण एक जैसे नहीं हो सकते । कमलेश्वर जब 'शुतुरमुर्ग' की दो प्रस्तुतियों को दो अर्थों से जोड़ते हैं, सत्यदेव दुबे और ई०अल्काज़ी 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रस्तुति में दो भिन्न संवेदनाओं पर दबाव देते हैं 'अंधायुग' का प्रदर्शन फिरोजशाह कोटला की ऐतिहासिक दीवार के सामने मुक्ताकाश में प्रस्तुत होने पर एक अर्थ देता है और इलाहाबाद के पैलेस थियेटर में प्रदर्शित होने पर दूसरा अर्थ, तो निःसन्देह ऐसा भाषा में निहित बिम्बों को ग्रहण करने की क्षमता के कारण होता है ।

नाटक पढ़ते हुए रंगभाषण में निहित रंग, सुर गति, लय आदि उभरने लगते हैं और पाठक के मन में नाटक का एक इमेज़ या बिम्ब अंकित हो जाता है । अधिक से अधिक बिम्बों का निर्माण, क्रैग ने अपनी पुस्तक 'ऑन आर्ट आफ़ द थियेटर' में बताया कि नाटककार के निर्देश न रहने पर सम्भव होता है, क्योंकि उसके अनुसार पाठक के मन में बनते नये बिम्ब इन निर्देशों के कारण नष्ट हो जाते हैं[1] । इन आधारों पर ~~...............~~ कहा जा सकता है कि रंगभाषण में संरचनात्मक शक्ति होती है, जिसकी अनुभूति हमें भाषा के कुछ विशिष्ट गुणों के कारण होती है, जो रंगभाषण में सन्तुलित प्रयोग की अपेक्षा रखते हैं ।

क: विरोध

ख: विराम या मौन

ग: स्वर शैली

---

१ एडवर्ड गार्डन क्रैग : 'ऑन द आर्ट आफ़ द थियेटर' , पृ०१५३-१५४

घ : हाव भाव

ङ० : गति[1]

विरोध — रंगभाषण में कोई भी दो सम्भाषण एक जैसे नहीं होते हैं । पूर्ण नाटक का अस्तित्व ही विरोधों के सामंजस्य में है । हो सकता है कहीं यह विरोध अगोचर हो, पर दो संवादों में विरोध की एक आन्तरिक स्थिति होती है, जिनको हम अनुभव करते हैं, पढ़ते हुए भी और रंगमंच पर तो निःसंदेह उनकी अनुभूति तीव्र हो उठती है । क्योंकि एक पात्र को सुनते हुए दूसरे पात्र की प्रतिक्रिया द्वारा हम उसके कथन को सम्पुष्ट करते हैं । मल्लिका और अम्बिका के मध्य 'भावना में भावना का वरण' को लेकर जो विरोध है, वह उनके सम्भाषण में निहित विरोध से प्रकट होता है । मल्लिका के कथन का 'पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है .. ।' रूप है । यहां प्रत्येक मुख्य शब्द के बाद 'है' शब्द के प्रयोग से पूर्ण वाक्य में विशिष्टता आती है । क्योंकि मुख्य शब्द को जो बल मिलता है वह 'है' के प्रयोग में अन्तर्निष्ट होता है तथा वाक्य को अधूरेपन का चिन्ह देकर एक साधारण विराम चिन्ह से समाप्त करना एक कथन के अर्थों की गम्भीरता और महत्ता को पोषित करता है । किन्तु दूसरा वाक्य जो अम्बिका का कथन है 'पवित्र, कोमल और अनश्वर !' न तो 'है' के प्रयोग से पुष्ट है न ही वहां वाक्य के अधूरेपन का संकेत है । इस कारण यहां किसी ठहराव का अनुभव न होकर तीव्रता

---

१ जे०एल०स्टयान ने अपनी पुस्तक 'द ड्रैमैटिक एक्सपीरिएन्स' में श्रव्य तत्वों में 'टैम्पो', 'साउंड्स', 'टोनस', 'सांग', 'स्पीच', 'कैरिक्टर', 'नैरेटिव' को रखा और आवाज(वॉइस) में भिन्नता लाने के 'फ़ाक्टर' 'पीस', 'प्रैशर', 'पेस', 'पावर' 'पिच', 'पॉज़' या 'फ़ाक्टर' एस : 'स्ट्रैस', 'स्पीड', स्ट्रैन्गथ' 'सांग', 'साइलेन्स' को महत्वपूर्ण तत्व माना, स्तानिलावस्की ने 'बिल्डिंग द कैरिक्टर' में विशेष महत्व विराम(पॉज़) स्वर-शैली(इन्टोनेशन) तथा हावभाव (जेस्चर), को दिया, इसी तरह अन्य विद्वानों पोर्कोफ, क्लीन्थ ब्रुक्स, केग्ग आदि ने भी किसी-न-किसी रूप में रंगभाषण को इन्हीं गुणों के कारण रचनात्मक माना है । उस सारे विस्तार को उपरोक्त पांच आयामों में देखा गया है ।

का अनुभव होता है,और पूर्ण वाक्य के बिम्ब निर्माण को विशिष्ट सहायता मिलती है . वाक्य के अन्त के विस्मयादिबोधक चिन्ह से,जो वाक्य को तीव्रता और व्यंग्य की अनुभूति देता है । मल्लिका के विरोध को मस्तिष्क में रखकर अम्बिका के कथन की विशिष्टता पोषित हो जाती है या इसके विपरीत,मल्लिका के कथन में अम्बिका के विरोध की कल्पना हो जाती है ।

बहुत बार ऐसा भी होता है कि वाक्य संयोजन एक सा होने पर दो पात्रों द्वारा उनका प्रयोग दो भिन्न अर्थ देते हैं । बाह्य एकरूपता में आन्तरिक विरोध से पुष्ट होने पर अर्थ अधिक सूक्ष्म रूप से व्याप्त हो जातेहैं और अभिनेता को संरचनात्मकता की पूरी छूट मिलती है ।'अंधा युग' का प्रहरी एक 'लेकिन रक्षणीय कुछ भी नहीं था','कहता है और प्रहरी दो "रक्षणीय कुछ भी नहीं था" कहता है । पहले वाक्य में 'लेकिन' शब्द अतिरिक्त है,शेष पूर्ण वाक्य एक से हैं । किन्तु दोनों के पूर्ण संवाद का अनुसरण करें तो पहले वाक्य का'रक्षणीय' शब्द साधारणी उदासी के अर्थ को पोषित करता है,किन्तु दूसरे वाक्य का'रक्षणीय' शब्द व्यंग्य का द्योतक हो जाता है । क्योंकि पूर्ण संवाद में दोनों वाक्यों की स्थिति भिन्न है । पहला प्रहरीउक्त उसका प्रयोग अपने पूर्ण सम्भाषण के अन्त में करता है जिसमें-उसकी आन्तरिक उदासी झलकती है और दूसरा प्रहरी इस कथन का प्रयोग अपने सम्भाषण के प्रारम्भ में करता है, जिससे उसके अन्दर की वितृष्णा उभरती है । (ध्यातव्य है कि प्रथम उद्धरण में दोनों वाक्य पूर्ण संवाद के अन्त में आते हैं) ।

कभी-कभी व्यंग्य की अनुभूति को तीखा करने के उद्देश्य से एक ही वाक्य में शब्दों के तीखे विरोध की कल्पना नाटककार करता है । उदाहरण स्वरूप'अपना-अपना जूता' नाटक का यह वाक्य है--'इतनी ज्यादा रोशनी को भी अंधेरा कहता है ।'इसके वाक्य के आगे पीछे और कोई वाक्य नहीं है,पर अपनी सशक्तता में एक पूर्ण अनुभव का एक संश्लिष्ट सूत्र यह देता है । वाक्य में एक शब्द 'रोशनी' है दूसरा 'अंधेरा' और एक विशेषण है'ज्यादा' । तीनों शब्दों का पारस्परिक विरोध समन्वयात्मक रूप में एक पूर्ण अनुभव देता है, और निःसन्देह बिना किसी अन्य सहायक निर्देश के यह एक वाक्य पूर्ण नाटक की संवेदना की भावक क्षमता के आधार पर संरचनात्मक सूत्र देता है ।

विराम या मौन रंगभाषण के इस गुण को कुशल अभिनेताओं, निर्देशकों तथा नाट्यविदों ने विशेष महत्त्वपूर्ण माना। क्योंकि सम्भाषण के मध्य में मौन होना खूबसूरत फूल में सुगंध का होना है। सम्भाषण में मौन या विराम सम्प्रेषित अर्थों को भावक के मन में रोपित करता है, अन्तर्निहित अर्थों को संरचनात्मक स्तर पर ग्रहण करने का गुप्त संकेत देता है। सम्भाषण में विराम के महत्त्व को फ़रनाल्ड के शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है : 'एक प्रभाव के प्रति प्रेक्षक पूर्णतया प्रक्रिया कर सके, उसके लिए उसे समय मिलना चाहिए, जिससे कि वह उस पूर्ण प्रभाव पर विचार कर सके। व्यवहार में इसका तात्पर्य है कि कोई भी पंक्ति जो कि एक विशिष्ट प्रभाव डालना चाहती है, और जो कि नाटकीय महत्त्व के कारण विशिष्ट दबाव की अपेक्षा करती है को नाटकीय विराम का अनुसरण करना होगा, जिससे कि वह विशेष-प्रभाव प्रेक्षकों की चेतना में विलय हो जाने का समय पा सके।'[1] इस तरह रंगभाषण में मौन का एक क्षण संचरित आवेगों, विचारों को घनीभूत रूप में भावक के मैं रोपित होने का क्षण है। 'अंधायुग' के प्रथम अंक का अनुसरण करते हुए जब हम इस स्थल पर आते हैं :

गांधारी : महाराज !
मत दोहरायें वह
सह नहीं पाऊंगी।
(सब क्षण भर चुप)

धृतराष्ट्र : आज मुझे भान हुआ।
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ।

तो धृतराष्ट्र, विदुर और गांधारी के बीच का पूर्ण सम्भाषण युद्ध की भयंकरता उसकी परिणति की जर्जरता और मनों में घर कर गई त्रासदी का जो बिम्ब देता है, वह इस मौन के क्षण में घनीभूत हो जाता है। सबके संघर्ष की पराकाष्ठा इस मौन में स्थापित हो जाती है, पात्रों के उद्वेलन की गहरी और सूक्ष्म अनुभूति रंगमंच पर मौन के इन क्षणों में एक और संवेदना की सूक्ष्मता को सम्प्रेषित करता

1. जे० फ़रनाल्ड : 'द प्ले प्रैंड्यूसड' पृ० ९६-९७

है और दूसरी ओर भावनाओं के प्रवाह का शक्ति का बिम्ब भी । ऐसा ही नाटकीय मौन का एक क्षण 'आधे-अधूरे' में तब आता है,जब महेन्द्रनाथ और सावित्री बिन्नी के प्रश्नों को फेलते हुए निरुत्तर हो जाते हैं । जिस गति से प्रारम्भ का पूर्ण संभाषण सम्पन्न होता है,उसके प्रत्यावर्तन में एक लम्बा वकफ़ा' हमारी संरचनात्मक शक्ति को उत्तेजित करते हुए कौतूहल को बढ़ाता है । साथ ही तत्काल हमारी रुचि जो कि प्रारम्भ के पूर्ण प्रभाव से एकत्र होती है,इस विराम पर वह निकलती है,और अपनी महत्ता को स्थापित कर लेती है ।

दो पात्रों के सम्भाषण में एक पात्र का मौन,सूक्ष्म संरचनात्मक तत्वों को देता है । 'आषाढ़ का एक दिन' के उद्घाटन पर वर्षा में भीग कर आई मल्लिका घर बैठी अम्बिका से निरन्तर बात करती जाती है,किन्तु अम्बिका चुप है, उसकी चुप्पी हमें क्रियाशील करती है,और उसके दीर्घ मौन में मल्लिका के संवादों के मध्य,निरन्तर काल्पनिक बिम्ब निर्मित होते जाते हैं, जो मल्लिका के इस कथन पर 'क्या हुआ है माँ ? तुम रो क्यों रही हो ?' आकर ~~वह बिम्ब~~ घनीभूत हो उठते हैं । ऐसे सूक्ष्म और संवेदनीय अनुभव मौन के क्षणों में मुखरित होकर अनायास पूर्ण नाटक को प्रदीप्त कर जाते हैं ।

स्वर-शैली — बिना स्वर शैली के मौन का महत्व कम हो जाता है,क्योंकि उपरोक्त उदाहरणों से अनुभव किया जा सकता है कि किस प्रकार वाक्य संयोजन, बोलने के ढंग का निर्देश करता है । यह भी देखा जा चुका है कि किस प्रकार भावों,विचारों और नाटकीय अर्थों का वहन भाषा करती है । वस्तुत: रंगभाषण में निहित समस्त अर्थ,विचार बोलने के ढंग को प्रभावित करते हैं । इसी कारण स्तयान मानता है कि 'शब्द जो किसी भी स्तर की भावनाओं का वहन करते हैं बिना सुर के अर्थात् आरोह-अवरोह के बोले जाने पर अपनी शक्ति खो देते हैं । सुर आवेगों की भांति गति में चंचल होते हैं और उनका प्रयोग एक स्वर-लिपि को संगीतबद्ध रूप में गाने के समान होता है । जैसे गाते हुए सुर के आरोह-अवरोह

---

१ स्तयान : 'द एलिमेन्ट्स आफ़ ड्रामा',पृ०८६

कुछ उसी प्रकार रंगमंचीय भाषा का व्यवहार
वेग आदि महत्वपूर्ण हो जाते हैं
स्वर प्रक्षेप(स्ट्रैस),घनत्व(पावर),तारत्व(स्पीड),लय(टेम्पो) गति (पेस)आरोह-
अवरोह(पिच) जैसे गुणों की अपेक्षा करता है । इन गुणों से पोषित या हीन
शब्दों में आन्तरिक सम्बन्ध रहना अनिवार्य है । दबाव की मात्रा,स्वराघात की
विशेषता का नाटकीय परिप्रेक्ष्य के साथ स्वर संगति का विधान आवश्यक होता
है,जिससे वाक्यांश को जीवन या गति दी जा सके । उदाहरण स्वरूप आषाढ़
का एक दिन' के द्वितीय अंक के अन्त में :

अम्बिका : मल्लिका !

(मल्लिका व्यथापूर्ण दृष्टि से उसकी ओर देखती है)

मल्लिका : मां !

....

अम्बिका : अब भी रोती हो ? उसके लिए ? उस व्यक्ति के
लिए जिसने .. ?

मल्लिका : उनके सम्बन्ध में कुछ मत कहो मां,कुछ मत कहो... ।

(सिसकती रहती है)

वह एक व्यक्ति के मानसिक
दोनों पात्रों के वाक्यों में अर्थों की जो पुनरावृत्ति हुई है
जो कि स्वर-शैली के
संघर्ष की सूक्ष्म,तनावपूर्ण स्थिति को अभिव्यक्त करता है,
कि कोई अभिनेता कुछ
रूप का निर्देश भी देता है । इन संवादों में हो सकता है
दूसरे आवेग देखे और जिस कारण वह इन वाक्यों को वेदनीय गम्भीरता से
बोलने की अपेक्षा तीव्रता से बोले, किन्तु अब तक के पूर्ण अर्थों की ग्राह्यता से
जो बिम्ब हमारी कल्पना में निर्मित होता है, वह यहां मुखरित होना चाहता है ।
अम्बिका और मल्लिका का पूर्ण व्यवहार कहीं हमें उत्तेजित नहीं करता पर गहन
रूप से हमारी चेतना को उद्वेलित करता है ।' अब भी रोती है ?' ,'किसके लिए ?
'उस व्यक्ति के लिए ...', वाक्य अपनी संक्षिप्तता में अम्बिका का कालिदास
पर अविश्वास और मल्लिका की भावना पर अनास्था को पुनराभिव्यक्त करते हैं ,
और मल्लिका के संवाद में' उनके' शब्द के प्रयोग पर 'कुछ मत कहो' को दोहराने
से उसके पक्ष की सूक्ष्म किन्तु दृढ़ अभिव्यंजना होती है । अन्तर्निहित सूक्ष्म,कोमल
किन्तु दृढ़विचार और भावोद्वेलन की तीक्ष्णता प्रत्येक पंक्ति की रचनात्मक का

संकेत करता है और अन्तर्व्याप्त निर्देश का अनुसरण करने पर अभिनेता प्रेक्षक के बिम्ब को स्थायित्व देता है । भुवनेश्वर, विपिन आदि के नाटकों में सुर के इस प्रकार के सूक्ष्म, कोमल या आवेगात्मक उतार-चढ़ाव कम तो नहीं हैं, पर वहां बोलने का लय महत्वपूर्ण हो जाता है । साधारणतया यह माना जाता है कि अर्थों के तनाव को प्रकट करने के लिए सुर की लय को भी तीखा किया जाता है, और स्वर शैली में उन अतिरिक्त आवेगों को वहन करने की शक्ति होती है जो भाषा में निहित रहते हैं । पर वस्तुत: शब्द आवेगात्मक नहीं होते हैं, उनके मूल में एक लय होता है जो निर्मित बिम्बों को मुखरित करता है । 'तीन अपाहिज', कल्लू, लल्लू, व गल्लू जब 'चलो', 'चलो क्या ?' 'उठकर' ।जैसे अतिसंक्षिप्त शब्दों को बोलते हैं तो बाह्य साधारणता में आन्तरिक लय है, जो संरचनात्मक तत्वों को पोषित करता है । 'भग्नस्तूप का एक उदात्त स्तम्भ' में :

> "पहला स्वर : ये जलकूप तुम्हारे लिए नहीं हैं, ये आम्रवन ब्राह्मण -कन्याओं के लिए हैं, इन झूलों पर भूपति और उनकी रक्षिताएं झूलती हैं, जब बसंत का आगमन होता है... "

जब इस सम्भाषण को हम पढ़ते हैं तो स्वर-शैली का एक साधारण रूप उभरता है पर तत्काल ही उसकी सादगी उसकी विशेषता बन जाती है, क्योंकि नाटककार सम्भवत: यह विश्वास कर चलता है कि नाटक का दबाव ही अपने प्रभाव को संरचनात्मक रूप देता है, इसकारण भाषा पर अतिरिक्त दबाव हो सकता है पूर्ण नाटकीय दबाव को नष्ट कर दे ।

इसमें सन्देह नहीं है कि रंगभाषण के व मुख्य, मर्म शब्द या वाक्य रंगमंच पर प्रयुक्त होने पर अर्थों को संरचनात्मक आयाम देते हैं । अभिनेताओं का स्वर शैली से हमारे मन में प्रारम्भ से बने बिम्ब या नाटक का कार्य जिस दिशा का संकेत देता है, वह निश्चित और प्रभावोत्पादक रूप लेता है ।

हाव-भाव हाव-भाव स्वर-शैली को पोषित करता है । क्योंकि एक पूर्ण इकाई के रूप में एक सुर व एक हावभाव को भी प्रकट करता है । मल्लिका का 'मां' कहना स्वर-शैली के जिस रूप की कल्पना देता है, उसके साथ ही वह उसके चेहरे पर आये भावों से भी पोषित होता है । क्योंकि किसी भी

वाक्य को बोलते हुए वक्ता के मस्तिष्क में जिस प्रकार की क्रियाशीलता होगी, वैसी ही स्वर-शैली होगी । इसीलिए सैमुअल सेल्डन को उद्धृत करते हुए कहा जा सकता है कि साधारणतया व्यक्ति की आवाज़ की लय उसके शारीरिक तनाव के संवेगों से सम्बद्ध है।[1] इसी तरह स्तानिस्लावस्की का यह कथन ' बोलना क्रिया करना है ।'[2] सूक्ष्मरूप से इस बात को पुष्ट करता है, किन्तु जब वह यह कहता है कि रंगमंच पर श्रवणेन्द्रियों को उतना महत्व न देकर चक्षु-इन्द्रियों को महत्व देना चाहिए[3] तो व्यवहार में यह बात उलझने लगती है । पहली बात तो यह है कि हाव-भाव का सीमा क्षेत्र स्वर-शैली के सीमा क्षेत्र से संकुचित है, क्योंकि रंगमंच में दूर बैठे प्रेक्षकों के लिए वह अर्थहीन हो जाता है, और दूसरी बात रंगभाषण का वह पोषक तत्व है और अपृथक्करणीय है । स्वर-शैली और हाव-भाव व्यक्ति की एक ही भावना से उद्भूत होते हैं, साथ विकसित होते हैं, और साथही नष्ट हो जाते हैं । 'कोणार्क' में ऐसे हाव-भाव के कारण जो कि नये और संचित व्यंग्यों को ताज़ेपन से उभारते हैं, क्रियाशीलता को स्फूर्ति मिलती है । एक-के-बाद-एक कौतूहल और नाटकीय व्यंग्यों के सजीव बिम्ब उभरते चले जाते हैं ।

> 'चालुक्य : (रुकता हुआ) हां, हां । महाराज नरसिंह देव की आज्ञा है ।... और मेरी, महादण्ड पाशिक की आज्ञा है । (चलते समय सब पर क्रूर दृष्टि डालते हुए) उत्कल नरेश .. । हूं ।'

रुकना और चलते हुए क्रूर दृष्टि डालने के विरोधी हाव भाव चालुक्य की उद्दण्डता, स्वार्थी प्रकृति और महाराज नरसिंह के प्रति उसका विश्वासघात उसके इस कथन में हम देखते हैं । हाव-भाव को स्वर-शैली के साथ सम्बद्ध रूप में ग्रहण करने पर नाटकीय व्यंग्य के रूप में एक प्रभाव सूत्र सम्प्रेषित हो जाता है ।

'आधे-अधूरे' में स्त्री जब जगमोहन के साथ चले जाने का निर्णय ले लेती है और दफ़्तर से घर लौटकर उसके साथ जाने की तैयारी में अपने श्रृंगार पर ध्यान देती है तो ढाई पृष्ठों का वह पूर्ण प्रभाव सूत्र विशेषरूप से संदीप्त वाक्यों के बीच के विराम में उसके हाव-भाव से निर्देशित है । ये सारे हाव-भाव, जो उसके मनोभाव, आन्तरिक मनोमन्थन, अपने पर से वितृष्णा, महेन्द्रनाथ के साथ जिया गया इतिहास, इस जीवन की ऊब को व्यंजित करते हैं, पूर्ण प्रभाव में निहित अर्थों को विशिष्ट

1. सैमुअल सेल्डन : द एलीमेण्ट्स आफ ड्रामा में उद्धृत, पृ०६६
2.3 स्तानिस्लावस्की : बिल्डिंग द कैरेक्टर, पृ० १२३, ११८

बनाते हैं, किन्तु यहां केवल यह महत्वपूर्ण नहीं है कि वह क्या कर रही है, पर महत्वपूर्ण है कि जो भी कर रही है कैसे कर रही है । पूर्ण प्रभाव सूत्र का एक अंश लें :

"व स्त्री : ....
सोचो... सोचो ।
[ध्यान सिर के बालों में अटक जाता है । अनमनेपन में लोशन वाली रुई सिर पर लगाने लगती है, पर बीच ही में हाथ रोककर उसे अलग रख देती है । उंगलियों से टटोलकर देखती है कि कहां सफेद बाल ज्यादा नज़र आ रहे हैं । कंघी ढूंढ़ती है, पर वह मिलती नहीं । उतावली में सभी खानें-दराजें देख डालती है । आखिर कंघी वहां तौलिये के नीचे से मिल जाती है ।]
: चख-चख .. किट् किट... चख चख.. किट् किट् ।
क्या सोचो ?"

उसके ये सारे हाव-भाव जो शब्दों के विस्तार हैं भावक को क्रियाशील करते हैं, भिन्न अर्थों की खोज निकालने के लिए इसी कारण हमारी रुचि इसपर केन्द्रित नहीं होती है कि वह कंघी करने जा रही है पर केन्द्रित होती है कंघी करने के पूर्व व्यापार पर ।

गति — नाटक के अर्थों का सम्प्रेषण दो या अधिक पात्रों के परस्पर सम्भाषण में निहित व्यंग्य से होता है और ऐसे सम्भाषण की सजीव अभिव्यक्ति तथा संरचनात्मकता दोनों पात्रों की परस्पर स्वर-शैली तथा हाव-भाव के कारण सम्भव होती है । पात्रों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया में हाव-भाव अपेक्षाकृत अधिक परिपक्व हो जाते हैं तथा पूर्ण नाटक के कार्य-व्यापार को प्रभावित करते हैं, अत: इन्हें नाटकीय गति के रूप में जाना जा सकता है । यद्यपि हाव-भाव तथा गति से एक पात्र का दूसरे पात्र के प्रति व्यवहार विभाजित नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह भी स्वर-शैली तथा हाव-भाव की भांति अपने सन्दर्भ और समय विशेष से प्रतिबद्ध है तथा स्वर-शैली और हाव-भाव के ही की भांति इसकी उत्पत्ति भी दृश्य विशेष

में निहित विचार और आवेगों से होती है । उसी प्रकार गति भी नाटककार के अर्थों को संरचनात्मक आयाम देती है पर इसमें एक मूलभूत अन्तर है जो शाब्दिक स्तर पर भी अनुभव होता है । गति शब्द निरन्तर विकास का बोध देता है और कई सन्दर्भों में यह कहा भी जा चुका है कि नाटकीय गतिशीलता अन्तर्निहित प्रभावसूत्रों के संचरण और क्रमबद्ध विकास की अनुभूति है । रंगमंच में तथ्य अपने-आप में कोई अर्थ नहीं रखते, वे नाटकीय तभी हो पाते हैं,जब अपने साथ वे एक इतिहास और एक भविष्य लेकर चलते हैं । वे निरन्तर परिवर्तनशीलता के नियम से आबद्ध रहते हैं तात्पर्य जिस समय हम एक पूर्ण प्रभाव को सम्भाषण के गुणों के मध्य से ग्रहण करते रहे होते हैं, उस क्षण से ही एक नया प्रभाव निर्मित होना प्रारम्भ होता है । यह पूर्ण व्यापार नाटकीय गति के रूप में देखा जाता है । स्पष्टतया गति में शाब्दिक और आंगिक बिम्ब निहित रहते हैं,उनका संचरण और सम्प्रेषण निहित है,जिसकी चर्चा की जा चुकी है ।

उपसंहार

एक जटिल कला के माध्यम के रूप में रंगभाषण का कार्य भी वस्तुत: जटिल हो जाता है । नाटक की तीन स्तरों -- उद्घाटन,सम्प्रेषण,संरचना पर अभिव्यंजना करते हुए रंगभाषण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाताहै । यह सूक्ष्मता नाटककार की रंग चेतना से उपजती है और भावक के कल्पना बिम्बों के निर्माण का कार्य कर प्रत्यावर्तन में उनकी प्रतिक्रिया को रचनात्मक आयामों में रखती है । इस जटिल कार्य के लिए रंगभाषण में काव्य के जैसी व्यंजना शक्ति, बिम्बात्मकता,सघनता, तीव्रता, संगीत और लय की अपेक्षा होती है, क्योंकि अपने सीमित संसार में नाटक को एक व्यापक किन्तु सूक्ष्म संसार की रचना करनी होती है । रंगभाषण में काव्यात्मक भाषा की मांग का तात्पर्य यह नहीं है कि नाटक में कविता की मांग की जारही हो, वस्तुत: यह मांग कविता की बिम्बात्मकता तथा संगीत की लय की है,जिससे अव्यंजक और अकथनीय विचारों,अनुभवों और आवेगों को व्यंजक तथा कथनीय बनाया जा सके । नाटककार मस्तिष्क में जिन बिम्बों से साक्षात्कार करता है उनको न लिख कर केवल संवादों को लिखता है,किन्तु वे संवाद अपने अन्दर उन बिम्बों को स्थापित किये रहते हैं और पाठक के रूप में अभिनेता उनको पुनर्रचित

करने के लिए ग्रहण करता है ।

यद्यपि रंगभाषण नाटक और नाटकीय अर्थों के सम्प्रेषण का प्राथमिक माध्यम है, पर रंगमंच पर उसे अभिनेता, दृश्यबंध(प्रकाश और संगीत भी) तथा वेशभूषा जैसे सहायक माध्यम मिल जाते हैं, जिनके सहारे सम्प्रेषित अर्थ और भी सम्प्रेषणीय हो पाते हैं । किन्तु इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण अभिनेता और उसका अभिनय हो जाता है, क्योंकि पूर्ण नाटक की मंच-प्रस्तुति अभिनेता के माध्यम से होती है । तात्पर्य कि अनुभूति, स्थिति और विचार को अभिव्यक्त करने वाले शब्द अभिनेता की कल्पनामूलक सर्जनात्मक प्रतिभा से रंगमंच पर प्रस्तुत होकर प्रेक्षक वर्ग तक पहुंचते हैं । इस तरह अभिनेता और उसका अभिनय, जो नाटक के अन्तर्निहित नाटक का सम्प्रेषण है, लिखित नाटक और प्रेक्षक के मध्य रहकर बीच की दूरी को समेटता है । इसी कारण नाटक की सफलता, असफलता मंच प्रस्तुति के स्तर पर अभिनेता और अभिनय से जुड़ जाती है[1] ।

अभिनेता और अभिनय के साथ ही एक अन्य महत्वपूर्ण माध्यम दृश्यांकन या दृश्यबंध है । निर्देशक नाटक पढ़ते हुए अन्तर्व्याप्त नाटकीय संवेदना को अनुभव कर मस्तिष्क में एक मर्म बिम्ब का निर्माण करता है और प्रस्तुति के समय वह अपने इसी बिम्ब के इर्द-गिर्द पूर्ण नाटक को बुनता है । आन्तरिक बिम्ब को स्थूल अभिव्यंजना

---

१ मेरा अनुभव रहा है कि श्रेष्ठ अभिनय से एक साधारण नाटक विशिष्ट हो जाता है और एक विशिष्ट नाटक साधारण । इलाहाबाद में एक और दिन शान्ति मेहरोत्रा लिखित नाटक की दो मंच प्रस्तुति देखने का अवसर मिला । एक पैलेस थियेटर में 'इलाहाबाद आर्टिस्ट्स एसोशिएसन' के तत्वावधान में दिसम्बर १९६८ को, दूसरी 'इलाहाबाद नाट्य संघ' द्वारा आयोजित तृतीय अखिल भारतीय लघु नाटक प्रतियोगिता एवं नाट्य परिचर्चा' के अन्तर्गत 'गुंजन' द्वारा १२ जनवरी १९७० को । पहली प्रस्तुति में अभिनेताओं में उनके अभिनय के द्वारा अन्तर्निहित नाटक को बखूबी सूक्ष्मता से उभारा गया था, जब कि दूसरी प्रस्तुति में अभिनय की शिथिलता, पात्रों के उच्चारण, उनके हाव-भाव आदि की अपरिपक्वता के कारण नाटक कुछ उपलब्ध नहीं करा पाया । इसी तरह अभी इसी नाट्य संघ द्वारा आयोजित चतुर्थ नाट्य समारोह सम्पन्न हुआ है, जिसमें 'साउंड एण्ड ड्रामा डिवीज़न दिल्ली' ने गोविन्दवल्लभ पन्त का 'आराम हराम है' नाटक प्रस्तुत किया था। अभिनेताओं का अभिनय इतना सजीव था कि नाटक के गठन की शिथिलता को ढाई घण्टे तक वह छिपाये रख सका । इसका तात्पर्य इतना ही है कि मंच प्रस्तुति नाटक को कितना रचनात्मक बना सकती है, यह बहुत अंशों में अभिनय या अभिनेता पर निर्भर है ।

दृश्यांकन में मिलता है । पर्दा उठने पर प्रेक्षक के मन में कलात्मक दृश्यांकन एक चुभन पैदा करता है तथा प्राथमिक स्तर पर नाटक की संवेदना को सूक्ष्मता और कलात्मकता से सम्प्रेषित कर जाता है । इब्राहीम अल्काज़ी के शब्दों में दृश्यांकन का वास्तविक "... दायित्व यह है कि वह रंगमंच पर उपस्थित चरित्रों के पीछे की मूलभूत काव्यात्मकता को पहचाने और इन चरित्रों को उपस्थिति को वह गरिमा और जादू प्रदान करे जो केवल काव्य द्वारा ही सम्भव है।"[1] किन्तु जैसा कि सत्यदेव दुबे ने भी कहा कि "अच्छे दृश्यबंध का उद्देश्य दर्शकों को चौंकाना नहीं है"[2], नाटकीय सन्दर्भ में सार्थक दृश्यबंध कला का दर्शनीय नमूना नहीं होता । उसे ऐसा नहीं होना चाहिए कि पूर्ण नाटक को देखते हुए प्रेक्षक केवल कलात्मक मंच सज्जा को ही देखते हैं ।वह नाटकीय संवेदना को सम्प्रेषित करने का एक सहायक माध्यम है। अपने उसी लेख में अल्काज़ी आगे जब यह कहते हैं कि "दृश्यबंध तो मानों अभिनेताओं के चेहरों में उत्कीर्ण होना चाहिए"[3] तो वस्तुत: वे उसकी सूक्ष्मता की ओर संकेत करते हैं

दृश्यबंध में प्रकाश तथा संगीत का प्रयोग रिक्त स्थलों की पूर्ति करते हैं । वे भावों आवेगों को सघन बनाते हैं तथा प्रकाश और संगीत के माध्यम से ऐसे प्रभाव निर्मित किये जा सकते हैं जो अन्य उपकरणों से सम्भव नहीं होते हैं । अनुभूति, विचार और आवेगों को इनके कुशल प्रयोग से सूक्ष्म बनाया जा सकता है । इनके साथ ही वेशभूषा रंगमंच पर अनेक अर्थों को गहन बना सकती है । अपने रंग से वह भावों तथा रुचि को व्यक्त कर सकती है, उसकी बुनावट आर्थिक परिस्थिति तथा उसकी सिलाई या नमूना राष्ट्रीयता या व्यवसाय को अभिव्यक्त कर सकती है । तात्पर्य कि वेशभूषा पात्रों को अभिव्यक्त करती है, उसका रंगविधान आवेगों को गहराई देता है तथा नाटकीय तनाव को भी प्रभावित करता है ।नाटक देखने जाना भी एक कला है और नाटक देखने वही जाता है जि

१,३ संपा० नेमिचन्द्र जैन : "नटरंग" वर्ष १, अंक २ में वेखिए इब्राहीम अल्काज़ी का लेख-- "रंगमंच के लिए दृश्यांकन", पृ०७-६ ।

२ इसी "नटरंग" में सत्यदेव दुबे का लेख "आषाढ़ का एक दिन का दृश्यांकन", पृ०८६-१

फ़िल्मी दुनिया के भ्रमित अयथार्थ जीवन को अंगीकार नहीं कर पाता । वह यथार्थ की कलात्मक प्रस्तुति से आकर्षित होता है और निरे मनोरंजन और हल्के महसूस करने के लिए किसी कला, विशेष रूप से नाटक की शरण नहीं जाता है । रंगमंच प्रेक्षक को संरचनात्मक कार्य में सक्रिय करता है, रंगमंचीय कार्य व्यापार को विश्लेषित करने तथा कलाकार(अभिनेता) की कुशलता से निर्मित होते प्रभावों को ग्रहण करने को विवश करता है । प्रेक्षक नाटक में सक्रिय भाग लेते हुए भी किन्हीं अर्थों में उससे तटस्थ रहता है । उसके माध्यम से ही अभिनीत नाटक के मूल्य विश्लेषित होते हैं । इसी कारण एक नाटक जितना रंगमंच पर होता है, उससे अधिक प्रेक्षक के मस्तिष्क में होता है, जिसे वह उत्सुकता से निर्मित होते देखता है, रुचिपूर्वक उसका अनुसरण करता है और सम्प्रेषित प्रभावसूत्रों के आधार पर रचनात्मक बिम्बों को प्रत्यावर्तन में सम्प्रेषित करता है । परिणामत: रंगमंच एक नये नाटक को जन्म देता है, और हम क्रमश: उसको जीते हैं ।

सहायक ग्रन्थ तालिका

सहायक ग्रन्थ तालिका
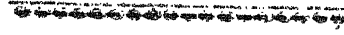
पुस्तक का नाम	लेखक	काल	प्रकाशन-स्थान
आलोचना नाट्य विशेषांक	सं० नन्ददुलारे बाजपेयी	जुलाई १९५६, अंक १९ वर्ष ५, अंक ३	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
आधुनिक हिन्दी नाटक	नगेन्द्र	संवत् १९९९	साहित्य रत्न भंडार, आगरा
आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे बाजपेयी	प्रथम संस्करण	भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद ।
एकांकी कला	रामकुमार वर्मा तथा त्रिलोकीनारायण दीक्षित ।	१९५२ ई०	रामनारायणलाल, इलाहाबाद
काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध ।	जयशंकर प्रसाद	प्रथम संस्करण	भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद ।
कांग्रेस का इतिहास	पट्टाभि सीतारमैय्या	१९३८ ई०	सस्ता साहित्य मण्डल
गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ	सं० डा० राधाकृष्णन	१९४० ई०	,, ,, नई दिल्ली
गीता			
चिन्तामणि, भाग १	रामचन्द्र शुक्ल	१९६३ ई०	इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशन) इलाहाबाद
दशरूपकम्	धनन्जय व्याख्याकार-डा० भोला शंकर व्यास	१९६७ ई०	चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी ।
नाट्यकला मीमांसा	सेठ गोविन्ददास	प्रथम संस्करण	महाकोशल साहित्य मंदिर
नाटक	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१८८३ ई०	मल्लिक चन्द्र एण्ड कं० बनारस ।
नाट्यशास्त्र	भरतमुनि	१९५९ ई०	निर्णय सागर प्रेस, लखनऊ

नाटक साहित्य का अध्ययन — ब्रेडर मैथ्यूज, अनु० इन्दुजा अवस्थी — १९६४ ई० — आत्माराम एण्ड संस दिल्ल

नाटक की परख — एस० पी० खत्री — १९५८ ई० — साहित्य भवन लि० प्रयाग

नाट्यकला — डा० रघुवंश — १९६१ ई० — नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

नया साहित्य:नये प्रश्न — नन्ददुलारे बाजपेयी — १९५५ ई० — विद्यामंदिर, बनारस

नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक — हजारीप्रसाद द्विवेदी और पृथ्वीनाथ द्विवेदी — १९६३ ई० — राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

नाटककार उदयशंकर भट्ट — मनोरमा शर्मा — १९६३ ई० — आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली

प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन । — जगन्नाथप्रसाद शर्मा — ५वां सं० — सरस्वती मन्दिर, काशी

भारतीय नाट्य साहित्य — सं० डा० नगेन्द्र — १९५६ — गोविन्ददास हीरक जयंती, नई दिल्ली

भाषा विज्ञान — डा० भोलानाथ तिवारी — ७वां सं० — किताब महल, इलाहाबाद

रस सिद्धान्त — डा० नगेन्द्र — १९६४ ई० — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

रस मीमांसा — रामचन्द्र शुक्ल — सं० २०१७ — नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

रंगमंच और नाटक की भूमिका । — डा० लक्ष्मीनारायण लाल — १९६५ ई० — नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

लक्ष्मीनारायण मिश्र के सामाजिक नाटक । — भारतभूषण चड्ढा — १९६४ ई० — नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

सन्तुलन — प्रभाकर माचवे — १९५४ ई० — आत्माराम एंड सन्स

संस्कृत नाटक — अनु० उदयभानु सिंह, ए० बेरीडेल कीथ — १९६५ ई० — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली

समय और हम — जैनेन्द्र — १९६२ ई० — पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली

संस्कृति के चार अध्याय — रामधारी सिंह दिनकर — १९६६ ई० — उदयाचल, पटना

हिन्दी साहित्य कोश — सं० धीरेन्द्र वर्मा — द्वितीय सं० — ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी

साहित्य साधना और संघर्ष । — डा० रणवीर रांग्रा — १९६५ ई० — भारतीय साहित्य मंदिर

हिन्दी नाटक — डा० बच्चन सिंह — १९५८ ई० — साहित्य भवन, इलाहाबाद

हिन्दी नाटक उद्भव और विकास।	डा०दशरथ औझा	१६६१ई०	राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली
हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास।	सोमनाथ गुप्त	१६५१ई०	हिन्दी भवन
हिन्दी नाट्य दर्पण	सं०डा० नगेन्द्र	१६६१ई०	हिन्दी विभाग,दिल्ली विश्वविद्यालय ,दिल्ली।
हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव।	डा०विश्वनाथ मिश्र	१६६६ई०	लोकभारती,इलाहाबाद
हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य प्रभाव।	श्रीपति शर्मा	१६६१ई०	विनोद पुस्तक मंदिर,आगरा
हिन्दी नाट्य सिद्धांत और समीक्षा।	रामगोपाल सिंह चौहान	१६५६ई०	प्रभात प्रकाशन,दिल्ली
हिन्दी साहित्य का इतिहास।	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	१०वां सं०	काशी नागरी प्रचारिणी,सभा, काशी।
हिन्दी साहित्य की भूमिका।	हजारीप्रसाद द्विवेदी	१६५०ई०	हिन्दी ग्रन्थ
हिन्दी साहित्य:एक आधुनिक परिदृश्य।	सच्चिदानन्द वात्सायन		राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली
रंग दर्शन	नेमिचन्द्र जैन	प्रथम सं०	अक्षर प्रकाशन,दिल्ली

पत्रिकाएं

'कल्पना'
'दिनमान'
'धर्मयुग'
'नटरंग'
'ज्ञानोदय'

कोश

अंग्रेजी हिन्दी कोश	डा०कामिल बुल्के	१६६८ई०	काथलिक प्रेस,रांची

हिन्दी नाटक

लेखक	नाटक	वर्ष	प्रकाशक
उदयशंकर भट्ट	'कमला'	१९३९ई०	पुरी बुदर्स,लाहौर
,,	'क्रान्तिकारी'	१९५३ई०	राजकमल प्रकाशन
,,	'दाहर अथवा सिंध पतन'	१९६२ई०	आत्माराम एण्ड संस
,,	'नया समाज'	१९६३ई०	,,
,,	'विद्रोहिणी अम्बा'	१९६४ई०	,,
,,	'शक विजय'	१९५५ई०	मसि जीवी प्रकाशन,
उपेन्द्रनाथ अश्क	'अलग अलग रास्ते'	१९५४ई०	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
,,	'अंधी गली'	१९५६ई०	,,
,,	'आदि मार्ग'	१९६१ई०	साहित्यकार संसद,प्रयाग
,,	'कैद और उड़ान'	१९५५ई०	,,
,,	'छठा बेटा'	१९६१ई०	लहर प्रकाशन, इलाहाबाद
,,	'स्वर्ग की झलक'	१९३९ई०	मोतीलाल बनारसीदास,लाहौर
किशोर श्रीवास्तव	'नींव की दरारें'	१९६४ई०	राजपाल एण्ड संस,दिल्ली
कृष्णानन्द जोशी	'उन्नति कहाँ से होगी'	१९१५ई०	हरिदास कम्पनी,कलकत्ता
गोविन्ददाससेठ	'गरीबी या अमीरी'	१९४७ई०	हिन्दुस्तानी एकेडमी,इलाहाबाद
,,	'तीन नाटक' (हर्ष,प्रकाश,कर्तव्य)	१९३६ई०	एम०पी० विश्वकर्मा,जबलपुर
,,	'बड़ा पापी कौन'		
,,	'महत्त्व किसे'	१९४७ई०	साहित्य भवन लिमिटेड
,,	'सन्तोष कहाँ'	१९४३ई०	कल्याण साहित्य मंदिर,इलाहाबाद
,,	'सुख किसमें'	१९४९ई०	प्रगति प्रकाशन,दिल्ली
,,	'हिंसा या अहिंसा'	१९४२ई०	रामदयाल अग्रवाल,इलाहाबाद
घनानन्द बहुगुणा	'समाज'	१९३०ई०	ग०पु०मा०,लखनऊ
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	'न्याय की रात'	१९६८ई०	राजपाल एण्ड संस,दिल्ली
	'रेवा'	१९५७ई०	,,

चिरंजीत	'अभिमन्यु चक्रव्यूह में'	१९६४ई०	सुमेर ब्रदर्स, दिल्ली
जगदीशचन्द्र माथुर	'कोणार्क'	२०२५वि०	भारती भंडार, इलाहाबाद
	'पहला राजा'	१९६९ई०	राधाकृष्ण प्रकाशन
जगन्नाथप्रसाद मिलिंद	'प्रताप प्रतिज्ञा'	१९५९ई०	हिन्दी भवन, इलाहाबाद
जयशंकर प्रसाद	'अजात शत्रु'	१९२२ ई०	हिन्दी ग्रन्थ भण्डार, बनारस
,,	'कामना'	१९२७ई०	हिन्दी पुस्तक भण्डार
,,	'चन्द्रगुप्त'	१९६२ई०	भारती भण्डार, इलाहाबाद
,,	'जनमेजय का नाग यज्ञ'	१९२६ई०	साहित्य रत्न माला कार्यालय, बनारस
,,	'ध्रुवस्वामिनी'		भारती भंडार, इलाहाबाद
,,	'राज्यश्री'	१९५०ई०	,, ,,
,,	'विशाख'	१९५९ई०	,, ,,
,,	'स्कन्दगुप्त'	१९५५ई०	,, ,,
ज्ञानदेव अग्निहोत्री	'नेफा की एक शाम'	१९६४ई०	राष्ट्रभाषा प्रकाशन, दिल्ली
,,	'वतन की आबरू'	१९६५ई०	
,,	'शुतुरमुर्ग'	१९६८ई०	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
धर्मवीर भारती	'अंधा युग'	१९५४ई०	किताब महल, इलाहाबाद
नरेश मेहता	'खंडित यात्राएं'	१९६२ई०	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई
,,	'सुबह के घण्टे'	१९५६ई०	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
पृथ्वीनाथ शर्मा	'द्विविधा'	१९५३ई०	हिन्दी भवन
	'साध'	१९४४ई०	हिन्दी भवन
प्रेमचन्द	'संग्राम'	वि० १९७९	हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता
	'प्रेम की वेदी'	१९३३ई०	हन्स प्रकाशन, इलाहाबाद
प्रतापनारायण मिश्र	'कलि कौतुक'	१९१३ई०	खड्गविलास, प्रेस, पटना
बालकृष्ण भट्ट	'भट्ट नाटकावली'		
बेचन शर्मा 'उग्र'	'महात्मा ईसा'	१९३८ई०	भारती भंडार, इलाहाबाद
भगवतीचरण वर्मा	'रुपया तुम्हें खा गया'	१९५५ई०	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
भुवनेश्वर	'कारवां'	१९३५ई०	लीडर प्रेस, इलाहाबाद
मन्नू भंडारी	'बिना दीवारों के घर'	'नटरंग'२ अंक, १९६५ई०	अब अक्षर प्रकाशन द्वारा प्रकाशित

मिश्रबन्धु	'नेत्रोन्मीलन'	वि० १९७१	साहित्य संवर्धिनी समिति, [illegible]
मोहन राकेश	'आषाढ़ का एक दिन'	१९५८ई०	राजपाल एण्ड संस
	'लहरों के राजहंस'	१९६३ई०	राजकमल प्रकाशन
	'आधे-अधूरे'	१९६९ई०	राधाकृष्ण प्रकाशन
राधाचरण गोस्वामी	'अमरसिंह राठौर'	१८९५ई०	मथुरा भूषण प्रेस, मथुरा
	'तन-मन-धन गोसाईं जी को अर्पण'	१८९०ई०	
राधाकृष्णदास	'महाराणा प्रताप सिंह'	१९३९ई०	नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
	'दु:खिनी बाला'	वि० १९५५	हरिप्रकाश प्रेस, वाराणसी
रामकुमार वर्मा	'शिवाजी' (भूमिका)	१९४५ई०	साहित्य भवन, इलाहाबाद
रेवतीशरण शर्मा	'अपनी धरती'	१९६३ई०	नेशनल पब्लिशिंग हाउस
	'चिराग की लौ'	१९६६ई०	,,
लक्ष्मीनारायण मिश्र	'आधीरात'	१९६२ई०	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
,,	'गरुड़ध्वज'		,,
,,	'नारद की वीणा'	१९६०ई०	किताब महल
,,	'मुक्ति का रहस्य'	१९६७ई०	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस
,,	'राक्षस का मंदिर'	१९५०ई०	,, ,,
,,	'राजयोग'	वि० २०१३	भारती भंडार, इलाहाबाद
,,	'सन्यासी'	१९६१ई०	हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस
,,	'सिन्दूर की होली'	वि० २०२३	भारती भंडार, इलाहाबाद
लक्ष्मीनारायणलाल	'अंधा कुआं'	वि० २०१२	,, ,,
	'दर्पन'	१९६४ई०	राजपाल एण्ड संस
	'पर्वत के पीछे' (भूमिका)	१९५२ई०	सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद
	'मादा कैक्टस'	१९५९ई०	राजकमल प्रकाशन
,,	'रक्त कमल'	१९६२ई०	,, दिल्ली
	'रात रानी'	१९६६ई०	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

विनोद रस्तोगी	'आजादी के बाद'	१९५३ई०	कमला प्रकाशन,कानपुर
	'नये हाथ'	१९६७ई०	आत्माराम एण्ड संस,दिल्ली
विष्णु प्रभाकर	'डाक्टर'	१९५८ई०	राजपाल एण्ड संस,दिल्ली
वृन्दावनलाल वर्मा	'खिलौने की खोज'	१९५०ई०	मयूर प्रकाशन,झांसी
	'धीरे-धीरे'	१९५१ई०	गंगा ग्रंथागार,लखनऊ
विपिन अग्रवाल	'तीन अपाहिज'	१९६९ई०	यशपाल प्रकाशन,इलाहाबाद
सुदर्शन	'आनरेरी मजिस्ट्रेट'	१९२९ई०	इंडियन प्रेस,इलाहाबाद
सत्यव्रत (सं०)	'नवरंग'	१९७०ई०	अभिव्यक्ति प्रकाशन,इलाहाबाद
सिद्धनाथ कुमार	'सृष्टि की सांझ और अन्यनाटक'	१९५४ई०	पुस्तक मन्दिर,आरा
हरिकृष्ण प्रेमी	'आहुति'	१९५[illegible]ई०	हिन्दी भवन,इलाहाबाद
,,	'छाया'	१९५८ई०	आत्माराम एण्ड संस
,,	'रक्षा बन्धन'	१९५४ई०	हिन्दी भवन,इलाहाबाद
,,	'शिवासाधना'	१९५२ई०	,, ,,
,,	'स्वप्नभंग'	१९४९ई०	आत्माराम एण्ड संस
हरिश्चन्द्र भारतेन्दु	'भारतेन्दु ग्रन्थावली' (सं०ब्रजरत्नदास)	भाग१- १९५०ई०	नागरी प्रचारिणी सभा
शिव प्रसाद सिंह	'घाटियां गूंजती हैं'	१९६५ई०	भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन

अथर्व वेद - संस्कृति संस्थान

ऋग्वेद - ,,

अंग्रेजी आलोचना

	Book	Author	Year	Publisher.
1.	An Introduction to Psychology.	Garden Murphy	1951	Harper Brothers. N.Y.
2.	An Introduction to Playwriting	Samuel Seldon	1946	Crafts & Company.
3.	Art as Experience	John Dewey.	1934	G.P.Putnams Sons.
4.	Aristotle's Poetics	ed. Rev. T.A. Moxon.	1940	Everyman's Library 901
5.	✓ Aspects of Modern Drama.	F.W. Chandler	1914	The Macmillan Co.
6.	Basic Teachings of the Great philosopers.	S.E. Frost gr.	1962.	Dolphin Books.N.Y.
7.	Being & Nothingness.	Jean-Paul Satre. tr.by Hozel E. Barness.	1956.	Philosophical library Inc.N.Y.
8.	Biology & its Relation to Mankind.(an East West edition)	A.M. Winchester.	IIIrd edition	D. Van Nostrand Comp. Inc.
9.	British Paramountcy & Indian Renaissance Vol. 10.Part II	G.Editor. R.C.Mazumdar	1965	Bhartiya Vidya Bhawan Bombay.

10.	Building A Character.	Stainlavsky. Tr. E. R. Hapgood.	1965.	Max Reinhardt. London.
11.	Creative Intuition in Art & Poetry.	J. Maritain	Ist Vol.	The world Publishing Company. N. Y.
12.	Designing and Making stage costumes.	Montley.	1964.	Printed in grea Britain.
13.	Dramatic Experience.	Judah Bierman James Hart Stanley Johnson.	1958.	Prentice, Hall Inc. N. J.
14.	Dramatic Technique.	Barker.	1947	Hongnton Mifflin Boston.
15.	European theories of Drama.	B. H. Clark.	1947	Crown Publishers N. Y.
16.	Form and Idea in Modern Drama.	Gohn Gassnes.	1956.	The Dryden Press N. Y.
17.	Gandhiji	Edited by D. G. Tendulkar	1944.	Keshav Bhikhaji Bombay.
18.	Guide to Modern Thought	C. E. M goad.	1933.	Faber & Faber.
19.	History of Rama-Krishan Math and Mission	Swami Gambhi-rananda	1957.	Calcutta.

20.	Human Nature and conduct.	gohn Dewey.	X	George Allen & unwin Ltd.London.
21.	Indian Philogophy.	Dr. RadhaKrishnan.	1958	"
22.	Making of the Modern Mind.	John Herman Randal.	1940.	Honghton Mifflin Boston.
23.	Men and Moral.	Wood Bridge Reilgh.	1960	Frederick Ungar Pub. Co., N.Y.
24.	On the Art of the Theatre.	E.G.Craig.	X	Heinemann London.
25.	Oxford Lectures On Poetry.	A.C. Bradley.		
26.	Play Making.	William Archer.	1960.	Dover Publication Inc. N.Y.
27.	Plays Pleasant play unpleasant.	B.Shaw.	1937.	Constable and Company L td.London.
28.	Poetics.	tr.by.Butcher.	4th edition	Macmillan & Co.Ltd.
29.	Poetry & Drama.	T.S.Eliot.	1951.	Faber and Faber Ltd. London.
30.	Preface to Drama	Charles W.Cooper.	1955.	Ronald Press Com. N.Y.
31.	Problem of Art.	S.K. Lange.	1957.	Charles Scribner's Sons.

32.	Process of creative writing	P.Hognefe	3rd edition	Meridian Books
33.	Producing the Play	John gassner	1949	The Dryden Press Pub. N.Y.
34.	Selected Essays	T.S.Eliot	1934	Faber & Faber Ltd., London
35.	Shakesperian Tragedy	A.C.Bradley	1958	Macmillan & Comp. Ltd.
36.	Shakespeare the Dramatist & other Papers	U.E.Fermor	1961	Kenneth Huir
37.	The Anatomy of Drama	Thompson	1946	University of California Press.
38.	The Ancient Classical Drama	R.G.Motton		
39.	The Art of Drama	Ronald Peacock	1957	Routledge & Kegan Paul, London.
40.	The Art of the Play	H.Guld	1938	Sir Isaac Pitman & Sons Ltd., London.
41.	The Art of the Play Production	John Dolman Jr.	Revised ed.	Harper & Broths. Pub. N.Y.
42.	The Drama and the Dramatic Dances of theNon-European Races	Ridgeway	1915	Cambridge University Press.
43.	The Dramatic Experience	J.L.Styan	1965	Cambridge University Press.

44. The Dramatic Moment	Eugene M.Waith		Prentice Hall, Inc. N.J.
45. The Classical Drama of India	H.W.Wells	1963	Asia Publishing House.
46. The Elements of Drama	J.L.Styan	1963	Cambridge University Press.
47. The Frontiers of Drama	U.E.Fermor	1948	Methuch & Co.Ltd., London.
48. The Making of Indian Nation	B.G.Gokhley	1960	Asia Publication.
49. The Modern Theatre	Eric Beutley	1948	Hale
50. The Play Produced	John Fernald		Deane
51. The Renaissance in India	Arbindo Ghosh	1946	Calcutta
52. The Stage in Action	Samuel Seldon	1962	Peter Owen Ltd., London.
53. The Story of Philosophy.	Will Duedrant	1967	A Washington Square Press, N.Y.
54. The Struggle for Empire	Ed. R.C.Majumdar	1966	Bhartiya Vidya Bhawan.
55. The Transformation of Man	Luis Mumford	1957	George Allen & Unwind Ltd., London.
56. The Theatre	Stark Yung	1927	E.P.Dulton, N.Y.
57. The Theatre of the Absurds.	Martin Esslin	1963	Pelican Books.
58. The Theatre: An Introduction.	G.Brocket	1964	Holt Kinebart & Winston Inc.U.S.A,
59. Theory of Poetry & Fine Arts.	ed.Butcher	1951	Dover Publications N.Y.

60. Theory of Drama	A.Nicoll	1931	George G.Harrap & Co., Ltd., London.
61. They Studied Men	Kardiner & Edward Preble	1962	Seeker & Warburg London.
62. Understanding Drama	Cleanth Brooks & Robert B.Heilman	1sted.	Holt Kinehart & Winston, N.Y.
63. What is Theatre	Eric Bentley	1956	Beacon Press Boston.
64. World Drama	A.Nicoll	1949	George Harrap & Co., Ltd.

ENCYCLOPEDIAS

1. Dance Encyclopedia — Chnjoy Anatole
2. Encyclopedia of Britanica. VOL. 7
3. International Encyclopedia of Social Science — Ed. by David L. Sills. Vol. 3

अंग्रेजी नाटक

1. Beckett	Endgame	1958	Grove Press, N.Y.
	Krapp's Last Tape	1960	" " "
	Waiting for Godot	1959	Faber & Faber
2. Eugene Ionesco Tr, by Donald Watson	The Chairs The Lesson The Bald Prima Donn	1963	John Calder, London.

3. Euripides (tr. Phillip Vellacott)	Three Plays	1964	Penguin Books, Ltd.
4. Henrik Ibsen (by Walter J. Black)	The Works of	1928	Blue Ribbon Books, Inc., N.Y.
5. John Gassner	A Treasury of the Theatre (From H. Ibsen to A.Miller)	1957	Simon & Schusten N.Y.
6. Shakespeare (ed. by Thomas Keightely)	The Works of		The Mayflower Press Plymouth.
7. Sophocles (tr. E.F.Watling)	The The ban Plays	1967	Penguin Books.
8. Sartre (tr. Stuart Gilbert)	The Flies & in Camera	1962	Hamish Hamilton, London.